किसान सभा के संस्मरण

लेखक

स्वामी सहजानन्द सरस्वती

मूल्य

तीन रुपये बारह आने

विषय-प्रवेश

आगे के पृष्ठों में किसान-सभा के संस्मरणों का जो संकलन मिलेगा वह तैयार किया था हजारीबाग जेल की चहार दीवारी के भीतर। १९४० की लम्बी जेल-यात्रा के पहले ही मित्रों एवं साथियों ने बारबार अनुरोध किया था कि इन संस्मरणों को अवश्य लिपि-बद्ध करूँ। किसान-सभा से मेरा सम्बन्ध गत बीस वर्षों की भारी मुद्दत में अविच्छिन्न रहने के कारण मैं इसके बारे में आधिकारिक रूप से लिखने वाला माना गया। इस सम्बन्ध में तरह-तरह के अनुभव सबसे ज्यादा मुझी को हुए हैं, यह भी बात है। यह अनुभव मजेदार भी रहे हैं और आगे की पंक्तियों से यह स्पष्ट है। फलतः इनके कलम बन्द करने में मजा भी मुझे काफी मिला है। जेल से बाहर समय न मिलने के कारण मित्रों की इच्छा वहीं पूरी करनी पड़ी।

जमींदारों के अखबारों ने कभी-कभी मुझे अक्ल देने की भी कोशिश की है और लंबे उपदेश दिये हैं कि राजनीति संन्यासी का काम नहीं है। इसमें पड़ने से वह दुहरा पाप करता है। किसान-सभा के सिलसिले में होने वाले मेरे रोज-रोज के तूफानी दौरों पर व्यंग करके उनने उन्हें 'मनोविनोद के सैर' (Pleasure Trips) नाम दिये हैं और आश्चर्य से पूछा है कि इन सैर-सपाटों का लम्बा खर्च मुझे कौन देता है? उन्हें पता ही नहीं कि जिन्हें इन सैर-सपाटों की गर्ज है, जो इनके लिये बेचैन हैं, वही यह खर्च देते हैं—वही जो इन समाचार पत्रों के मालिकों के महल सजाते हैं। आगे की पंक्तियाँ यह भी बतायेंगी कि ये सैर-सपाटे हैं या कड़ी कसौटी।

ये संस्मरण लिखे तो गये जेल के भीतर ही १६४१ में; मगर इनके प्रकाशन में परिस्थिति-वश काफी देर हो गई है। फिर भी इनका महत्त्व ज्यों का त्यों बना है। सोचा गया कि जिस किसान-सभा से सम्बन्ध रखनेवाले ये संस्मरण हैं, उसका इतिहास यदि इन्हीं के साथ न रहे तो एक प्रकार से ये अधूरे रह जायँगे। पाठकों को इनके पढ़ने से पूरा संतोष भी न होगा और न वह मजा ही मिलेगा। इसीलिये भूमिका स्वरूप किसान-सभा का संक्षिप्त इतिहास और उसका कुछ विस्तृत विवेचन भी इन संस्मरणों के साथ जोड़ दिया गया है और इस प्रकार एक पूरी चीज तैयार हो गई।

"कहीं-कहीं किनारे पर जो अंक लिखे गये हैं वह इस बात के सूचक हैं कि किस दिन कितना भाग जेल के भीतर लिखा गया था।"

बिहटा, पटना
१०.२.४७

—स्वामी सहजानन्द सरस्वती

भारत में किसान-आन्दोलन

[अ]

संक्षिप्त इतिहास

बहुत लोगों का खयाल है कि हमारे देश में किसानों का आन्दोलन बिल्कुल नया और कुछ खुराफाती दिमागों की उपज मात्र है। वे मानते हैं कि यह मुट्ठी भर पढ़े-लिखे बदमाशों का पेशा और उनकी लीडरी का साधन मात्र है। उनके जानते भोलेभाले किसानों को बरगला-बहकाकर थोड़े से सफेदपोश और फटेहाल बाबू अपना उल्लू सीधा करने पर तुले बैठे हैं। इसीलिये यह किसान-सभाओं एवं किसान-आन्दोलन का तूफाने बदतमीजी बरपा है, यह उनकी हरकतें बेजा जारी हैं। यह भी नहीं कि केवल स्वार्थी और नादान जमींदार-मालगुजार या उनके पृष्ठ-पोषक ऐसी बातें करते हों। कांग्रेस के कुछ चोटी के नेता और देश के रहनुमा भी ऐसा ही मानते हैं। उन्हें किसान-सभा की जरूरत ही महसूस नहीं होती। वे किसान-आन्दोलन को राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के संग्राम में रोड़ा समझते हैं। फलतः इनका विरोध भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से करते हैं।

परन्तु ऐसी धारणा भ्रान्त तथा निर्मूल है। भारतीय किसानों का आन्दोलन प्राचीन है, बहुत पुराना है। दरअसल इस आन्दोलन के बारे में लिपि-बद्ध वर्णन का अभाव एक बड़ी त्रुटि है। यदि सौ-सवासौ साल से पहले की बात देखें तो हमारे यहाँ मुश्किल से इस आन्दोलन की बात कहीं लिखी-लिखाई मिलेगी। इसकी वजहें अनेक हैं, जिन पर विचार करने का मौका यहाँ नहीं है। जब यूरोपीय देशों में किसान-आन्दोलन पुराना है, तो कोई वजह नहीं है कि यहाँ भी वैसा ही न हो। किसानों की दशा सर्वत्र एक सी ही रही है आज से पचास सौ साल पहले। जमींदारों और

सूदखोरों ने उन्हें सर्वत्र बुरी तरह सताया है और सरकार भी इन उत्पीड़कों का ही साथ देती रही है। फलतः किसानों के विद्रोह सर्वत्र होते रहे हैं। उन्नीसवीं सदी के मध्य में—१८५० में—शोषितों के मसीहा फ्रेड्रिक एंगेल्स ने "जर्मनी में किसानों का जंग" (दी पीज़ेन्ट वार इन जर्मनी) पुस्तक लिखकर उसमें न सिर्फ जर्मनी में होने वाले पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं सदियों के सन्धि-काल के किसान-विद्रोहों का वर्णन किया है, वरन् आस्ट्रिया, हंगरी, इटली तथा अन्याय देशों के भी ऐसे विद्रोहों का उल्लेख किया है। उससे पूर्व जर्मन विद्वान् विल्हेल्म जिमरमान की भी एक पुस्तक "महान किसान-विद्रोह का इतिहास" (दी हिस्ट्री ऑफ दी ग्रेट पीज़ेंट वार) इसी बात का वर्णन करती है। यह १८४१ में लिखी गयी थी। फ्रांस में १२-१३ वीं सदियों में फ्रांस के दक्षिण भाग में किसानों की बगावतें प्रसिद्ध हैं। इंगलैंड की १३८१ वाली किसानों की बगावत भी प्रसिद्ध है, जिसका नेता जौन बोल था। इसी प्रकार हंगरी में भी १६ वीं शताब्दी में किसानों ने विद्रोह किया।

इस तरह के सभी संघर्ष एवं विस्फोट सामन्तों एवं जमींदारों के जुल्म, असह्य कर-भार तथा गुलामी के विरुद्ध होते रहे, और ये चीजें भारत में भी थीं। यह देश तो दूसरे मुल्कों की अपेक्षा पिछड़ा था ही। तब यहाँ भी ये उत्पीड़न क्यों न होते और उनके विरुद्ध किसान-संघर्ष क्यों न छिड़ते ? यहाँ तो साधारणतः ब्रिटिश भारत में और विशेषतः रजवाड़ों में आज भी ये यंत्रणायें किसान भोग ही रहे हैं।

तो क्या भारतीय किसान यों ही आँख मूँद कर सारे कष्टों को गधे-बैलों की तरह चुपचाप बर्दाश्त कर लेते रहे हैं और उनके विरोध में उनने सर नहीं उठाया है ? यह बात समझ के बाहर है। माना कि आज के जमींदार डेढ़ सौ साल से पहले न थे। मगर सरकार तो थी। सूदखोर बनिये महाजन तो थे। जागीरदार तथा सामन्त तो थे। फिर तो कर-भार, गुलामी और भीषण सूदखोरी थी ही। इन्हें कौन रोकता तथा इनके विरुद्ध किसान-समाज चुप कैसे रह सकता था ? भारतीय किसान संसार के अन्य किसानों

के अपवाद नहीं हो सकते। फिर भी यदि उनके आन्दोलनों एवं विद्रोहों का कोई विधिवत् लिखित इतिहास नहीं मिलता, तो इसके मानी हर्गिज़ नहीं कि यह चीज हुई ही नहीं—हुई और जरूर हुई—हजारों वर्ष पहले से लगातार होती रही। नहीं तो एकाएक सौ डेढ़ सौ वर्ष पहिले, जिसके लेख मिलते हैं, क्यों हुई ? और अगर इधर आकर वे संघर्ष करने लगे तो मानना ही होगा कि पहले भी जरूर करते थे।

यह भी बात है कि यदि लिखा-पढ़ी तथा सभा-सोसाइटियों के रूप में, प्रदर्शन और जुलूस के रूप में यह आन्दोलन न भी हो सकता था, तो भी अमली तौर पर तो होता ही था, हो सकता ही था और यही था असली आन्दोलन। क्योंकि "कह सुनाऊँ" की अपेक्षा "कर दिखाऊँ" हमेशा ही ठोस और कारगर माना जाता है और इधर १८३६ से १६४६ तक के दर्म्यान, प्रारम्भ के प्रायः सौ साल में, जबानी या लिखित आन्दोलन शायद ही हुए, किन्तु अमली तथा व्यावहारिक ही हुए। इसका संक्षिप्त विवरण आगे मिलेगा। इससे भी मानना ही होगा कि पहले भी इस तरह के अमली आन्दोलन और व्यावहारिक विरोध किसान-संसार की तरफ से सदा से होते आये हैं। किसान तो सदा ही मूक प्राणी रहा है। इसे वाणी देने का यत्न पहले कब, किसने किया ? कर्म, भाग्य, भगवान, तकदीर और परलोक के नाम पर हमेशा ही से चुपचाप कष्ट सहन करने, संतोष करने तथा पशु-जीवन बिताने के ही उपदेश इसे दिये जाते रहे हैं। यह भी कहा जाता रहा है कि राजा और शासक तो भगवान के अंशावतार हैं। अतः चुपचाप उनकी आज्ञा शिरोधार्य करने में ही कल्याण है। इस 'कल्याण' की बूटी ने तो और भी जहर का काम किया और उन्हें गूंगा बना दिया। फलतः कभी-कभी ऊबकर उन्होंने अमली आन्दोलन ही किया और तत्काल वह सफलीभूत भी हुआ। उससे उनके कष्टों में कमी हुई।

इधर असहयोग युग के बाद जो भी किसान-आन्दोलन हुए हैं उन्हें संगठित रूप मिला है, यह बात सही है। संगठन का यह श्रीगणेश तभी से चला है। इसका श्रीगणेश तभी से होकर इसमें क्रमिक दृढ़ता आती गई है

और आज तो यह काफी मजबूत है, हालांकि संगठन में अभी कमी बहुत है। मगर असंगठित रूप में यह चीज पहले, असहयोग युग से पूर्व भी चलती रही है। संगठित से हमारा आशय सदस्यता के आधार पर बनी किसान-सभा और किसानों की पंचायत से है, जिसका कार्यालय नियमित रूप से काम करता रहता है और समय पर सभी समितियाँ होती रहती हैं। कागजी घुड़दौड़ भी चालू रहती है। यह बात पहले न थी। इसी से पूर्व-वर्ती आन्दोलन असंगठित था। यों तो विद्रोहों को तत्काल सफल होने के लिये उनका किसी न किसी रूप में संगठित होना अनिवार्य था। 'पतिया' जारी करने का रिवाज अत्यन्त प्राचीन है। मालूम होता है, पहले दो चार अक्षरों या संकतों के द्वारा ही संगठन का महामंत्र फूँका जाता था। यद्यपि यातायात के साधनों के अभाव में उसे वर्तमान कालीन सफलता एवं विस्तार प्राप्त न होते थे। फिर भी हम देखते हैं कि जिन आन्दोलनों एव संघर्षों का उल्लेख आगे है वे बात की बात में आग की तरह फैले और काफी दूर तक फैले। संथाल-विद्रोह में तो लाखों की सेना एकत्र होने की बात पाई जाती है और यह बात अँग्रेज अफसरों ने लिखी है। ऐसी दशा में इतना तो मानना ही होगा कि वह चीज भी काफी संगठित रूप में थी, यद्यपि आज वाली दृढ़ता, आज वाली स्थापिता उसमें न थी। होती भी कैसे? उसके सामान होते तब न?

जैसा कि पहले कह चुके हैं, आज से, प्रायः सौ-सवासौ साल पहले वाले किसान-संघर्षों एवं आन्दोलनों का वर्णन मिलता है। अतः हम उन्हीं से शुरू करते हैं। इसमें सबसे पुराना मालाबार के मोपला किसानों का विद्रोह है, जो १८३६ में शुरू हुआ था। कहने वाले कहते हैं कि ये मोपले कट्टर मुसलमान होने के नाते अपना आन्दोलन धार्मिक कारणों से ही करते रहे हैं। असहयोग-युग के उनके विद्रोह के बारे में तो स्पष्ट ही यही बात कही गयी है। मगर ऐसा कहने-मानने वाले अधिकारियों एवं जमींदार-मालदारों के लेखों तथा बयानों से ही यह बात सिद्ध हो जाती है कि दरअसल बात यह न होकर आर्थिक

एवं सामाजिक उत्पीड़न ही इस विद्रोह के असली कारण रहे हैं और धार्मिक रंग अगर उन पर चढ़ा है तो कार्य-कारणवश ही, प्रसंगवश ही। १६२० और १६२१ वाले विद्रोह को तो सबों ने, यहाँ तक कि महात्मा गांधी ने भी, धार्मिक ही माना है। मगर उसी के सम्बन्ध में मालाबार के ब्राह्मणों के पत्र 'योगक्षेमम्' ने १६२२ की ६ जनवरी के अग्रलेख में लिखा था कि "केवल धनियों तथा जमींदारों को ही ये विद्रोही सताते हैं, न कि गरीब किसानों को—"

"only the rich and the landlords are suffering in the hands of the rebels, not the poor peasants."

अगर धार्मिक बात होती तो यह धनी-गरीब का भेद क्यों होता? इसी तरह ता० ५।२।१६२१ में दक्षिण मालाबार के कलक्टर ने जो १४४ धारा की नोटिस जारी की थी उसके कारणों में लिखा गया था कि "भोले-भाले मोपलों को न सिर्फ सरकार के विरुद्ध, वरन् हिन्दू जन्मियों (जमींदारों—मालाबार में जमींदार को 'जन्मी' कहते हैं) के भी विरुद्ध उभाड़ा जायगा"—

"The feeling of the ignorant Moplahs will be inflamed against nof only the Government but also against the Hindu Jenmies (landlords) of the district."

इससे भी स्पष्ट है कि विद्रोह का कारण आर्थिक था। नहीं तो सिर्फ जमींदारों तथा सरकार के विरुद्ध यह बात क्यों होती?

बात असल यह है कि मालाबार के जमींदार ब्राह्मण ही हैं। उत्तरी मालाबार में शायद ही दो एक मोपले भी जमींदार हैं। और ये मोपले गरीब किसान हैं। इनमें खाते-पीते लोग शायद ही हैं। इन किसानों को जमीन पर पहले कोई हक था ही नहीं और झगड़े की असली बुनियाद यही थी, यही है। यह पुरानी चीज है और शोषक जमींदारों के हिन्दू (ब्राह्मण) होने के नाते ही इन संघर्षों पर धार्मिक रंग चढ़ता है। नहीं, नहीं,

जान-बूझकर चढ़ाया जाता है। १८८० वाले विद्रोह में मोपलों ने दो जमींदारों पर धावा किया था। उनने तत्कालीन गवर्नर लार्ड बकिंघम को गुप्तनाम पत्र लिखकर जमींदारों के जुल्मों को बताया था और प्रार्थना की थी कि उन्हें रोका जाय, नहीं तो ज्वालामुखी फूटेगा। गवर्नर ने मालाबार के कलक्टर और जज की एक कमेटी द्वारा जब जाँच करवाई तो रिपोर्ट आई कि इन तूफानों के मूल में वही किसानों की समस्यायें हैं। पीछे यह भी बात ब्योरेवार मालूम हुई कि जमींदार किसानों को कैसे लूटते और जमीनों से बेदखल करते रहते हैं। इसीलिये तो १८८७ वाला काश्तकारी कानून बना।

१९२१ तथा उसके बाद मौलाना याकूब हसन मालाबार के कांग्रेसी एवं गांधीवादी नेता थे। मगर उनने भी जो पत्र गांधी जी को लिखा था उसमें कहते हैं कि "अधिकांश मोपले छोटे-छोटे जमीन्दारों की जमीनें लेकर जोतते हैं और जमीन्दार प्रायः सभी हिन्दू ही हैं। मोपलों की यह पुरानी शिकायत है कि ये मनचले जमीन्दार उन्हें लूटते-सताते हैं और यह शिकायत दूर नहीं की गई है"—

"Most of the Moplahs were cultivating lands under the petty landlords who are almost all Hindus. The oppression of the Jenmies (landlords) is a matter of notoriety and a long-standing grievance of the Moplahs that has never been redressed."

इससे तो जरा भी सन्देह नहीं रह जाता कि मोपला-विद्रोह सचमुच किसान-विद्रोह था।

१८३६ से १८५३ तक मोपलों ने २२ विद्रोह किये। वे सभी जमीन्दारों के विरुद्ध थे। कहीं-कहीं धर्म की बात प्रसंगतः आई थी जरूर। मगर असलियत वही थी। १८४१ वाला विद्रोह तो श्री वैरम पहत्री नाम्बुद्री नामक जालिम जमीन्दार के खिलाफ था, जिसने किसानों को पट्टे पर

दी गई जमीन बलात् छीनी थी। १८४३ में भी दो संघर्ष हुए—एक गाँव के मुखिया के विरुद्ध और दूसरा ब्राह्मण जमींदार के खिलाफ। १८५१ में उत्तर मालाबार में भी एक जमींदार का वंश ही खत्म कर दिया गया। १८८० की बात कही चुके हैं। १८६८ में भी उसी तरह एक जमींदार मारा गया। १६१६ में मनकट्टा पहत्री पुरम् में एक ब्राह्मण जमींदार और उसके आदमियों को चेकाजी नामक मोपला किसान के दल ने खत्म कर दिया और लूट-पाट की। क्योंकि उसने चेकाजी के विरुद्ध बाकी लगान की डिग्री से सन्तोष न करके उसके पुत्र की शादी भी न होने दी।

१६२० के अक्तूबर में कालीकट में जो काश्तकारी कानून के सुधार का आन्दोलन शुरू हुआ, १६२१ वाली बगावत इसी का परिणाम थी। जमींदार मनमाने ढंग से लगान बढ़ाते और बेतहाशा बेदखलियाँ किया करते थे। इसीलिये सैकड़ों सभायें हुईं। स्थान-स्थान पर किसान-सभायें बनीं, कालीकट के राजा की जमींदारी में एक "टेनेन्ट रिलीफ असोसियेशन" कायम हुआ और मंजेरी की बड़ी कांफ्रेंस में किसानों की माँगों का जोरदार समर्थन हुआ। इसी के साथ खिलाफत आन्दोलन भी आ मिला। मगर असलियत तो दूसरी ही थी। इस तरह देखते हैं कि आज से सैकड़ों साल पूर्व विशुद्ध किसान-आन्दोलन किसान हकों के लिये चला और १६२० में आकर उसने कहीं-कहीं संगठन का जामा पहनने की भी कोशिश की।

अच्छा, अब मालाबार के दक्खिणी किसान-आन्दोलन से हटकर उत्तर में बम्बई प्रेसिडेंसी के महाराष्ट्र, खानदेश और गुजरात को देखें। वहाँ भी १८४५ और १८७५ के मध्य किसानों में रह-रह के उभाड़ होते रहे। कोली, कुर्मी, भील, ब्राह्मण और दूसरी जाति के लोग—सभी—इस विद्रोह में शरीक थे। १८४५ में भालों के नेता रघुभंगरिन के दल ने साहूकारों को लूटा-पाटा। पूना और थाना जिलों के कोलियों ने भी समय-समय पर ऐसी लूट-पाट और मार-काट की। इस सम्बन्ध में १८५२ में सर जी• विन्गेट (Sir G. Wingate) बम्बई सरकार को लिखा

था कि "बम्बई प्रेसीडेन्सी के परस्पर सुदूरवर्त्ती दो कोने में जो कर्जदारों ने दो साहूकारों को मार डाला है यह कोई योंही नहीं हुआ है, जो कहीं-कहीं महाजनों के जुल्मों के फलस्वरूप है। किन्तु मुझे भय है कि ये एक ओर किसानों और दूसरी ओर सूदखोर बनियों के बीच सर्वत्र होने वाले आम तनाव के दो उदाहरण मात्र हैं। और अगर ऐसा है, तो ये बताते हैं कि कि एक ओर कितना भयंकर शोषण-उत्पीड़न और दूसरी ओर कितना अधिक कष्ट-सहन मौजूद है"—

"These two cases of village-money-lenders murdered by their debtors almost at the opposite extremities of our presidency must, I apprehend, be viewed not as the results of isolated instances of oppression on the part of creditors, but as examples in an aggravated form of the general relations subsisting between the class of money-lenders and our agricultural population, And if so, what an amount of dire oppression on the one hand. and of suffering on the other, do they reveal to us"?

इसी प्रकार १८७१ और १८७५ के मध्य खेड़ा (गुजरात), अहमदनगर, पूना, रत्नागिरी, सितारा, शोलापुर और अहमदाबाद (गुजरात) जिलों में भी गूजरों, सूदखोरों, मारवाड़ियों, दूसरे बनियों तथा जालिमों के विरुद्ध जेहाद बोले गये, जिनका विवरण "दक्षिणी किसान दंगा-जाँच कमिशन" की रिपोर्ट में दिया गया है। १८७१ और १८५५ के बीच का समय भी बेचैनी का था। १८६५ वाले अमेरिका के गृहयुद्ध के चलते भारतीय रुई का दाम तेज हुआ। फलतः किसानों ने काफी कर्ज लिये। मगर १८७० में उस युद्ध के अन्त होते ही एकाएक सस्ती आई, जिससे १६२६ की ही तरह किसान तबाह हो गये। यह भी था कि १८६५ से

पूर्व सरकार ने समय-समय पर सर्वे कराकर लगान भी बढ़ा दिया था। जब उसे न दे सकने के कारण किसानों की जमीन-जायदाद साहुकारों के हाथों में धड़ाधड़ जाने लगीं तो उनने विद्रोह शुरू किये। फलतः सरकारी जाँच कमिशन कायम हुआ और उसी की रिपोर्ट पर दक्षिणी किसानों को सुविधाएँ देने का कानून बनाया गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि सरकार और महाजनों से किसान इसीलिये बिगड़ पड़े कि उनकी जमीनें छिनी जा रही थीं।

कहा जाता है कि बम्बई प्रेसिडेन्सी में जमींदारी प्रथा है नहीं, वहाँ जमींदार हैं नहीं। रैयतवारी प्रथा के फलस्वरूप वहाँ किसान ही जमीन के मालिक हैं। मगर दरअसल अब यह बात है नहीं। वहाँ भी साहुकार-जमींदार कायम हो गये हैं और असली किसान उनके गुलाम बन चुके हैं। यह साहुकार-जमींदारी शुरू हुई थी १८४५ में ही, जब किसानों की जमीनें महाजन कर्ज में छीनने लगे। किसानों के विद्रोह भी इसी छीना-झपटी को रोकने के लिये होते रहे। आज तो रैयतवारी इलाके का किसान इसी के चलते जमींदारी प्रान्तों के किसानों से भी ज्यादा दुखिया है। क्योंकि उसे कोई हक हासिल नहीं हैं, जब कि जमींदारी इलाके वालों ने लड़ते-लड़ते बहुत कुछ हक हासिल किया है। इसीलिये दक्षिणी विद्रोह के जाँच कमिशन की रिपोर्ट में मिस्टर आकलैण्ड कौलविन ने लिखा है कि "तथा कथित रैयतवारी प्रथा में धीरे-धीरे ऐसा हो रहा है कि रैयत टेनेन्ट हो गये हैं और मारवाड़ी (साहुकार) जमींदार (मालिक)। यह तो जमींदारी प्रथा ही है। फर्क इतना ही है कि उत्तरी भारत की जमींदारी प्रथा में किसानों की रक्षा के लिये जो बातें कानूमेंन में रखी गयी हैं वे एक भी यहाँ नहीं हैं। मालिक गैर जवाबदेह हैं और किसान का कोई बचाव है नहीं। फलतः रैयतवारी न होकर यह तो मारवाड़ी (साहुकारी) प्रथा होने जा रही है"—

"Under so-called ryotwari system it is gradually coming to this, that the ryot is the tenant and

the Marwari is the proprietor. It is a zamindari settlement; but it is a zamindari settlemnt stripped of all the safeguards which under such a settlement in Upper India are thought indispensable to the tenant. The proprietor is irresponsible, the tenant unprotected. It promises to become not a ryotwari but a Marwarisettlement."

उत्तर भारत के बिहार-बंगाल की सम्मिलित सीमा का संथाल आन्दोलन भी, जो १८५५ की ७ जुलाई से शुरू हुआ, किसान-आन्दोलन ही था। भील नेताओं के अग संरक्षक ही तीस हजार थे। बाकियों का क्या कहना! संथालों के घी, दूध और अन्नादि को बनिये मिट्टी के मोल लेकर नमक, वस्त्र खूब महँगे देते थे। इस प्रकार उनकी सारी जमीन, बर्तन और औरतों के लोहे के जेवर तक ये बनिये लूट लेते थे, ठग लेते थे। मिस्टर हन्टर ने "देहाती बंगाल का इतिहास" में लूट का विशद, पर हृदय-द्रावक, वर्णन किया है। और जब पुलिस वालों ने भी इन बनियों से घूस लेकर उन्हीं का साथ देना शुरू किया, तो फिर इन पीड़ित संथालों के लिये विद्रोह ही एक मात्र अस्त्र रह गया था। उनने उसी की शरण ली। इस तरह हम १८३६ से चलकर १८७५ तक आते हैं और इसी के बीच में वह संथालों का किसान-आन्दोलन भी आ जाता है। बल्कि मालाबार वाले १६२० के विद्रोह को लेकर तो हम असहयोग-युग के पूर्व तक पहुँच जाते हैं।

हमें एक चीज इसमें यह भी मिलती है कि धीरे-धीरे यह आन्दोलन एक संगठित रूप की ओर अग्रसर होता है। मोपलों के १६२० वाले संगठन का उल्लेख हो चुका है। दक्षिणी विद्रोह में भी १८३६-५३ वाले मोपला विद्रोह की अपेक्षा एक तरह का संगठन पाया जाता है जिसके फलस्वरूप वे आग की तरह बम्बई प्रेसीडेंसी के एक छोर से दूसरे छोर तक बहुत तेजी से पहुँच जाते हैं, ऐसा सर विन्गेट ने तथा औरों ने भी

लिखा है। मगर १८७५ के बाद यह संगठन धीरे-धीरे सभा का रूप लेता है १९२० में मालाबार में; हालांकि वह भी टिक नहीं पाता।

उत्तर और पूर्व बंगाल में नील बोने वाले किसानों का विद्रोह भी इसी मुद्दत में आता है। बिहार के छोटा नागपुर का टाना भगत आन्दोलन भी असहयोग युग के ठीक पहले जारी हुआ था। १९१९ में चम्पारन में निलहे गोरों के विरुद्ध गांधी जी का किसान-आन्दोलन चला और सफल हुआ अपने तात्कालिक लक्ष्य में। गुजरात के खेड़ा जिले में भी उनने किसान-आन्दोलन इससे पूर्व उसी साल चलाया था। मगर वह अधिकांश विफल रहा। अवध में असहयोग से पहले १९२० में बाबा रामचन्द्र के नेतृत्व में चालू किसान-आन्दोलन वहाँ के ताल्लुकेदारों के विरुद्ध था, जिसमें लूट-पाट भी हुई। इस प्रकार के आन्दोलन मुल्कों में जहाँ-तहाँ और भी चले। मगर उन पर विशेष रोशनी डालने का अवसर यहाँ नहीं है।

इनका निष्कर्ष, इनकी विशेषता

असहयोग युग के पूर्ववर्त्ती आन्दोलनों की विशेषता यह थी कि एक तो वे अधिकांश असंगठित थे। दूसरे उनको पढ़े-लिखे लोगों का नेतृत्व प्राप्त न था। अवध वाले में भी यही बात थी। तीसरे उनने मार-काट का आश्रय लिया। तब तक जनान्दोलन का रहस्य किसे विदित था? यह भी बात थी कि ये विद्रोह और आन्दोलन पहले से तैयारी करके किये न गये थे। जब किसानों पर होने वाले जुल्म असह्य हो जाते थे और उन्हें अपने त्राण का कोई दूसरा रास्ता दीखता न था तो वे एकाएक उबल पड़ते थे। फिर तो मार-काट अनिवार्य थी। परिस्थिति उन्हें एतदर्थ विवश करती थी या यों कहिये कि जमींदार और शोषक अपने घोर जुल्मों के द्वारा उन्हें इस हिंसा के लिये विवश करते थे। यही उनकी कमजोरी थी। इसी से वे दबा दिये गये और विफल से रहे; हालांकि उनका सुन्दर परिणाम किसानों के लिये होकर रहा, यह सभी मानते हैं। कितने ही कानून किसान-हित-रक्षा के लिये बने-उन्हीं के चलते।

यह ठीक है कि उनमें कुछ को पढ़े-लिखों का नेतृत्व प्राप्त था।
दृष्टान्त के लिये १६२० वाले मोपला-आन्दोलन को ले सकते हैं। मगर
वहाँ भी छिटपुट हिंसा की शरण लेने से भयंकर ह्रास हुआ। खिलाफत
और पंजाब-कांड के बाद ही होने तथा इनके साथ मिल जाने से भी
उसका निर्दय दमन किया गया। फलतः वह बेकार-सा गया। अहिंसा की
प्रचण्ड लहर का युग होने से वह उसी में डूबा, यह भी कह सकते हैं।

मगर खेड़ा, चम्पारन और युक्तप्रान्त का पं० नेहरू के द्वारा संचालित
आन्दोलन शान्तिपूर्ण होने के साथ ही उदात्त नेताओं के हाथों में रहा;
यद्यपि संगठित रूप उसे भी नहीं दिया जा सका। फिर भी जनान्दोलन
का शान्तिपूर्ण रूप मिल जाने से ही और पठित नेतृत्व के कारण ही उन
सबों को कम-वेश प्रत्यक्ष सफलता मिली। उनके क्षेत्र और उद्देश्य जितने
ही संकुचित या व्यापक थे, और उनमें जैसी शक्ति थी तदनुकूल ही उन्हें कम
या अधिक सफलता मिली। खेड़ा का आन्दोलन तो जिले भर का था, ठेठ
सरकार के विरुद्ध। फलतः उसे उतनी कामयाबी न मिल सकी। चम्पारन
वाला था कुछ खास इलाके का, सिर्फ निलहों की नृशंसता एवं मनमानी
घरजानी के विरुद्ध। फलतः वह पूर्ण सफल रहा। अवधवाला था लम्बे
इलाके के विरुद्ध, जिसमें बहुत जिले आ जाते हैं। युक्तप्रान्त का भी प्रश्न
उसने साधारणतः उठाया। इसी से उसकी सफलता बहुत धीमी चाल से
आनी शुरू हुई और अब तक भी पूर्णरूप से पहुँच न सकी।

असहयोग के पूर्व किसान-आन्दोलन में जो दृढ़ता न आ सकी और
उसे जो पूर्ण संगठित रूप मिल न सका उसके दो बड़े कारण थे, जिसका
उल्लेख अब तक किया न जा सका है। एक तो किसान जनता में आत्म-
विश्वास न था। सदियों से कुचले, पिसे किसान आत्म-विश्वास खो चुके
थे। अतः विश्वासपूर्वक सामूहिक रूप से खम ठोंक कर अपने उत्पीड़कों से
लड़ न सकते थे। फलतः एक बार पिसते तो हिम्मत हार गये और चुप्पी
मार बैठे। फिर संगठन कैसा? दूसरे, आन्दोलन चलाने के लिये बहु-
संख्यक पठित कार्यकर्त्ता और नेता भी नहीं प्राप्त थे—ऐसे नेता और कार्य-

कर्त्ता जिन्हें आत्म-विश्वास हो और जो धुन के पक्के हों कि लक्ष्य तक पहुँच कर ही दम लें।

ये दो मौलिक कमियाँ थीं, जिन्हें असहयोग आन्दोलन ने पूरा कर दिया। १९२१ में बड़ी से बड़ी, शक्तिशाली और शस्त्रास्त्र सुसज्जित सरकार को एक बार निहत्थे किसानों ने कँपा दिया, हिला दिया। फल-स्वरूप उन्हें अपनी अपार अन्तर्निहित शक्ति का सहसा भान होने से उनमें आत्म-विश्वास हो गया कि जब इतनी बड़ी सरकार को हिला दिया, तो जमींदार, ताल्लुकेदार और साहुकार की क्या बिसात? उन्हें चीं बुलाना तो बायें हाथ का खेल है। असहयोग ने हजारों धनी कार्यकर्त्ता भी दिये जो ऊपर आ गये—मैदान में आ गये। असहयोग की सफलता के मुख्य आधार किसान ही थे, जो पहली बार सामूहिक रूप से कांग्रेस में आये थे। इसीलिये वे तथा उनके लिये कार्यकर्त्ता—दोनों ही—आत्म-विश्वास प्राप्त करके आगे बढ़े।

यद्यपि ये बातें कुछ देर में हुईं। क्योंकि आत्म-विश्वास और दृढ़ निश्चय के लिये समर और मनन की आवश्यकता होती है। तथापि ये हुईं अवश्य। इसीलिये, और राजनीतिक उलझनों के चलते भी, संगठित किसान-आन्दोलन किसान-सभा के रूप में १९२६-२७ में बिहार में तथा अन्यत्र शुरू हुआ। इतनी देर कोई बड़ी चीज न थी। १९२८ वाला बारदोली का आन्दोलन भी इसी का परिणाम था। वह सफल भी रहा।

इस प्रकार हम आधुनिक संगठित किसान-आन्दोलन के युग में प्रवेश करते हैं। असहयोग आन्दोलन ने हमें—सारे देश को—जो जनान्दोलन का असली सबक सिखाया और अपार शक्ति हृदयंगम करायी, उसके फलस्वरूप आगे चलकर किसान-आन्दोलन को भी जनान्दोलन का रूप मिला, यह सबसे बड़ी बात थी।

असहयोग के कारण कांग्रेसी लोग प्रान्तीय कौंसिलों से बाहर रहे। फलतः मद्रास, बम्बई आदि में अब्राह्मण दल के मंत्री बने और उनने

अपना प्रभुत्व जमाया। उसे कायम रखने के लिये उन्हीं लोगों ने आन्ध्र में आन्ध्रप्रान्तीय रैयत असोसियेशन के नाम से एक किसान-सभा उस समय, १६२३-२४ में बनाई, ऐसा कहा जाता है। मगर उसकी कोई विशेष कार्य-शीलता पाई न गई। अलबत्ता बिहार में इस लेखक ने अपने कांग्रेसी साथियों के सहयोग से १६२७ में नियमित रूप से, सदस्यता के आधार पर, किसान-सभा की स्थापना पटना जिले में करके धीरे-धीरे १६२६ में उसे बिहार प्रान्तीय किसान-सभा का रूप दिया। उस समय बिहार की कौंसिल में किसान-हित-विरोधी एक बिल सरकार की ओर से पेश था और जरूरत इस बात की थी कि किसान उसका संगठित विरोध करें। इसीलिये कांग्रेसी नेताओं ने बिहार प्रान्तीय किसान-सभा की जरूरत महसूस की और इसीलिये उसका जन्म हुआ। उसमें कांग्रेस के सभी लीडर शामिल थे, सिवाय स्वर्गीय ब्रजकिशोर बाबू के। उस सभा का काम लेखक की अध्यक्षता में खूब जोरों से चला और अन्त में सरकार को वह बिल लौटा लेना पड़ा। इस तरह जन्म लेते ही सभा को अभूतपूर्व सफलता मिली। वर्त्तमान प्रधान मंत्री बा० श्रीकृष्ण सिंह उस समय किसान-सभा के मंत्री थे। आगे चलकर सभा को और भी संघर्ष करने पड़े। इस प्रकार संघर्षों के बीच वह फूली, फली और सयानी हुई।

सन् १६१८-१६ में ही इलाहाबाद में श्री पुरुषोत्तमदास जी टण्डन की देख-रेख में किसान-आन्दोलन शुरू हुआ था और उसने कुछ काम भी किया। उसके बाद, असहयोग के उपरांत, कांग्रेसजन इस काम में और भी लगे, यहाँ तक कि १६३२ के सत्याग्रह से पूर्व वहाँ की प्रांतीय कांग्रेस कमिटी ही एक किसान समिति के द्वारा किसानों में आन्दोलन चलाती रही, तथा जरूरत होने पर उन्हें करबन्दी के लिये भी तैयार करती रही, जिसके फलस्वरूप वहाँ किसानों ने १६३२ के कांग्रेस संघर्ष में करबन्दी को तेजी से चलाया। श्री टण्डन जी ने ही उसी के बाद प्रयाग में "केन्द्रीय किसान संघ" की स्थापना की, जो भावी अखिल भारतीय किसान-सभा के सूत्ररूप में ही था। पं० नेहरू, टण्डन जी प्रभृति

कांग्रेस नेता सदा से महसूस करते थे कि किसान-संगठन कांग्रेस से जुदा ही रहना ठीक है। इसीलिये यू० पी० में पहले किसान समिति बनी और पीछे केन्द्रीय किसान संघ का जन्म हुआ।

फिर लखनऊ कांग्रेस के अवसर पर १६३६ में अखिल भारतीय किसान-सभा की नियमित रूप से स्थापना हुई। पहला अधिवेशन वहीं पर लेखक को ही अध्यक्षता में हुआ। यह बात अब महसूस की जाने लगी थी कि संगठित किसान-आन्दोलन को अखिल भारतीय रूप दिये बिना काम चलने का नहीं। इसीलिये यह बात हुई। १६३६ से लेकर १६४३ तक इसका काम चलता रहा और कोई गड़बड़ी न हुई। १६३६, १६३८ और १६४३ में लेखक इसका अध्यक्ष और शेष वर्षों में प्रधान मंत्री रहा। १६३७ में प्रोफेसर रंगा, १६३६ में आचार्य नरेन्द्रदेव, १६४० में बाबा सोहन सिंह भखना, १६४२ में श्री इन्दुलाल याज्ञिक अध्यक्ष थे।

उसके बाद कम्यूनिस्टों की नीति ने ऐसी परिस्थिति पैदा कर दी कि वे अकेले रह गये और शेष सभी प्रगतिशील विचार वाले वामपक्षी उनसे जुदा हो गये। कुछ दिन यों ही गुजरे। इसी दर्म्यान १६४२ के राजबन्दी जेलों से बाहर आने लगे और १६४५ के मध्य से ही आल इंडिया किसान-सभा के पुनः संगठन का काम लेखक तथा टण्डन जी के अथक उद्योग से शुरू होकर गत ६ जुलाई १६४६ को बम्बई में "हिन्द किसान-सभा" के नाम से पुनरपि उसका संगठन हो गया है। उसके सभापति श्री पुरुषोत्तम दास जी टण्डन और संगठन मंत्री यह लेखक हैं। अन्यान्य मंत्रियों तथा मेम्बरों को मिलाकर २५ सज्जनों की कमिटी भी बनी है, जिनमें चार सदस्य अभी तक चुने नहीं गये हैं।

संक्षेप में भारतीय किसान-आन्दोलन का यही क्रमबद्ध विकास है, यही उसकी रूप-रेखा है। भारत के विभिन्न प्रान्तों में उसकी शाखायें हैं, जिनमें कुछ तो सक्रिय हैं और कुछ शिथिल। परन्तु सभी को पूर्ण सक्रिय बनाने का भार संगठन-मंत्री पर दिया गया है। वह इस महान्

कार्य में पूर्णतः संलग्न भी हैं। आज भारत के कोने-कोने में किसान संगठन की पुकार है, तेज आवाज है और यह शुभ लक्षण है।

[ब]

किसान-सभा किसानों की वर्ग संस्था है। वर्ग से अभिप्राय है आर्थिक वर्ग से, न कि धार्मिक या जातीय वर्ग से। किसान वर्ग के शत्रुओं, जमींदार-मालदारों से किसानों की रक्षा करना और उनके संगठित प्रयत्न के द्वारा उनके हकों को हासिल करना इस सभा का ध्येय है। जब तक सभी प्रकार के आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक शोषणों का अन्त होकर वर्ग-विहीन समाज नहीं बन जाता तब तक यह लक्ष्य हासिल नहीं होगा। फलतः इस ध्येय का, इस लक्ष्य और मकसद का पर्यवसान इस वर्ग-विहीन समाज में ही होता है जिसमें मनुष्य का शोषण मनुष्य न कर सके, सबों को अपने सर्वांगीण विकास की पूरी सुविधा हो और इस प्रकार मनुष्य मात्र की सारी जरूरतों की पूर्ति निराबाध और बेखटके होती रहे।

इसीलिये सभी जाति, धर्म और सम्प्रदाय के उन लोगों की यह संस्था है जिन्हें खेती करनी पड़ती है, जो खेतिहर हैं और प्रधानतया खेती करे बिना जिनकी जीविका नहीं चल सकती है। इस प्रकार खेत-मजदूरों की भी संस्था यह किसान-सभा है। खेत-मजदूर किसानों के भीतर आ जाते हैं। वे दरअसल किसान हैं, जमीन जोतने-बोने वाले हैं, (tillers of the Soil) हैं। फिर वे किसान वर्ग से पृथक् कैसे रह सकते हैं? यह भी नहीं कि खेत-मजदूर, हरिजन, अछूत या किसी धार्मिक सम्प्रदाय विशेष के भीतर आते हैं। आज परिस्थिति ऐसी है कि हर साल पूरे नौ लाख से भी ज्यादा किसान अपनी जोत-जमीन गँवा कर, बिना खेत के या यों कहिये कि खेत-मजदूर बनते जा रहे हैं और वे सभी जातियों और धर्मों के हैं। उनमें कुछ ही लोग दूसरी जीविका कर पाते हैं। अधिकांश खेत-मजदूर ही बनते हैं— अधिकांश को मजबूरन खेत-मजदूर ही बनना पड़ता है।

धार्मिक और जातीय आधार पर किये गये मनुष्यों का वर्गीकरण धोका देता है और झूठा है, गलत है। कानून की नजरों में टेनेन्ट या किसान मात्र के हक समान ही हैं, फिर चाहे वह किसान, मुसलमान, हिन्दू आदि कुछ भी क्यों न हों; ब्राह्मण, शूद्र, शेख, पठान वगैरह क्यों न हों। जमींदारों के हक की भी यही हालत है। अपने-अपने हकों की लड़ाई भी इसी दृष्टि से होती है। न तो कोई हिन्दू जमींदार हिन्दू किसान के साथ रिआयत करता है और न मुसलमान मुसलमान के साथ। चाहे किसी भी धर्म का किसान क्यों न हो, उसके विरुद्ध सभी हिन्दू-मुसलमान जमींदार एक हो जाते हैं, एक ही आवाज उठाते हैं। जमींदारों के खिलाफ सभी धर्म, जाति और सम्प्रदाय के किसानों को भी ऐसा ही करना चाहिये, ऐसा ही करना होगा। इसी तरह एक और सगठित होकर अपनी आवाज बुलन्द करनी होगी और हक के लिये मिलकर लड़ना होगा। यही वर्ग संस्था के मानी हैं और यही संगठन किसान-सभा है। जब तक किसान एक सूत्र में बँधे नहीं हैं, संगठित नहीं हैं, तब तक अपने वर्ग के शत्रुओं के विरुद्ध वे जो कुछ भी चीख-पुकार करते हैं वह निरा आन्दोलन कहा जाता है। मगर ज्योंही वे एक सूत्र में बँध कर यही काम करते हैं त्योंही उसका नाम किसान-सभा हो जाता है। जितना ही जबर्दस्त उनका यह एक सूत्र में बँधना होता है उतनी ही मजबूत यह किसान-सभा होती है। इसमें उनके भी वर्ग शत्रुओं और उन शत्रुओं के मददगार साथियों के लिये कोई भी गुंजायश नहीं है। क्योंकि तब यह वर्ग संस्था रहेगी कैसे? संस्था तो गढ़ है न? फिर उसमें शत्रु या उनके संगी-साथी कैसे घुसने पायेंगे? घुसने पर तो वह गढ़ ही शत्रुओं का हो जायगा और जिस कार्य के लिये वह बनाया गया था वही न हो सकेगा।

जिस प्रकार चूहे और बिल्ली के दो परस्पर विरोधी वर्ग हैं और एक वर्ग दूसरे को देखना नहीं चाहता, चूहे बिल्ली को और वह चूहों को खतम कर देना चाहती है, ठीक यही बात जमींदारों और किसानों की भी है। वे एक दूसरे को मिटा देना चाहते हैं। चाहे किसान परिवार भूखों मर

जाय, दवा के बिना और कपड़े के अभाव में कराहता फिरे; फिर भी उसी की कमाई पर गुलछर्रे उड़ाने वाले जमींदार उसके साथ जरा सी भी रिआयत करने को रवादार नहीं होते, एक कौड़ी भी लगान या अपने पावने में छोड़ना नहीं चाहते। सैलाब या अनावृष्टि से फसल खत्म हो गई और महाजनों से कर्ज लेकर किया हुआ किसान का सारा खर्च मिट्टी में मिल गया। फिर भी जमींदार अपना लगान पाई पाई वसूल करता ही है। और न्यायालय भी उसी की मदद करते हैं। किसान की फर्याद अनसुनी कर दी जाती है। विपरीत इसके यदि किसान के पास रुपये-पैसे हों तो भी वह जमींदार को एक कौड़ी भी देना नहीं चाहता, अगर उसके वस की बात हो। यदि देता है तो विवश होकर ही, कानून और लाठो के डर से ही। वह दिल से चाहता है कि जमींदार नाम का जीव पृथ्वी से मिट जाय। जमींदार भी किसान से न सिर्फ लगान चाहता है, वरन् उसकी सारी जमीन किसी भी तरह छीन कर खुदकाश्त-बकाश्त बनाना और अपने कब्जे में रखना चाहता है। इससे बढ़कर परस्पर वर्ग-शत्रुता और क्या हो सकती है? फलतः जैसे जमींदारों ने अपने वर्ग के हितों की रक्षा के लिए जमींदार सभायें अनेक नामों से मुद्दत से बना रखी हैं और उन्हीं के द्वारा अपने हकों के लिये वे लड़ते हैं; ठीक उसी तरह किसानों के वर्ग-हित की रक्षा के लिये किसान-सभा है, की जरूरत है, किसान-सभा चाहिये। तभी उनका निस्तार होगा। जमींदार तो मालदार और काइयाँ होने से बिना अपनी सभा के भी अपनी हित-रक्षा कर सकते हैं। वह चालाकी से दूसरी सभाओं में घुसकर या उन पर अपना असर डाल कर उनके जरिये भी अपना काम बना सकते हैं। रुपया-पैसा, अक्ल और प्रभाव क्या नहीं कर सकते! मगर किसान के पास तो इनमें एक चीज भी नहीं है। इसीलिये किसान-सभा जरूरी है।

कहा जाता है कि जब अँग्रेजों से लड़ने और उन्हें पछाड़ने के लिये कांग्रेस मौजूद ही है और उसके ६० फीसदी मेम्बर किसान ही हैं, तो फिर उससे जुदी किसान-सभा क्यों बने? यह भी नहीं कि कांग्रेस किसानों के

लिये लड़ती न हो। फैजपुर वाला उसका किसान-कार्य-क्रम (Agrarian programme) और हाल में जमींदारी मिटाने का उसका निश्चय इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं कि वह किसानों की अपनी संस्था है। यदि उसमें जमींदार या उनके मददगार भी हैं तो इससे क्या? वह फिक्र तो रखती है किसानों के लिये। यदि कहा जाय कि कांग्रेस कमिटियों पर ज्यादातर कब्जा और प्रभुत्व मालदारों का ही रहता है, तो यह भी कोई बात नहीं है। यह तो किसानों की भूल है, उनकी नादानी है कि चुनावों में चूकते हैं। जब अधिकांश कांग्रेस-सदस्य वही हैं तो फिर सजग हो के चुनाव लड़ें और सभी कमिटियों पर कब्जा करें। जब देश के लिये कांग्रेस के द्वारा लड़ने-मरने वाले अधिकांश किसान ही हैं तो फिर कांग्रेस उनकी नहीं तो और किसकी है, किसकी हो सकती है? इसीलिये मानना ही होगा कि कांग्रेस ही सबसे बढ़कर किसानों की संस्था है, किसान-सभा है—Congress is the Kisan organisation par excellence.

ऊपर से देखने से बात तो कुछ ऐसी ही मालूम पड़ती है। यह सही है कि कांग्रेस ने जमींदारी मिटाने का निश्चय किया है। इससे पहले किसान-हित के प्रोग्राम भी उसने बनाये हैं। आगे भी वह ऐसा करेगी, इसमें भी विवाद नहीं। वह प्रगतिशील संस्था है, यह भी मानते हैं। तभी तो प्रतिदिन बदलती दुनिया में वह टिक सकती और आजादी का सफल संग्राम चला सकती है। इसीलिये किसान उस कांग्रेस से चिपकते हैं, उन्हें उससे चिपके रहना चाहिये जब तक जंगे आजादी जारी है और हम स्वतंत्र नहीं होते। कांग्रेस कमजोर हुई कि आजादी की आशा गई। गुलामी के विरुद्ध समस्त राष्ट्र के विद्रोह की प्रतीक और प्रतिमूर्त्ति ही कांग्रेस है। आजादी के लिये सारे देश की दृढ़ प्रतिज्ञा और बेचैनी का जाहिरी या मूर्त्त रूप ही कांग्रेस है। राष्ट्रीयता ने हममें हरेक की रगों में प्रवेश किया है, हमारे खून में वह ओत-प्रोत है। वह हमारी रग-रग में व्याप्त है। यह राष्ट्रीयता जितनी ही व्यापक और संघर्ष के लिये व्याकुल-लालायित (militant) होगी, आजादी

हमें उतनी ही शीघ्रता से मिलेगी। इसीलिये हर किसान को इस राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत होना हा और कांग्रेसी बनना ही चाहिये ताकि हमारा मुल्क जल्द से जल्द पूर्ण स्वतंत्र हो। गुलाम भारत में किसान-राज्य या समाजवाद की आशा महज नादानी है।

इस प्रकार जब किसान कांग्रेस को शक्तिशाली बनायेंगे सीधी लड़ाई के द्वारा और चुनावों में मत देकर भी, तो इनके बदले में कांग्रेस को भी उनका खयाल करना ही होगा। और उनके हकों के लिये समय-समय पर लड़ना ही होगा। इन कार्यक्रमों और जमींदारी मिटाने की बात मान कर कांग्रेस यही करती भी है। कांग्रेसी नेता खूब समझते हैं कि यदि वे ऐसा न करेंगे और जमींदारी न मिटायेंगे, तो उन्हें खुद मिट जाना होगा, उनकी लीडरी जाती रहेगी और कांग्रेस भी खत्म हो जायेगी। यह ठोस सत्य है। राष्ट्रीयता सर्वथा उपादेय और सुन्दर चीज होने पर भी वह भावुकता की वस्तु है, भावना और दिमाग की चीज है, महज खयाली पदार्थ है। वह कोई ठोस भौतिक पदार्थ नहीं है, ठीक जिस प्रकार धर्म, ईश्वर और स्वर्ग-नर्क आदि हैं। ये भी महज खयाली हैं। इसीलिये समय-समय पर भौतिक पदार्थों—जर, जोरू, जमीन के सामने ये टिक नहीं सकते, इनकी अवहेलना होती है और लोग जमीन-जायदाद के लिये गंगा-तुलसी, कुरान-पुरान आदि उठाकर झूठी कसमें खाते हैं। इसी प्रकार भौतिक हितों के निरन्तर विरोध में यह राष्ट्रीयता टिक नहीं सकती, इसे मिट जाना होगा। यही वजह है कि कांग्रेसी लीडर किसानों के भौतिक हितों की बातें समयानुसार करते रहते हैं। भावनामय कोरी राष्ट्रीयता भौतिक स्वार्थों को साथ लेकर ही टिक सकती है, लक्ष्य-सिद्धि में कामयाब हो सकती है। यदि इन भौतिक स्वार्थों को वह छोड़ दे या उनसे टकरा जाय, तो उनके लिये भारी खतरा बेशक पैदा हो जायगा।

मौत बुरी है, बड़ी खतरनाक है। उसके मुकाबिले में जूते की काँटी का चुभना कोई चीज नहीं है। फिर भी मौत से बचने के लिये कोई शायद ही फिक्रमन्द दीखता है। मगर काँटी के कष्ट से बचने का यत्न सभी करते

हैं। यही ठोस सत्य है और हम इसे भुलाकर भारी धोका खायँगे। ठीक राष्ट्रीयता को भी इसी तरह भारी धक्का लगे, अगर वह किसानों की तात्कालिक माँगों और तकलीफों का खयाल करके उनके सम्बन्ध में अपना प्रोग्राम स्थिर न करे। राष्ट्रीयता को असली और व्यावहारिक जामा पहनना ही होगा और भौतिक दुनिया को देखकर ही चलना होगा। तभी वह पूर्ण स्वतंत्रता के युद्ध में सफल होगी। यही वजह है कि राष्ट्रीय नेता जमींदारी मिटाने की बातें करते और जमींदारों के गुस्से का सामना करते हैं। इसमें उनकी चालाकी और व्यवहार-कुशलता की झाँकी मिलती है।

यह भी न भूलना होगा कि फ्रांस में जमींदारी का खातमा नेपोलियन जैसे साम्राज्यवादी के हाथ से हुई। उसे कोई नहीं कह सकता कि किसान मनोवृत्ति का था, या उसकी संस्था किसान-सभा जैसी थी। उसकी सरकार घोर अनुदार, पर दूरंदेश थी। उसने देखा कि फ्रांस के प्राचीन राज-घराने के लोग दो दलों में विभक्त होकर एक जमींदार वर्ग का समर्थक है तो दूसरा मध्यमवर्ग, बूर्जुवा या कल-कारखाने वालों का। किसानों का पुर्सां किसी को न पा उसने जमींदारी मिटाकर उन्हें अपने साथ किया और फौज में किसान युवकों को भर्त्ती करके महान् विजयों के द्वारा साम्राज्य-विस्तार किया। इसमें उसकी व्यवहार-कुशलता एवं दूरंदेशी के सिवाय और कुछ न था। वह न तो किसान था और न किसान-मनोवृत्ति का, और इसका पता एक मुद्दत गुजरने पर किसानों को तथा दुनिया को भी लग गया जब उसी के बनाये "नेपोलियन वाले कानूनों" के द्वारा उन्हीं किसानों की जमीनें धड़ाधड़ बैंकों एवं महाजनों के पास चली गईं। संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका की सरकार ने तो वहाँ जमींदारी प्रथा होने ही न दी और अधिकांश किसानों को, विशेषतः पश्चिमी भाग में, मुफ़ जमीनें दीं। यह बात लेनिन की चुनी लेखमाला के अँग्रेजी संस्करण के बारहवें भाग के १९४ पृष्ठ में स्पष्ट लिखी गई है। अन्यान्य देशों में भी अनुदार या दकियानूस दल वालों ने ही जमींदारी मिटाई है।

दरअसल देशों में उद्योग-धन्धों की अबाध प्रगति के लिये जिस

कच्चे माल की प्रचुर परिमाण में जरूरत होती है उसके उत्पादन में यह जमींदारी प्रथा बाधक होती है। यह प्रथा भूमि की उत्पादन शक्ति को बेड़ी की तरह जकड़ने वाली मानी जाती है। फलतः मध्यमवर्गीय मालदार ही इसका उन्मूलन करते हैं और भारत में भी "बम्बई-पद्धति" (Bombay Plan) के प्रचारक एवं निर्माण-कर्त्ता, ताता, बिड़ला आदि करोड़पतियों ने ही जमींदारी मिटाने की आवाज गत महायुद्ध के जमाने में ही बुलन्द की थी। पीछे चलकर कांग्रेस नेताओं ने उसे ही माना है। और ताता-बिड़ला का सगठन कोई किसान-सभा नहीं है, यह सभी जानते हैं। अतः जमींदारी मिटाने की बात इसका प्रमाण नहीं है कि कांग्रेस किसान-सभा बन गई। हाँ, यदि क्रान्तिकारी ढंग से जमींदारी मिटाने की बात वह बोलती और वैसा ही करती, जैसा सोवियत रूस में हुआ, तो एक बात थी। तब ऐसा सोचा जा सकता था; हालांकि फ्रांस में क्रान्तिकारी ढंग से ही ऐसा होने पर भी उसके कराने वाले किसान-विरोधी ही सिद्ध हुए। क्रान्तिकारी तरीके के मानी ही हैं जबर्दस्ती जमीनें और जमींदारों का सारी सम्पत्तियाँ छीन लेना और उन्हें राह का भिखारी या महाप्रस्थान का यात्री बना देना।

यह भी सोचना चाहिये कि कांग्रेस तो १९३६-३७ वाले चुनावों में भी पड़ी थी। उसी समय उसने फैजपुर का एक अत्यन्त लचर कार्यक्रम भी इसी सिलसिले में स्वीकार किया था, पर वह भी कांग्रेसी-मंत्रि-मंडलों के बनने पर सर्वत्र खटाई में ही पड़ा रह गया। प्रत्युत युक्तप्रान्त में ऐसा काश्तकारी कानून बनाया उन्हीं मंत्रियों ने जिसके चलते गत महायुद्ध के जमाने में, सरकारी बयान के अनुसार ही, पूरे दस लाख एकड़ जमीनें किसानों से जमींदारों ने छीन ली और किसानों में हाहाकार मच गया। उसी का प्रायश्चित्त इस बार वहाँ कांग्रेसी मंत्रियों को करना पड़ रहा है। बिहार में भी ऐसी ही बातें होने वाली थीं। मगर यहाँ किसान-सभा की जागरूकता और उसके प्रबल आन्दोलन ने बहुत कुछ रोका। फिर भी बहुत कुछ अनर्थ हो गये। यदि कांग्रेस ही किसान-सभा होती, तो क्या ऐसा होता? उलटे बिहार की किसान-सभा को कांग्रेसी मंत्रियों और लीडरों

ने इसीलिये कोसा कि वह कांग्रेस विरोधी है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि इस निर्जीव और लचर किसान-कार्यक्रम की जगह उसी समय कांग्रेस ने जमींदारी मिटाने का प्रोग्राम क्यों न कबूल किया था ? क्या पहले वह दूसरी थी और आज बदल गई ?

दरअसल उस समय किसान-सभा ऐसी जोरदार न थी और उसने भी जमींदारी मिटाने का प्रश्न अभी तेज बना न पाया था, जिससे कांग्रेस पर उसका दबाव पड़ता और वह उसे मानने को मजबूर होती। तब समय का रुख ऐसा बेढंगा न था इस जमींदारी के बारे में। तब कांग्रेस का आधार-स्तम्भ किसान-समाज में जमींदारी के मिटा देने के बारे में ऐसी भीषण मनोवृत्ति न थी जैसी आज है। उनमें इसके प्रति ऐसा रोष-क्षोभ न था जो आज है। फलतः उसके मिटाने का प्रश्न न उठाकर भी कांग्रेस उस समय किसानों को अपने साथ ले सकती थी। इसी से उसने न करके कांग्रेस का टिकना या किसानों का अपने साथ ले सकना असंभव है। इसीलिये पूरे दस साल बाद उसने जमींदारी मिटाने की बात अपनाई है। सो भी मुआविजा या कीमत देकर।

इससे कई बातें सिद्ध होती हैं। एक यह कि कांग्रेस ने खुद ऐसा न करके किसान-सभा, किसान-आन्दोलन और किसानों के दबाव से ही ऐसा किया है या यों कहिये कि उसने समय का रुख पहचाना है। इससे उसकी और उसके नेताओं की अवसरवादिता सिद्ध होती है, जो बेशक किसान-सभा या किसान नेता होने का लक्षण कदापि नहीं। किसानों का हित तो १९३६-३७ में ही पुकारता था कि जमींदारी मिटाओ।

इससे किसान-सभा और कांग्रेस का मौलिक एवं बुनियादी भेद भी सिद्ध हो जाता है। जहाँ किसान-सभा अर्थनीति और आर्थिक कार्यक्रम को राजनीति के द्वारा देखती हुई उसे साधन और आर्थिक बातों को, अर्थ-नीति को साध्य मानती है, और इसीलिये राजनैतिक हार-जीत की वैसी पर्वा न करके सदा किसानों की आर्थिक बातों को ही देखती रहती है और वैसा ही कार्यक्रम चाहती है, तहाँ कांग्रेस राजनीति को ही अर्थनीति के

द्वारा, इसी आइने में देखती है। फलतः उसके लिये ये आर्थिक बातें तथा प्रोग्राम साधन हैं और राजनीति साध्य या लक्ष्य। यही वजह है कि जब १९३६-३७ में मामूली आर्थिक प्रोग्राम से ही उस राजनीतिक चुनावों में जीत संभव थी तो उसने वैसा ही प्रोग्राम बनाया। लेकिन इस बार वैसा संभव न देख जमींदारी मिटाने की बात उठाई।

सारांश, हर हालत में किसानों को साथ लेकर उसे राजनीति में सफल होना है। फलतः उनका हित कांग्रेस लीडरों का लक्ष्य न होकर साधन मात्र है। किसान-हित की बातों और वैसे कामों के द्वारा वे अपना मतलब निकालना चाहते हैं। यह बात किसान नेताओं एवं किसान-सभा में नहीं हो सकती। उनका तो काम ही है किसानों के हित को ही अपना अन्तिम लक्ष्य बनाना और आगे बढ़ाना और इस प्रकार एक न एक दिन उसी रास्ते राजनीति में भी विजयी होना।

दूसरी बात यह है कि यदि कांग्रेस से जुदा स्वतंत्र रूप से कोई किसान-आन्दोलन और किसान-सभा न हो तो फिर कांग्रेस पर दबाव किसका पड़ेगा? आज जो कांग्रेस प्रगतिशील मानी जाती है वह इसीलिये न, कि वह समय की गति पहचान कर तदनुसार ही कदम बढ़ाती है? यही उसकी सबसे बड़ी खूबी है, उसमें यह गुंजायश है, यही उसकी जान और शान के लिये बड़ी चीज है। मगर, अगर दबाव न हो तब? तब तो वह दकियानूस ही बन जाय, उसकी प्रगति जाती रहे और वह निर्जीव हो जाय, जैसी नरम दलियों की संस्थायें है। ऐसी दशा में आजादी के संग्राम में पूर्ण सफलता की आशा ही जाती रहे। इसीलिये कांग्रेस की प्रगतिशीलता एवं लक्ष्य की सफलता के लिये भी जिस किसान दबाव की सख्त जरूरत है, उसके लिये स्वतंत्र किसान-सभा का होना नितान्त आवश्यक है। क्योंकि तभी किसान-हित की दृष्टि से स्वतंत्र आन्दोलन करके ऐसा वायुमंडल बनाया जा सकता है जिसका दबाव कांग्रेस पर पड़े और वह प्रगतिशील कार्यक्रम बनाकर किसान समूह को अपनी ओर खींचे। इसके अभाव में वह नरम दलियों एवं लिबरलों की तरह

निर्जीव प्रोग्राम बनाकर किसानों को अपने साथ अन्ततोगत्वा ले चलने में समर्थ नहीं हो सकती, यह ध्रुव सत्य है।

यदि किसान-सभा स्वतंत्र न होकर कांग्रेस का अंग या उसका एक विभाग मात्र हो तो वह न तो स्वतंत्र आन्दोलन ही कर सकती और न वैसा प्रचंड वायुमंडल ही बना सकती, जो कांग्रेस पर दबाव डाल कर उसे आगे बढ़ाये और प्रगतिशील बनाये। क्योंकि ऐसी किसान-सभा कांग्रेस के निश्चय का ही मुँह देखेगी और तदनुसार ही चलेगी अनुशासन के खयाल से। वह स्वतंत्र रूप से कोई भी काम या आन्दोलन कर नहीं सकती।

और आखिर यह मुआविजा क्या बला है? क्या इससे किसानों का लाभ है? क्या यह किसान-हित की दृष्टि से दिया जाने को है? साफ शब्दों में कहा जा सकता है कि यह तो किसानों के भविष्य को पहले से ही मुस्तगर्क करना या जकड़ देना है। उनके भविष्य को पहले से ही बाधक रख देना है। आगे चलकर उनके लिये यह बड़ा रोड़ा सिद्ध होगा। आखिर ये रुपये किसानों से ही तो वसूल होंगे। आज जो भी कर्ज इस मुआविजे को चुकाने के लिये सरकार लेगी उसका भार किसानों पर ही तो पड़ेगा, वह उन्हीं से तो सूद के साथ वसूल होगा। जो भी रुपया कर्ज लेकर या सरकारी खजाने से दिया जायगा वही अगर किसान-हित के कामों में खर्च होता तो वे कितने आगे बढ़ते? यही रुपये यदि उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य-सुधार, ग्रामीण सड़कों, सिंचाई, खेती की तरक्की, मार्केटिंग के प्रबन्ध आदि में खर्च हों तो सचमुच किसान प्रगति की छलाँगें मारने लगे। यही वजह है कि किसान-सभा इस मुआविजे की सख्त मुखालिफत करती है।

कहा जाता है कि किसान-सभा ने १९३७ में बने कांग्रेसी-मंत्रि-मंडलों को काफी परेशान और बदनाम किया। मगर यही तो कहने का भद्दा तरीका है। विरोध का सदा स्वागत किया जाता है। जब तक विरोध न हो ठीक रास्ते पर कोई नहीं चलता। विरोधी ही अधिकारारूढ़ दल की कमजोरियों को बताकर उन्हें सँभलने का मौका देते हैं। यदि मोटर और इंजिन में ब्रेक न हो तो पता नहीं मोटर और रेल कहाँ जा गिरें? और आखिर यह

ब्रेक है क्या चीज, यदि विरोध, रुकावट या 'अपोजीशन' नहीं है? उन दिनों किसान-सभा ने कांग्रेसी मंत्रियों को क्या गिराना या पदच्युत करना चाहता था? क्या इसका कोई प्रमाण है? उसने तो सिर्फ खतरे और खामियाँ सुझाकर मंत्रियों को समय समय पर सजग किया कि सँभल कर काम करें, जमींदारों के माया-जाल और चकमे में पड़कर पथ-भ्रष्ट न हों। फलतः मंत्री लोग सँभले जरूर और इस तरह किसानों को अपने साथ रख सके। आखिर तेली के बैल की तरह किसानों की आँखें मूँद कर हमेशा के लिये रखी नहीं जा सकती थीं। वे खुलती कभी न कभी जरूर और कांग्रेस के लिये बुरा होता। यदि अपने आप खुलतीं या यदि कहीं कांग्रेस के शत्रु खोलते तो तब तो भारी खतरा होता। किसान-सभा ने इन दोनों से कांग्रेस को बचाया। फलतः इसके लिये उसका कृतज्ञ होने के बजाय यह उलाहना और गुस्सा? उसने मित्र का काम किया। फिर भी यह नाराजी?

यह भी बात है कि राष्ट्रीय संस्था होने के नाते कांग्रेस सभी वर्गों की संस्था है। उसमें सभी वर्ग शरीक हैं, वह सभी दलों और श्रेणियों का प्रतिनिधित्व करती है। यही उसका दावा है। यही चाहिये भी। तभी सभी वर्ग के लोग उससे चिपकेंगे, उसे अपनी संस्था मानेंगे और फलस्वरूप उसे मजबूत बनाने की कोशिश करेंगे। ऐसी दशा में वह किसानों की संस्था या सभा कैसे हो सकती है? वह केवल एक वर्ग का प्रतिनिधित्व कैसे कर सकती है? यह तो उसकी कमजोरी का सबसे बड़ा कारण होगा; कारण, तब जमींदार, मालदार आदि दूसरे वर्ग उसका न सिर्फ साथ न देंगे, प्रत्युत उसके घोर शत्रु हो जायँगे। जमींदारी मिटाने का प्रश्न जो मुआविजा देकर उठाया गया है, उसका भी यही तात्पर्य है। जमाना बदल रहा है और अपार धन-सम्पत्ति लेकर जमींदार उसे उद्योग-धन्धों में लगायेंगे और मालामाल होंगे। जमीन से होने वाली एक बँधी-बँधाई आमदनी की जगह कल-कारखानों से होने वाली उत्तरोत्तर वृद्धिशील आमदनी होगी इन जमींदारों को, फिर चाहिये क्या? उस दशा में जमींदार कांग्रेस के शत्रु क्यों बनें? यदि वे विरोध करते हैं तो या तो नादानी से या यह उनकी

चालबाजी है। ऐसा न करते तो शायद किसानों के दबाव से कांग्रेस उन्हें मुआविजा भी न देती। आखिर कांग्रेस दल में अधिकांश जमींदार-मालदार और उनके संगी-साथी ही तो हैं। किसान-मनोवृत्ति के हैं कितने एम० एल० ए० ? और यही लोग जमींदारी मिटाने की बात इस रूप में समर्थन करते हैं। तो क्या वे सनक गये हैं ?

ऐसी दशा में न तो वह किसान जैसे एक वर्ग की संस्था बन सकती और किसान-सभा कांग्रेस के अधीन या उसकी मातहती में ही रह सकती है, रखी जा सकती है। ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। जब कभी किसान-सभा किसान-हितों के लिये जमींदारों से भिड़ना चाहेगी, तभी कांग्रेस के अनुशासन की नंगी तलवार उस पर आ गिरेगी। उसे कांग्रेस का रुख देखकर ही प्रतिपल चलना होगा। कांग्रेस का मुख्य काम है विभिन्न वर्गों के स्वार्थों का सामञ्जस्य रखना और ऐसा करते हुए ही आगे बढ़ना। वह तो एक वर्ग को दूसरे के विरुद्ध संघर्ष करने देना नहीं चाहती, नहीं चाहेगी। वह होगा वर्ग-युद्ध या श्रेणी-संघर्ष और वैसा होने पर कांग्रेस को किसी एक वर्ग का साथ उसमें देना ही पड़ेगा। फलतः उसकी राष्ट्रीयता जाती रहेगी। जिस वर्ग के विपरीत दूसरे का साथ देगी वह उससे हट जायगा। यह हटना समय-समय पर होता ही रहेगा, कारण, वर्ग-संघर्ष एक ही बार न होकर बार-बार होगा। तब उसकी राष्ट्रीयता कैसे निभेगी और सभी वर्गों की संस्था होने का सफल दावा वह कर सकेगी कैसे ? इसी से उसे वर्ग-सामञ्जस्य का रास्ता पकड़ना ही है। वह यही करती भी है। अतएव उसकी मातहत किसान-सभा को या उसके किसान-विभाग को भी यही करना होगा। उसे भी वर्ग-सामञ्जस्य की माला जपनी होगी। फिर भी उसे किसान-सभा का नाम देना उसका उपहास करना है, जब तक कि स्वतन्त्रतापूर्वक वह किसान-हितों के लिये संघर्ष न कर सके, ऐसा करने की पूरी आज़ादी न हो।

कहा जा सकता है कि इस वर्ग-सामञ्जस्य की नीति के फलस्वरूप जमींदार वर्ग की भी हित-हानि हो सकती है। क्योंकि उनके लिये भी तो

कांग्रेस कभी संघर्ष न करेगी। तब घबराहट क्यों? बात ऊपर से ठीक दीखती है। मगर असलियत कुछ और ही है। कभी किसी ने देखा-सुना ही नहीं कि कांग्रेस जमींदार सभा को भी अपनी मातहती में रखे या अपना एक जमींदार-डिपार्टमेन्ट खोले। उसका यत्न तो केवल किसान-सभा को ही न होने देने तथा अपने मातहत रखने में है। मजदूर-सभा की भी स्वतंत्र सत्ता वह स्वीकार करती है और जमींदार-सभा की भी। पूँजीपतियों की सभा का तो कुछ कहना ही नहीं। बल्कि यों कहिये की पूँजीपतियो एवं जमींदारों की सभाएँ कांग्रेस की पर्वा भी नहीं करती हैं। वह अपना स्वतंत्र कार्य किये जाती हैं। इसीलिये कांग्रेस के वर्ग-सामञ्जस्य वाले सिद्धान्त से उनकी हानि नहीं होती, नहीं हो सकती। उनकी संस्थायें निरन्तर लड़ती जो रहती हैं। बस, सारी बला किसानों पर ही आती है, आने वाली है। क्योंकि उनकी स्वतंत्र संस्था रहने न पाये इसी के लिये कांग्रेसी नेता परीशान रहते हैं और इस तरह किसान-सभा को पनपने नहीं देते। तब किसानों के हित चौपट न हों तो होगा क्या? वे सभी वर्ग संस्थाओं को समान रूप से पनपने न देते तो एक बात थी। मगर सो तो होता नहीं। ऐसी दशा में कांग्रेस के अधीन किसान-सभा का ढाँचा खड़ा करना निरी प्रवंचना है। दरअसल कांग्रेस में जमींदारों का प्रभुत्व ठहरा और वह इसी ढंग से किसानों को उठने देना नहीं चाहते। यह उनकी चाल है कि अनेक वर्गीय संस्था के अधीन किसानों की वर्ग संस्था को बनाने का ढोंग रचकर उन्हें सदा पंगु ही रखें। पहले तो किसान-सभा के नाम से ही नाक-भौं सिकोड़ते थे। मगर उससे कुछ होता जाता न देख अब यह दूसरा प्रपंच खड़ा किया जा रहा है।

कहा जा सकता है कि कांग्रेस में दूसरे वर्ग—जमींदार, पूँजीपति और मजदूर—नगण्य से हैं; फलतः वे अपनी अलग सभायें बनाकर भी कांग्रेस का कुछ बिगाड़ नहीं सकते जब तक किसान कांग्रेस के साथ हैं। हाँ, यदि किसान भी अलग हों तो भारी खतरा होगा और उनकी स्वतंत्र संस्था—किसान-सभा—बन जाने में इसकी पूरी संभावना है। किसानों ने

यदि कांग्रेस को छोड़ा तो उसकी जड़ ही कट जायगी।

लेकिन यह कोई दलील नहीं है, यदि किसान-सभा का संचालन कांग्रेस-जन ही करें तो क्या हर्ज है? तब किसानों को उसके विरुद्ध जाने का मार्ग कौन सिखायेगा? क्या वही कांग्रेसी ही? यह तो विचित्र बात है। और अगर यह बात हो तो आखिर बकरे की माँ कब तक खैर मनायेगी? किसानों को सदा कांग्रेस की दुम में बाँध रखना असंभव है। संसार में और भारत में भी वर्ग संस्थायें हैं, यह ठोस सत्य है। फिर किसान इससे अछूते रहें, उन्हें यह वर्ग संस्था की हवा न लगे, यह गैर-मुमकिन है। परिणाम यह होगा कि अभी तो कांग्रेस-जन ही वह वर्ग संस्था बना सकते हैं, बनाते हैं। मगर पीछे कांग्रेस के विरोधी बना के ही दम लेंगे और ये कांग्रेसी लीडर उनका कुछ कर न सकेंगे। फलतः कांग्रेस-विरोधियों का प्रभुत्व किसान-सभाओं पर न हो, सिर्फ यही देख-भाल कांग्रेस की दृष्टि से अवश्य की जानी चाहिये जब तक आजादी की लड़ाई जारी है और मुल्क स्वतंत्र नहीं हो जाता। इसके आगे जाना अनुचित काम एवं अनधिकार चेष्टा है। जमींदार हजार उपायों से किसानों को तबाह करते रहें और आप से कुछ नहीं होता मगर ज्यों ही किसान अपनी संघ-शक्ति के द्वारा उनका संगठित रूप से सामना करने की तैयारी करता और एतदर्थ किसान-सभा बनता है कि आप लोग हाय-तोबा मचाने लगते हैं। यह बात अब किसान भी समझने लगा है और कांग्रेस के लिये यह अच्छा नहीं है।

यदि किसान-सभा कांग्रेस का पुछल्ला नहीं बनती, यदि इसमें किसानों के लिये खतरा है और इसीलिये स्वतंत्र किसान-सभा का बनना अनिवार्य है, तो वह अनेक राजनीतिक दलों तथा पार्टियों की भी दुम न बनेगी। यदि उस पर कांग्रेसी लीडरों की हुकूमत असह्य है, तो फिर पार्टी लीडरों की मुहर भी क्यों लगे? उसकी स्वतंत्रता तो दोनों ही तरह से चौपट होती है और वह मजबूत हो पाती नहीं। हम उसे बलवती वर्ग संस्था बनाना चाहते हैं और ऐसा करने में यदि कांग्रेस बाधक है तो ये पार्टियाँ कम

बाधक नहीं हैं। गत पन्द्रह साल के अनुभव से हम यह बात कहने को विवश हैं। पार्टियों की पहली कोशिश यही होती है कि किसान-सभा या मज़दूर-सभा उनका पुछल्ला बनें, उनका प्रभुत्व और उनकी छाप इन सभाओं पर लगे। यदि ऐसा हो गया, तो ये सभाएँ बनें; नहीं तो जहन्नुम में जायँ। यदि कई पार्टियाँ हुईं—और हमारे देश में दुर्भाग्य से सोशलिस्टों, कम्यूनिस्टों, फारवर्ड ब्लाकिस्टों, क्रान्तिकारी सोशलिस्टों, बोल्शेविकों आदि की अलग-अलग पार्टियाँ हैं—तो किसान-सभा उनके आपसी महाभारत का अखाड़ा बन जाती है। उनकी आपसी खींच-तान से यह ठीक-ठीक पनप पाती नहीं, तगड़ी और जबर्दस्त बन पाती नहीं। हरेक पार्टी का अपना-अपना मन्तव्य होता है। वह भला होता है या बुरा, इससे हमें कोई मतलब नहीं। मगर वह परस्पर विरोधी तो होता ही है। यह बात चाहे ऊपर से देखने कहने के लिये न भी हो, फिर भी भीतर से होती ही है। यह ठोस सत्य है। यदि मन्तव्य का परस्पर विरोध न हो तो फिर कलह कैसी? फिर ये पार्टियाँ आपस में मिल जाती हैं क्यों नहीं? कम से कम लीडरी का विरोध तो रहता ही। हरेक पार्टी अपनी लीडरी चाहती है और यह और भी बुरी बात है। ऐसी दशा में बेचारी किसान-सभा इनके आपसी झगड़े का अखाड़ा क्यों बने, क्यों बनने दी जाय? और अगर किसी कल, बल, छल से एक पार्टी ने सभा में अपना बहुमत बनाना चाहा, तो ऐसा क्यों होने दिया जाय? इन्हें तो अपनी लीडरी का मर्ज है। किसान और उनकी सभा जायँ जहन्नुम में। किसानों और उनकी सभा का नाम यदि इनने कभी लिया है तो केवल अपनी लीडरी साधने के लिये। नाम चाहिये, काम जाय चूल्हे में। एकान्त में बैठकर ये पार्टी लीडर कोई बात तय करें, कोई मन्तव्य ठहरायें, और किसान-सभा में आकर उस पर उसे ही लादें यह बुरी बात है, अनुचित चीज है। सभा में ही बैठकर वह मन्तव्य ठीक क्यों नहीं करते? शायद तब उनकी लीडरी न रहे। मगर किसान-सभा तो रहेगी और जबर्दस्त रहेगी। यदि ये पार्टी लीडर ईमानदार हों तो उन्हें यही करना चाहिये। नहीं तो सभा को बख्श देना चाहिये।

एक बात और भी है। इन सभी पार्टियों का दावा है कि ये मजदूरों की पार्टियाँ हैं। कम्युनिस्ट पार्टी का तो यही दावा है। लेनिन को कम्युनिस्ट पार्टी का नामकरण या जन्म बोल्शेविक पार्टी से ही हुआ रूस की अक्टूबर १६१७ की क्रान्ति की सफलता के बाद। और यह बोल्शेविक पार्टी बनी थी रूस की सोशल डेमाक्रेटिक लेबर पार्टी के ही बहुमत से। उस लेबर या मजदूर पार्टी के बहुमत ने जो निर्णय किया उसे अल्पमत ने न माना और वह अलग हो गया। इस तरह स्पष्ट है कि आज की कम्युनिस्ट पार्टी मजदूरों की ही पार्टी है। लेनिन के लेखों में सर्वत्र यही बात पाई जाती है। मार्क्स और एंगेल्स ने भी शुरू-शुरू में दूसरे-दूसरे नामों से इसे मजदूर पार्टी के रूप में ही बनाया। ऐसी दशा में किसानों की वर्ग संस्था उस मजदूर पार्टी की छत्रछाया या लीडरी में कैसे बन सकती और सबल हो सकती है? मजदूर पार्टी की अधीनस्थ किसान-सभा किसानों की स्वतंत्र वर्ग संस्था वास्तविक रूप से बन जायेगी कैसे? और अगर कम्युनिस्ट पार्टी इस ठोस सत्य को मिटाकर यह दावा करे कि वह किसानों तथा मजदूरों की—दोनों की—पार्टी है, तो प्रश्न होता है कि वह अनेक वर्गों की संस्था होकर किसानों की वर्ग संस्था को अपने अधीन कैसे रख सकेगी और उसके साथ न्याय कर सकेगी? किसान-सभा की नकल वह भले ही खड़ी करे। मगर असली और बलवती किसान-सभा वह हर्गिज न बनने देगी। बहुवर्गीय संस्था होने के नाते यदि कांग्रेस के मातहत किसान-सभा नहीं बन सकती तो कम्युनिस्ट पार्टी का पुछल्ला क्यों बनेगी?

कहा जा सकता है कि कांग्रेस के भीतर रहने वाले वर्ग परस्पर विरोधी हैं। दृष्टान्त के लिये जमींदारों का विरोध किसानों से है। फलतः उसकी मातहती में किसान-सभा नहीं बन सकती है। मगर किसानों तथा मजदूरों के स्वार्थों का तो परस्पर विरोध है नहीं, किसान और मजदूर भी परस्पर विरोधी वर्ग इसीलिये नहीं हैं। तब इन दोनों की संस्था स्वरूप इस कम्युनिस्ट पार्टी के अधीन किसान-सभा क्यों न होगी?

मगर यह दलील लचर है। अन्ततोगत्वा इन दोनों के स्वार्थ जरूर

मिल जाते हैं ; समाजवाद या साम्यवाद की दशा में इनका परस्पर विरोध नहीं होता, यह बात सही है। मगर प्रश्न तो वर्त्तमान दशा और समय का है और आज इनके स्वार्थों का विरोध स्पष्ट है। यदि गल्ले, साग-भाजी और फल-फूल आदि महँगे बिकें तो किसान सुखी हों और खुश रहें, मगर कारखाने के मजदूर नाखुश और तबाह हों। विपरीत इसके यदि कारखाने के बने माल—कपड़े आदि—महँगे बिकें और कारखानेदारों को ज्यादा लाभ हो तो मजदूरों के वेतन बढ़ें, उन्हें बोनस मिले और दूसरी सुविधायें मिलें। लेकिन इसमें किसान की तबाही है। उसकी पैदा की गई सारी चीजों की कीमत कपड़े आदि में ही लग जाती है और वह तबाह रहता है। यदि मजदूर अपनी माँगें मनवाने के लिये महीनों हड़ताल करें तो मिल-मालिक उनके सामने झुकें। मगर ऐसा होने पर मिल के बने कपड़े आदि महँगे होते और किसानों के ज्यादा पैसे इनमें लग जाते हैं। फलतः वह ये हड़तालें नहीं चाहते। ऐसी ही सैकड़ों बातें हो सकती हैं जिनसे दोनों के तात्कालिक स्वार्थों का परस्पर विरोध स्पष्ट है और ये तात्कालिक स्वार्थ ही उनकी दृष्टि को किसी रास्ते पर लाते हैं। ये भौतिक स्वार्थ हैं, प्रत्यक्ष हैं, आँखों के सामने हैं। इनके मुकाबिले में समाजवाद और साम्यवाद वैसे ही परोक्ष और केवल भावनामय हैं, दिमागी हैं, जैसी आजादी और स्वतंत्रता। जिस प्रकार तात्कालिक स्वार्थों को भूल कर हम इन्हें स्वराज्य संग्राम में सामूहिक रूप से आकृष्ट नहीं कर सकते, ठीक वैसे ही इन परस्पर विरोधी तात्कालिक स्वार्थों को अलग करके, इनकी पर्वा न करके हम किसानों या मजदूरों को सामूहिक रूप से अपनी सभा में आकृष्ट नहीं कर सकते। फिर समाजवाद के लिये ये तैयार कैसे किये जायँगे ? फलतः न्याय, ईमानदारी, दूरंदेशी और व्यावहारिकता का तकाजा यही है कि इन दोनों की सभायें एक दूसरे से स्वतंत्र हों और किसी भी पार्टी का उन पर नियंत्रण न हो। तभी उनमें बल आयेगा। कम से कम किसान-सभा तो तभी सबल और सजीव बन सकेगी और पीछे मजदूर-सभा के सहयोग से साम्यवाद स्थापित करेगी।

एक बात और। मार्क्सवादियों ने किसानों को मध्यम या बूर्जु वर्ग में माना है और प्रतिक्रियावादी कहा है। यह ठीक है कि परिस्थिति विशेष में यह बूर्जुवा वर्ग भी क्रान्तिकारी तथा आमूल परिवर्त्तनवादी (Revolutionary and Radical) होता है। यही बात किसान पर भी लागू है। यही बात लेनिन ने अपनी चुनी लेखमाला के अँग्रेजी संस्करण के १२ वें भाग के अन्त में लिखी है कि "In Russia we have a "radical bourgeois". That radical bourgeois is the Russian Peasant." मगर मजदूरों को तो सबों ने क्रान्तिकारी माना है। ऐसी दशा में ये दो वर्ग परस्पर विरोधी स्वयं सिद्ध हो जाते हैं। फिर इन दोनों की एक पार्टी कैसी ? इन दोनों का एक संगठन कैसा ? वर्त्तमान सामाजिक परिस्थिति में ये स्पष्ट ही दो परस्पर विरोधी दिशाओं में चलने वाले हैं। फलतः इनके स्वतंत्र संगठन बनाकर ही धीरे-धीरे इन्हें रास्ते पर लाना होगा।

कम्युनिस्ट पार्टी के सम्बन्ध में जो बातें अभी-अभी कही गई हैं वही अक्षरशः सोशलिस्ट पार्टी, फारवर्ड ब्लाक आदि पार्टियों के बारे में भी लागू हैं। क्योंकि उनका भी दावा वैसा ही है जैसा कम्युनिस्ट पार्टी का। यदि इनमें कोई यह भी दावा करती है कि उनके भीतर फटे हाल बाबुओं का वर्ग भी आ जाता है, या मध्यमवर्ग भी समाविष्ट हो जाता है, तो इसमें हालत जरा और भी बदतर हो जाती है। फलतः सच्ची और स्वतंत्र किसान-सभा बनाने का उनका भी दावा वैसे ही गलत है जैसे कम्युनिस्टों का। कम्युनिस्टों और रायिस्टों में इतनी विशेषता और भी है कि वह भारत की व्यापक, दहकती और सर्वत्र ओत-प्रोत होकर "युद्धं देहि" करने वाली राष्ट्रीयता का अपमान करते और उसकी अवहेलना करके भी कायम रहना चाहते हैं। वे अपनी अन्तर्राष्ट्रीयता के साँचे में इस राष्ट्रीयता को ढालने की भारी भूल करते हैं। यह बात इन पार्टियों में नहीं है। वे न तो ऐसी भूल करती हैं और न राष्ट्रीयता की अवहेलना ही करती हैं। वे राष्ट्रीयता को उसका उचित स्थान देती हैं। फिर भी किसान-सभा की स्वतंत्रता अलबत्ता

और वास्तविकता की दृष्टि से सबों का स्थान सभा नहीं है। सभा तो पार्टियों की किसान-सभा के बज़ बसहा बैल है पुजवाने के लिये, मगर किसानों को तो हल चलाने वाला बैल चाहिये।

एक महत्त्वपूर्ण बात और भी कहनी है। आखिर क्रान्ति करते हैं किसान और मजदूर ही। एतदर्थ उनकी वर्ग संस्थायें अत्यावश्यक हैं; कारण, वही उन्हें इसके लिये संगठित और तैयार करती हैं। बिना इन संस्थाओं के किसान और मजदूर सामूहिक रूप से तैयार किये जा सकते नहीं। यह बात सभी क्रान्तिकारियों को मान्य है, तो फिर राजनीतिक दलों और पार्टियों की जरूरत क्या है? इन दोनों सभाओं की कार्यकारिणी समितियाँ आपस में सहयोग करके क्रान्ति का संचालन एवं उसका नेतृत्व बखूबी कर सकती हैं। केवल दोनों के सहयोग की व्यवस्था होना जरूरी है और यह बात बिना पार्टियों के भी वे दोनों खुद ही कर सकती हैं। एक समय था जब राजनीतिक विचारों का पूर्ण विकास न होने के कारण पार्टियों की आवश्यकता मानी जाती थी ताकि वर्ग संस्थायें पथ-भ्रष्ट न हो जायँ और उन्हें गलत नेतृत्व न मिले। लेकिन इसी के साथ यह भी जरूरी माना जाता था कि सभी देशों की इन पार्टियों की भी एक अन्तर्राष्ट्रीय (International) पार्टी हो, जो सबों को सूत्रबद्ध रखकर उन्हें भी उचित नेतृत्व दे, ठीक रास्ते पर ले चले। यातायात और समाचार के साधनों के पूर्ण विकास के अभाव के चलते भी पथ-भ्रष्टता का खतरा था। एक दूसरे से सीधा सम्पर्क रखना असंभवप्राय् जो था। मगर आज तो इनमें एक भी बात नहीं है। राजनीति का विकास पराकाष्ठा को पहुँच चुका है, यातायात के साधन अत्यन्त तेज और सुलभ हैं, फोन, तार और रेडियो ने समाचार के प्रसार में क्रान्ति कर दी है और छपाई की कला ऐसी प्रगति कर गई है कि कुछ न पूछिये। इसीलिये राजनीति का अन्तर्राष्ट्रीय रूप भी ऐसा हो चुका है कि अब उसमें भ्रम की गुंजाइश नहीं, किसी पार्टी के नेतृत्व की जरूरत नहीं। मौजूदा साधनों के सहारे किसानों तथा मजदूरों की संस्थायें अपने कर्त्तव्य का नियमित निर्धारण अच्छी तरह कर सकती हैं।

इसीलिये अन्तर्राष्ट्रीय के सबसे बड़े पोषक एवं सूत्रधार मो० स्तालीन ने कई साल पूर्व एलान कर दिया कि ऐसी संस्था या पार्टी की अब जरूरत नहीं है। जिस तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय की देखा-देखी दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय बने, जब वही बेकार है, तो इनकी क्या जरूरत ? सोशलिस्ट पार्टी, फारवर्ड ब्लाक और क्रान्तिकारी सोशलिस्ट पार्टी का तो अन्तर्राष्ट्रीय से कोई सम्बन्ध है भी नहीं। ऐसी दशा में एक कदम और नीचे उतर कर इन सभी पार्टियों को भी खत्म क्यों न कर दिया जाय ? इनकी क्या जरूरत रह गई ? और जब कम्युनिस्ट पार्टी का सूत्रधार तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय न रहा, तो फिर यह पार्टी भी नाहक क्यों रहे ? अगर सिर्फ बाल की खाल खींचने, वामपक्षियों को टुकड़े-टुकड़े करने, नेतागिरी का हौसला पूरा करने और सभी वर्ग संस्थाओं में कलह और जूतापैजार ही इनका उद्देश्य हो तो बात दूसरी है। अब तो पार्टियों के भीतर भी आपस में ही लीडरी के झगड़े प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से चलने लगे हैं।

क्रान्तिकारी राजनीति और मार्क्सवाद के यथार्थ ज्ञान और तदनुसार अमल करने की ठेकेदारी इन पार्टियों को ही मिली है, ऐसा दावा दूर की कौड़ी लाना है और बीसवीं सदी के बीच में भी दुनिया को उल्लू समझने की अनधिकार चेष्टा करना है। और अगर यही बात हो तो फिर वह ठेका किस एक पार्टी को मिला है और कैसे, कहाँ से, यह भी सवाल उठता है। क्योंकि इसी ठेकेदारी की लड़ाई तो आखिर ये आपस में भी करती ही हैं। तब फैसला कैसे हो कि फलाँ पार्टी ही के पास वह ठेका है ?

किसान-सभा और मजदूर-सभा आपस में मिलकर यदि आवश्यकता समझें कि दोनों के सहयोग के लिये एक सम्मिलित समिति चाहिये तो उसका भी चुनाव दोनों की राय से हो सकता है। जैसे इन सभाओं की समितियाँ नीचे से ऊपर तक चुनाव से बनती हैं तैसे दोनों की या ऐसी ही और सभा को भी मिलाकर अनेकों की एक समिति से चुनाव से बन सकती है। उसी को पार्टी भी कहना चाहें तो भले ही कहें, मगर यह बाहर से

इन पर लड़ने वाली, लादे जाने वाली पार्टी कौन-सी बला है ? हम इसी से पनाह माँगते हैं।

कहा जाता है कि जब कांग्रेस के ६० प्रतिशत सदस्य और लड़ने वाले किसान ही हैं तो चुनाव के जरिये उसकी सभी कमिटियों पर वे आसानी से अधिकार जमा सकते हैं, और अगर वे ऐसा नहीं करते तो उनकी भूल है। हर हालत में किसान-सभा का स्वतंत्र संगठन फिजूल है। मगर अनुभव कुछ और ही है। इतिहास भी ऐसा ही बताता है। कांग्रेस मध्यमवर्गीयों की संस्था इस मानी में है कि इस पर उन्हीं का अधिकार है, प्रभुत्व है और यह उन्हीं की राय से चलती है, इसमें उन्हीं का नेतृत्व है। संसार में आजादी के लिये लड़ने वाली संस्थायें ऐसी ही होती हैं, अभी तक यही पाया गया है। यहाँ तक कि सबसे ताजा जो रूस का दृष्टान्त है वहाँ भी जारशाही के विरुद्ध जनतंत्र, शासन के लिये लड़ने वाली सोवियत नाम की संस्था मालदारों और मध्यमवर्गीयों के ही अधिकार में थी; हालांकि उसके सदस्य केवल किसान, मजदूर और सिपाही थे और तीनों ही पूरे शोषित थे। यही वजह है कि १६१७ की मार्च वाली क्रान्ति के फलस्वरूप जारशाही का अन्त हो के रूस में जनतंत्र के नाम पर धनियों का ही शासन कायम हुआ, जिसके विरुद्ध लड़ते रहके लेनिन को अक्टूबर वाली क्रान्ति करनी पड़ी और उसके फलस्वरूप किसान-मजदूरों का शासन वहाँ स्थापित हुआ। लेनिन जैसे महापुरुष और क्रान्तिकारी के रहते भी जब सोवियत पर किसान-मजदूरों का अधिकार और नेतृत्व न हो सका, हालांकि उसके सदस्य धनी लोग न थे, तो हम जैसों कि क्या बिसात कि कांग्रेस पर अधिकार जमा सकें, जब कि उसमें धनी और उनके पोषक काफी सदस्य हैं ? सोवियत का विधान चवनिया मेम्बरी वाला या इस तरह का न था, जिसमें जाल-फरेब हो और फर्जी मेम्बर बनाकर कमिटियों पर अधिकार किया जा सके। उसके सदस्य तो बालिग किसान, मजदूर और सिपाही मात्र थे। फलतः बनावटी मेम्बर बनने-बनाने की गुंजायश वहाँ न थी, मगर कांग्रेस में खूब है और यह रोज की देखी बात

है। लेकिन जब लेनिन विफल रहा तो यहाँ कौन सफलता की आशा करे ? इन चुनावों में हजार प्रलोभनों, जाल-फरेबों और दबावों से काम लेकर धनी लोग ही आम तौर से विजयी हो सकते हैं, होते हैं। यही कटु और ठोस सत्य है और यह कोई नई बात नहीं है। कांग्रेस पर किसानों के नेतृत्व और अधिकार की बात, ऐसी हालत में, निरा पागलपन है और धोका है। फलतः किसान-सभा का स्वतंत्र संगठन होना ही चाहिये।

जब कराची तथा फैजपुर में कांग्रेस ने स्वतंत्र किसान संगठन के सिद्धान्त को मान लिया है तो उसका विरोध क्यों ? यदि किसान-सभा को कांग्रेस कमिटियों की मातहत या उनके अंग की ही तरह बनाने की बात न होती तो फिर कांग्रेस के द्वारा उनके स्वीकृत होने की बात क्यों कही जाती ? विभिन्न मातहत कमिटियों के स्वीकृत होने का प्रश्न तो उठता ही नहीं। लेकिन फैजपुर के किसान प्रोग्राम की आखिरी, १३ वीं, चीज यही है कि कांग्रेस किसान-सभाओं को स्वीकार करे—"Peasant unions should be recognised."

कहा जाता है कि अभी किसान-सभा की क्या जरूरत है ? अभी तो अँग्रेजी सरकार हटी नहीं और स्वराज्य आया नहीं, बीच में ही यह बेसुरा राग कैसा ? विदेशी सरकार के हटने पर ही प्रश्न उठेगा कि किसका राज्य हो ? किसानों का हो ? मजदूरों का हो ? या कि औरों का ? उससे पहले ही यह तूफाने बदतमीजी कैसा ? यह तो मुसलिम लीग की जैसी ही बात हो गई कि पहले ही बँटवारा कर दो, अँग्रेजी शासन के रहते ही हमारा हिस्सा दे दो। इस आपसी झगड़े में तो वह स्वराज्य मिलने का नहीं। फिर अभी वह हमारा हो, हमारा हो, ऐसा हो, वैसा हो, की तैयारी कैसी ? यह वर्ग-संघर्ष और श्रेणी-युद्ध तो उसमें बाधक होगा न ? तब तदर्थ किसान-सभा का यह हो-हल्ला एवं महान् प्रयास क्यों ?

लेकिन यदि इन प्रश्नों की तह में घुस के देखा जाय तो किसान-सभा की असलियत, अहमियत और आवश्यकता साफ हो जाती है। दरअसल स्वराज्य के दो पहलू हैं—विदेशी शासन का अन्त और अपने शासन,

अपने राज्य, 'स्व-राज्य' की स्थापना। इनमें पहला निषेधात्मक और दूसरा विधानात्मक या निर्माण स्वरूप है। 'स्वराज्य' कहने से उसके निर्माणात्मक पहलू पर ही सर्वप्रथम दृष्टि जाती है और वही प्रधान है, मुख्य है, असल है। निर्माण के बिना कुछ हो नहीं सकता। लेकिन निर्माण के पूर्व ध्वंस आवश्यक है, कूड़े-करकट और रास्ते के रोड़ों को हटाना जरूरी है। नींव खोदने पर ही मजबूत महल खड़ा होता है। नींव के स्थान पर पड़ी हुई मिट्टी बाधक होती है उस महल के निर्माण में। इसीलिये खोदकर उसे हटाना पड़ता है। विदेशी शासन भी अपने शासन के निर्माण में बाधक है। इसीलिये उसका हटाना जरूरी हो जाता है और स्वराज्य के भीतर वह अर्थात् आ जाता है। इसीलिये वह गौण है, अप्रधान है।

मगर हमारे कांग्रेसी नेता उसी पर ज्यादा जोर देते हैं, हालांकि चाहिये जोर देना निर्माणात्मक पहलू पर। यही उनकी भारी भूल है। आखिर विदेशी शासन के हटने पर कोई शासन बनेगा, या कि अराजकता ही उसका स्थान लेगी? "अपनी-अपनी डफली, अपनी-अपनी गीत" होगी क्या? यह तो कोई नहीं चाहता। प्रत्युत विदेशी शासन हटाने-मिटाने के सिलसिले में ही कोई न कोई शासन बनाना ही पड़ेगा, कोई सरकार खड़ी होगी ही। तभी आसानी से सफलतापूर्वक विदेशी हुकूमत को हम मिटा सकते हैं। वही सरकार समानान्तर सरकार कही जाती है राजनीति की भाषा में। पीछे चलकर उसी सरकार को मजबूत बनाते हैं, यह बुनियादी बात है।

अब प्रश्न होता है कि वह सरकार किसकी होगी? कैसी होगी, कौन सी होगी? यह बड़े प्रश्न हैं और महत्व रखते हैं। यह कहने से तो काम चलता नहीं कि वह सरकार हिन्दुस्तानियों की होगी? हिन्दुस्तानी तो चालीस करोड़ हैं न? तब इनमें किनकी होगी? ये चालीस करोड़ भी जमींदार, किसान, पूँजीपति, मजदूर आदि परस्पर विरोधी वर्गों में बँटे हैं, तो फिर इनमें किन वर्गों की होगी? जमींदारों की? पूँजीपतियों की? तब किसान या मजदूर उस स्वराज्य की सरकार की स्थापना के लिये,

उस स्वराज्य के लिये क्यों लड़ें ? उस सरकार और विदेशी सरकार में नाम मात्र का ही फर्क होगा। असलियत प्रायः एक सी ही होगी। किसान-मजदूरों की कमाई की लूट तो उसमें भी जारी ही रहेगी। अन्तर सिर्फ यही होगा कि इस समय जो लूट का माल लंकाशायर, मैञ्चेस्टर या इंगलैंड जाता है, वही तब बम्बई, अहमदाबाद, कानपुर, छतारी, दरभंगा जायगा। कमाने वाले किसान-मजदूरों को क्या मिलेगा ? ये प्रश्न स्वाभाविक हैं और सारी दुनिया में किये जा चुके हैं। किसान-मजदूरों को सारी शक्ति के साथ प्राण-पण से स्वराज्य के युद्ध में आकृष्ट करने के लिये इनका उनके लिये संतोषजनक उत्तर मिलना आज जरूरी है। किसान-सभा इन्हीं प्रश्नों का मूर्त्त उत्तर है।

मुसलिम लीग की बात दूसरी है। उसे लड़ना नहीं है या तो उसे यथाशक्ति बाधा डालना है, या अन्त में बिना कुछ किये ही आधा हिस्सा लेना है, इसीलिये वह अभी से बँटवारा चाहती है। मगर किसानों को लड़ना है और जम के लड़ना है। उसी लड़ाई को प्राण-पण से चलाने के लिये वह अभी से तय कर लेना चाहते हैं कि लड़ाई का नतीजा उनके लिये क्या होगा। इस प्रकार दोनों में बड़ा फर्क है, यह स्पष्ट है। दोनों के दो रास्ते हैं। एक को लड़ना है और दूसरे को बाधा देना।

यदि उत्तर दें कि कांग्रेस का राज्य होगा तो खयाल होगा कि कांग्रेस में मालदारों का प्रभुत्व होने के कारण उसका राज्य तो नामान्तर से उन्हीं मालदारों का होगा। यदि कहा जाय कि किसानों और मजदूरों का राज्य होगा तो प्रश्न होगा कि क्या कहीं भी यह बात अब तक हो पाई है ? फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका, इङ्गलैंड, रूस, इटली आदि सभी देशों में आजादी की लड़ाई के लीडर यही कहते थे कि किसान-मजदूरों के हाथ में शासन होगा। अमेरिका में अँग्रेजी शासन को हटाने के समय ऐसा ही कहा जाता था जैसा यहाँ कहते हैं। मगर वहाँ मालदारों का ही राज्य हुआ और किसान-मजदूर दुखिया के दुखिया ही रह गये, सर्वत्र यही हुआ। यहाँ तक कि रूस में भी यही हुआ और पीछे किसान-मजदूरों को पुनरपि लड़

कर ही शासन-सत्ता उनके हाथ से छीननी पड़ी। शेष देशों में वे विफल ही रहे। क्यों? कारण हमें ढूँढ़ना होगा और रूस के दृष्टान्त में वह मिलेगा। अन्य देशों में आजादी के युद्ध के समय किसानों ने राष्ट्रीय नेताओं की प्रतिज्ञाओं पर विश्वास करके अपनी अलग तैयारी न की, अपना स्वतंत्र संगठन न किया। फलतः अन्त में धोखे में रहे, मुँह ताकते रह गये। विपरीत इसके रूस में लेनिन ने मजदूरों का स्वतंत्र संगठन किया और किसानों का भी। अमेरिका आदि से उसने यही सीखा था। वहाँ इस संगठन का अभाव होने से ही धोखा हुआ था, अतः रूस में उसने इसी अभाव को मिटाया। यहाँ तक कि किसानों के संगठन में तब तक उसे सफलता न मिल सकने के कारण उसने वामपक्षी सोशल रेवोल्यूशनरी दल को जो किसान-सभावादी था, अपने साथ मिलाया और अक्टूबर की क्रांति के बाद अपनी सरकार बनाकर इस दल को भी उस सरकार में स्थान दिया। उसकी सफलता की यही कुंजी थी।

सोशल रेवोल्यूशनरी दल को साथ लेने से यह भी सिद्ध हो जाता है कि बोल्शेविक और कम्युनिस्ट पार्टी किसानों की पार्टी नहीं थी, नहीं हो सकती है। जब लेनिन सफल किसान-सभा न बना सका तो आज के कम्युनिस्ट किस खेत की मूली हैं? हाँ, अधिकार मिलने पर भले ही बना सकते हैं, मगर उससे पहले नहीं, यह ध्रुव सत्य है।

भारत में भी हमें वही करना है, हम वही करते हैं। किसानों का स्वतंत्र संगठन वही तैयारी है जो लेनिन ने की थी। यदि वह सोवियत के नेताओं की प्रतिज्ञाओं, प्रस्तावों और घोषणाओं पर विश्वास करके मान बैठता कि जारशाही के अन्त के बाद किसान-मजदूर-राज्य या किसान-मजदूर प्रजा-राज्य अवश्यमेव स्थापित हो जायगा, जैसा कि हमारे यहाँ भी कुछ तथाकथित किसान नेता कहते फिरते हैं, तो वह धोखा खाता और पछता के मरता। राजनीति में किसी भी संस्था की और विशेषतः आजादी के लिये लड़ने वाली राष्ट्रीय संस्था की महज प्रतिज्ञा, उसके प्रस्ताव या उसकी घोषणा एवं उसके कुछ प्रगतिशील नेताओं के उदात्त विचारों तथा

उद्‌गारों पर विश्वास करके बैठे रह जाना सबसे बड़ी नादानी है। ऐन मौके पर या तो ये सारी प्रतिज्ञायें, घोषणायें और प्रस्ताव-उद्‌गार उनके करने वाले ही स्वयं भूल जाते हैं या उनके न भूलने पर भी उन्हें विवश और असमर्थ बना दिया जाता है कि वे तदनुसार कुछ भी कर न सकें। परिस्थिति और मालदारों के षड्‌यंत्र उन्हें बेकार और पंगु बना देते हैं। अमेरिका प्रभृति देशों के स्वातन्त्र्य-संग्राम ने हमें यही पाठ पढ़ाया है। हमें आजादी लेने के बाद पुनरपि अपने ही मालदार भाइयों और उनके संगी-साथियों से जमकर प्राण-पण से युद्ध करना ही होगा, खून का दरिया तैर कर पार करना ही होगा। तभी किसानों का राज्य होगा, उनके हाथ में शासन-सत्ता आयेगी; न कि महात्मा गांधी या पंडित नेहरू के कहने या कांग्रेस के प्रस्ताव मात्र से ठीक समय पर उस कथन या प्रस्ताव पर अमल कराने के लिये हमारी अपनी शक्ति चाहिये, तैयारी चाहिये, और यह स्वतंत्र किसान-सभा वही तैयारी है, उसी शक्ति का अभी से संचय है। क्योंकि मौके पर एकाएक शक्ति नहीं आ सकती। जो पहलवान अखाड़े में लड़ने का अभ्यास पहले से नहीं करता, वह एकाएक दूसरे पहलवान को पछाड़ नहीं सकता। स्वतंत्र किसान-सभा किसानों के मल्ल युद्ध, अभ्यास और तैयारी का अखाड़ा है।

कांग्रेस की मजबूती भी इसी प्रकार होगी। किसान-सभा के द्वारा किसानों के हकों के लिये सामूहिक रूप से लड़कर हम किसानों का पूर्ण विश्वास प्राप्त कर सकेंगे और इस प्रकार उन्हें किसान-सभा में सामूहिक रूप से आकृष्ट करेंगे। जो वर्ग-संघर्ष कांग्रेस कर नहीं सकती, जिसके करने में उसे दिक्कत है, जैसा कि कहा जा चुका है, उसे ही हम कांग्रेसजन किसान-सभा के जरिये करके किसानों के दिल-दिमागों को जीत लेंगे। क्योंकि भौतिक स्वार्थ की सिद्धि उन्हें हमारे साथ खिंच आने को विवश करेगी। यही मानव स्वभाव है। फिर विदेशी सरकार से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संघर्ष के समय देश के राजनीतिक मामले में हम आसानी से इसी किसान-सभा के जरिये किसानों को सामूहिक रूप से कांग्रेस के साथी, भक्त और अनुयायी बना डालेंगे। फलतः संगठित एवं शक्तिशाली किसान-सभा

शक्तिशाली कांग्रेस का मूलाधार है, उसके लिये अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

जो लोग किसान-सभा के विरुद्ध कमर बाँधे खड़े रहकर भी कांग्रेस-कांग्रेस चिल्लाते हैं, उन्हें एक बुनियादी बात याद रखनी होगी। इस ओर हमने पहले इशारा किया भी है। यहाँ जरा उसका विस्तार करना जरूरी है। किसान-सभाओं को हम असहयोग युग के बाद ही पाते हैं। किसान-आन्दोलन का संगठित रूप उसके बाद ही मिलता है। क्यों? यह प्रश्न विचारणीय है। उसके पहले न तो मुल्क में और न किसानों में ही यह आत्म-विश्वास था कि अपने शत्रुओं के विरुद्ध कोई संघर्ष सफलतापूर्वक चला सकते हैं, और न संगठित जनान्दोलन का महत्व ही उन्हें विदित था। १८५७ के विफल विद्रोह के बाद लोगों में जो भयंकर पस्ती और निराशा आई थी वह दिनों-दिन गहरी होती जाती थी। देश की सबसे बड़ी संस्था थी कांग्रेस, परन्तु वह भी केवल 'भित्तां देहि' का मंत्र जपती थी। उसकी माँगों के पीछे कोई शक्ति न थी। विदेशी शासन जेठ के मध्याह्न सूर्य की तरह तपता था। लाल पगड़ी और गोरे चमड़े को देख लोगों के देवता कूच कर जाते थे। चारों ओर अंधकार ही था। रौलट कानून और पंजाब के मार्शल्ला के बाद शासकों की अकड़ और भी तेज हो चुकी थी। तुर्कों के अंग-भंग को मुसलमान संसार रोकने में में असमर्थ था। हमारी न्यायतम माँगों पर भी हमारे आका घृणा एवं अपमान की हँसी हँस देते थे और बस। तब तक हमने यही सीखा था कि अखबारों और सभाओं के द्वारा पढ़े-लिखे शहरी लोग ही कुछ भी कर सकते हैं। मगर उनसे भी कुछ होता जाता दीखता न था। जलियानवाला बाग के बाद हन्टर कमिटी की लीपा-पोती ने जले पर नमक छिड़क दिया था। सारा देश किंकर्त्तव्य-विमूढ़ था।

ठीक उसी समय महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने नागपुर में १९२० के दिसम्बर में गाँवों की ओर मुँह मोड़ा और शान्ति-पूर्ण सीधी लड़ाई का रास्ता पकड़ा। नेताओं ने कहा कि हम निहत्थे

भारतीय चाहें तो एक साल के भीतर अँग्रेजी सल्तनत को भगाकर अपनी सरकार कायम कर लें। यह अजीब दावा था, अफीमची की पिनक जैसी बात थी। मगर बार-बार कहने पर देश ने इसे सुना और सचमुच ही सरकार का आसन डिगा दिया। बृटिश सरकार जैसे काँप उठी। सम्राट के प्रतिनिधि लार्ड रीडिंग ने १९२१ के दिसम्बर में कलकत्ते में कहा कि "मेरी अक्ल हैरान है कि यह क्या हो गया"— "I am puzzled and perplexed" जो देश पस्त था, सदियों से अंगचित्त पड़ा था वह एकाएक अँगड़ाई ले के अपने पाँवों पर खड़ा हो गया। उसे अपनी अन्तर्निहित अपार शक्ति का एक बार प्रत्यक्ष भान हो उठा। यह कांग्रेस की बड़ी जीत थी कि निहत्थी जनता ने जेलों, जुर्मानों और फाँसी का भय छोड़ दिया। मुल्क की सुप्त आत्मा जग उठी। जो पहलवान साधारण मर्दों से भी भयभीत हो उठता था वही सबसे बड़े मल्ल को पछाड़ कर अपने अपार बल का अनुभव करने लगा।

इसका अनिवार्य परिणाम ऐसा हुआ जिसका किसी को सपने में भी खयाल था नहीं। जब भारतीय किसानों ने बृटिश सिंह को एक बार धर दबोचा, तो उनने स्वभावतः सोचा कि ये राजे-महाराजे, जमींदार और साहुकार उसी के बनाये तथा उसी की छत्रछाया में पलने-पनपने वाले हैं; ये उसके सामने बिल्ली और चुहिया से भी गये गुजरे हैं। फिर भी इनकी हिम्मत कि हमें लूटते रहें ! "अबलौं नसानी तो अब ना नसैहौं" के अनुसार उनने सोचा कि अब तक हम सोये थे और अपनी प्रसुप्त शक्ति को समझते थे नहीं, जिससे इनने हमें लूटा सताया। मगर अब ऐसा हर्गिज होने न देंगे। जब इनके आकार को हम निहत्थों ने पछाड़ा तो इनकी क्या हस्ती ? बस, उस असहयोग आन्दोलन के महान् विजय की यही प्रतिक्रिया किसान जनता में हुई जो क्रमशः दृढ़ होती गई। उसी का फल और व्यावहारिक रूप यह किसान-सभा है। और अगर हमारे लीडर आज इससे घबराते हैं तो वह बेकार है। यह बात उन्हें पहले ही सोचनी थी जब किसानों को अंग्रेजी सल्तनत के साथ जूझने को

उभाड़ा था। व्यभिचारिणी स्त्री पेट में गर्भ होने पर पछताती है सही; लेकिन यह उसकी मूर्खता है। उसे तो व्यभिचार के ही समय यह परिणाम सोचना था।

बात दरअसल यह होती है कि स्थिर स्वार्थ वाले सम्पत्तिजीवी तब तक जनान्दोलन से नहीं घबराते जब तक उनके स्वार्थों पर आघात की आशंका न हो, प्रत्युत स्वार्थ-सिद्धि के लिये जनान्दोलन और क्रान्तिकारी संघर्षों तक को प्रोत्साहित करके अपना काम निकालते हैं। फ्रांस, रूस आदि क्रान्तियाँ इसका ज्वलन्त प्रमाण हैं। बिना जनता की सीधी लड़ाई के मालदारों को पूरे हक नहीं मिलते, ताकि उद्योग-धन्धों का बेतहाशा प्रसार कर माल बटोरें। इसी से उसको प्रोत्साहन देते हैं। उस समय तो उन्हें लाभ ही नजर आता है। यही बात १९२१ वाले और बाद के कांग्रेसी संघर्षों में भी हुई। नेताओं ने खुश होके जनता को ललकारा-उभाड़ा। उन्हें कोई खतरा तो तब दीखा नहीं, मगर अब जब जनता अपनी शक्ति का अनुभव करके उनसे भी दो-दो हाथ करने को आमादा हो गई तो लगे बगलें झाँकने और बहानेबाजियाँ करने। अब उन्हें अपने लिये खतरा नजर आ रहा है। इसीलिये किसान-सभा को कोसते हैं। उन्हें अपने ही बनाये जनान्दोलन से भय होने लगा है। मगर अब तो उनकी भी लाचारी है। अब तो तीर छूट चुका। फिर पछताने से क्या? चीख-पुकार मचाने से क्या? प्रत्युत वे जितना ही इसका विरोध करेंगे किसान-सभा उतनी ही तेज होगी, यह अटल बात है। हमें दर्द के साथ यह भी कहना पड़ता है कि लोगों को कांग्रेस से चिपकाये रखने के लिये वस्तुस्थिति और व्यावहारिकता का आश्रय न लेकर अनुशासन की तलवार का सहारा लिया जाना ही अच्छा समझा जाने लगा है। यदि कांग्रेस की भीतरी खूबियाँ, उसके अन्तर्निहित गुण तथा उसकी ऐतिहासिक आवश्यकता हमें उसकी ओर आकृष्ट नहीं कर सकती है, एतन्मूलक उसमें होने वाली यदि हमारी भक्ति पूरे पचीस साल की उसकी लगातार की कसमकश के बाद भी नाकाफी है तो अनुशासन की नंगी

तलवार उसकी पूर्ति कभी कर नहीं सकती। तब तो कहना ही होगा कि कांग्रेस के नेता अपना हृदय-मन्थन करें और पता लगायें कि उनकी तपस्या एवं कांग्रेस के कार्य-क्रम में कौन सी बड़ी खामी है, जिससे यह खतरा बना है कि लोग उससे भड़क जायँ, बिचल जायँ। असली शक्ति किसी संस्था की भीतरी खूबी और ऐतिहासिक आवश्यकता ही है। उसी के करते वह शक्तिशाली होती है और यह बात कांग्रेस में मौजूद है। फिर बात-बात में अन्देशा क्यों? कांग्रेस कोई छुई-मुई नहीं है। वह तो इस्पात की बनी है। किसान-सभा की भी ऐतिहासिक आवश्यकता है, जैसा कह चुके हैं।

कहा जा सकता है कि कांग्रेस के सफल असहयोग आन्दोलन तथा संघर्ष का परिणाम ही यदि किसान-सभा है तो १९२२-२३ के बाद ही उसकी स्थापना न होकर १९२७–२८ या २९ क्यों हुई? इतनी देर क्यों? बात यह है कि विचारों के परिपक्व एवं स्थायी बनने में विलम्ब होने के नियमानुसार ही यहाँ भी देर हुई। प्रतिक्रिया तो हुई, मगर उसे कार्यरूप में परिणत करने के पूर्व उसमें स्थिरता और परस्पर विचार-विमर्श आवश्यक था, उसे परिपक्व होना जरूरी था। यह भी बात है कि इन बातों के लिये समय आवश्यक है। ये एकाएक नहीं होते। इसके अलावा किसान-सभाओं के चलाने के लिये जो किसानों के हजारों युवक और पढ़े-लिखे लोग जरूरी थे वे भी असहयोग के करते बाहर आये सही, ऊपर आ गये जरूर। मगर उनका भी पारस्परिक विचार-विनिमय जरूरी था इस काम को चालू करने के लिये। राजनीतिक परिस्थिति का डावाँडोल होना, परिवर्त्तन-अपरिवर्त्तनवाद वाली उस समय की कलह और सत्याग्रह जाँच समिति की कार्यवाही आदि बातों के चलते भी काफी गड़बड़ रही और इस काम में देर हुई। फलतः यदि दो-चार साल इसी उधेड़-बुन में लग गये तो यह कोई बड़ी बात न थी। इससे प्रत्युत इस काम में दृढ़ता आई। कम से कम बिहार में कांग्रेस के सभी नेता प्रारम्भ में इसमें खिंच आये और उनसे पर्याप्त प्रेरणा भी मिली, यह

भी इसका सबूत है कि किसान-सभा का अविच्छिन्न सम्बन्ध कार्य-कारण के रूप में कांग्रेस के साथ है, यह कांग्रेस-संघर्ष का स्वाभाविक परिणाम है। अतएव अब उसका विरोध करना केवल चट्टान से सर टकराना है। अब इसमें बहुत देर हो चुकी है। और जब गत वर्ष श्री पुरुषोत्तमदास जी टण्डन की अध्यक्षता में हिन्द-किसान-सभा ने यह स्पष्ट घोषित कर दिया कि स्वातन्त्र्य संग्राम से सम्बन्ध रखने वाली राजनीतिक बातों में साधारणतः किसान-सभा का प्रत्येक सदस्य कांग्रेस से ही प्रेरणा और नेतृत्व प्राप्त करेगा, तो फिर हाय-तोबा मचाने की वजह क्या रही ?

एक ही बात जो निहायत जरूरी है, रह जाती है। बड़े-बड़े नेता तक कह डालते हैं कि जभी कांग्रेस-मंत्रि-मंडल बनते हैं तभी बकाश्त के संघर्ष छेड़ कर ये किसान-सभावादी सिर्फ उन्हें परीशान करते हैं। ये संघर्ष इन मंत्रि-मंडलों के अभाव में नहीं होते। इससे इस सभा की बदनीयती सिद्ध होती है। इसीलिये इसे रहने देना कांग्रेस के रास्ते के रोड़े को कायम रखना है।

मगर यह बात गलत है। बिहार में ही ये बकाश्त संघर्ष ज़्यादातर होते हैं और हुए हैं और वहाँ इनका श्रीगणेश मुँगेर जिले के बड़हिया टाल में १६३६ में ही हुआ था जब इन मंत्रियों का पता भी न था, जब असेम्बली के चुनाव हुए भी न हुए थे। चुनाव के बाद कांग्रेसी मंत्री न होकर जब दूसरे ही लोग मंत्री के रूप में कुछ महीने गद्दी पर थे, उस समय यह संघर्ष काफी तेज था। किसान-स्त्री-पुरुषों और सेवकों पर घुड़सवारों ने घोड़े दौड़ाये थे उसी समय। यह एक ठोस ऐतिहासिक बात है, जिससे इन्कार किया जा नहीं सकता। इसी प्रकार १६४१ में और १६४२ के शुरू में डुमराव में जो बियाई का संघर्ष किसान-सभा के नेतृत्व में चला और जंगल सत्याग्रह चलता रहा, वह भी कांग्रेसी मंत्रियों के अभाव में ही था। फिर सरासर झूठी बात क्यों कही जाती है ?

यह ठीक है कि कांग्रेसी मंत्रियों के समय में ये संघर्ष अधिक होते हैं और यह उचित भी है। जब इन मंत्रियों को चुनकर किसान ही

गद्दी पर बिठाते हैं तो इन्हें अपना समझ किसानों का हौसला बढ़ना स्वाभाविक है और इसी के फलस्वरूप ये संघर्ष होते हैं। किसान समझते हैं कि हमारे बनाये मंत्री इन मामलों में हमारी सहायता करेंगे। नौकरशाही सरकार से उन्हें यह आशा तो होती नहीं, इसी से उस समय ये संघर्ष कठिन हो जाते हैं और कम होते हैं। और जब जनप्रिय सरकार बनी तो जनता को स्वभावतः आजादी ज्यादा होती ही है। वह अपने हाथ-पाँव जरा फैला पाती है, फैलाने की कोशिश करती है। उसकी छाती की चट्टान जरा हटी सी मालूम पड़ती है, उसकी हथकड़ी-बेड़ियाँ जरा ढीली और टूटी सी लगती हैं। फिर हाथ-पाँव फैलाये क्यों न ? और ये संघर्ष उसी फैलाने के मूर्त्त-रूप हैं, फिर इन्हें देख गुस्सा क्यों ? इनके लिये उलाहना और इलजाम क्यों ? ये कांग्रेसी मंत्रियों को परीशान करने के सुबूत न होकर उलटे कांग्रेस में और उसके मंत्रियों में जनता के अपार विश्वास के ही सुबूत हैं।

अन्त में हमें कहना है कि कांग्रेस की असली ताकत न तो उसके अनुशासन की तलवार है, न उसकी कमिटियाँ और न उसके चवनियाँ मेम्बर, प्रतिनिधि आदि। उसकी असली शक्ति अपार जमूहन-स की उसमें अटूट भक्ति है—उस भारतीय जन-समूह की भक्ति, जो चवनियाँ मेम्बर तक नहीं है, मगर जो उसे चुनाव में जिताता और संघर्ष में विजयी बनाता है। अच्छा हो कि कांग्रेस के कर्णधार यह न हो, वह न हो, किसान-सभा न बने, मजदूर यूनियन न बने और अगर बने तो कांग्रेस की मातहती में, आदि फिजूल बातें छोड़ उस अपार जनता के कष्टों को समझें और उन्हें दूर करने में कोर-कसर न रखें। फिर देखेंगे कि कांग्रेस अजेय है और ऐसा न होने पर वह दुर्ग ढह जायगा, यह कटु सत्य है।

बिहटा, पटना
बसन्त पंचमी २७-१-४७

—स्वामी सहजानन्द सरस्वती

स्वामी जी का स्वागत, दोहाद-माल.द किसान
कान्फ्रेंस, लिमड़ी

जब पहले-पहले किसान सभा और किसान-संगठन का खयाल हमारे और हमारे कुछ साथियों के दिमाग में आया तो वह धुँधला सा ही था। उसकी रूप-रेखा भी कुछ साफ नजर न आ रही थी। यह हमारा आकस्मिक प्रयास था, ऐसे अथाह समुद्र में जहाज चलाने का जिसमें न तो दिशाओं का ज्ञान था और न किनारे का पता। पास में दिग्दर्शक यंत्र (कुतुबनुमा) भी न था कि ठीक-ठीक जहाज को चलाते। इतने दिनों बाद याद भी नहीं आता कि किस प्रेरणा ने हमें उस ओर अग्रसर किया। बेशक, कुछ उद्देश्य लेकर तो हमने श्रीगणेश किया ही था। मगर वह था निरा गोल-मोल। फिर भी उस ओर हमारी प्रेरणा एकाएक कैसे हुई यह एक पहेली ही है और रहेगी। ऐसा मालूम होता है कि अकस्मात् हम उस ओर बह गये! मगर जरा इस बात की सफाई कर लें तो अच्छा हो।

किसान सभा के स्थापन का पहला विचार सन् १९२७ ई० के अन्तिम दिनों में हुआ था। उस समय मैं कांग्रेस की स्थानीय नीति से, या यों कहिये कि बिहार के कुछ बड़े नेताओं के कारनामों से झल्लाया-सा था, जो उन्होंने सन् १९२६ ई० के कौंसिल चुनाव के सिलसिले में दिखलाये थे। इसीलिए तो स्वराज्य पार्टी के उम्मीदवारों का समर्थन न कर लाला लाजपतराय और पं० मदनमोहन मालवीय की इन्डिपेन्डेन्ट पार्टी का ही समर्थक रहा। जो उम्मीदवार बिहार में थे उन्हें लाला जी तथा मालवीय जी के आशीर्वाद प्राप्त थे। साथ ही गांधीवादी भी मैं खांटी था। इसलिये कांग्रेस से एक प्रकार की विरक्ति के साथ ही गांधी-वाद में अनुरक्ति भी पूरी थी। यह भी नहीं कि मैं गांधीवादी ढंग की किसान-सभा बनाने का खयाल न रखता था। उस समय तो यह सवाल कतई था ही नहीं। जब किसान सभा की ही बात उससे पहले न थी तो

फिर गांधीवादी सभा की कौन कहे ? फिर भी किसान-सभा का सूत्रपात हुआ।

ठीक कुछ ऐसी ही बात सन् १९३२-३३ में भी हुई। उस समय भी मैं, सन् १९३० ई० की लड़ाई के बाद, कांग्रेस से विरागी था; राजनीति से अलग था, किसान-सभा से सम्बन्ध रखता न था। इस बार के विराग का कारण भी कुछ अजीब था। मैंने सन् १९२२ ई० और १९३० में भी जेलों में जाने पर देखा था कि जो लोग गांधी जी के नाम पर ही जेल में गये हैं, वही उनकी सभी बातें एक-एक करके ठुकराते हैं और किसी की भी सुनते नहीं। इससे मुझे बेहद तकलीफ हुई, मैंने सोचा कि जहाँ कोई व्यवस्था और नियम-पालन नहीं, अनुशासन नहीं, 'डिसिप्लीन' नहीं, वह संस्था बहुत ही खतरनाक है। इसीलिये विरागी बन गया और १९३२ की लड़ाई से अलग ही रहा। मगर ठीक उसी समय, हजार अनिच्छा के होते हुए भी, जबर्दस्ती किसान-सभा में खिंच ही तो गया। जहाँ सन् १९२७ ई० किसान-सभा के जन्म का समय था, तहाँ सन् १९३३ ई० उसके पुनर्जन्म का। क्योंकि दर्म्यान के दो-तीन वर्षों में वह मरी पड़ी थी।

इस प्रकार जब देखता हूँ तो राजनीति के विराग के ही समय में किसान-सभा में खिंच गया नजर आता हूँ। यह भी एक अजीब-सी बात है कि राजनीति का वैराग्य किसान-सभा से विरागी न बना सका। दोनों बार के वैराग्य के भीतर प्रायः एक ही बात थी भी, और वह यह कि जो लोग कांग्रेस और गांधी जी को धोखा दे सकते हैं, भुलावे में डाल सकते हैं, वह जनता के साथ क्या न करेंगे ? फलतः उनसे मेरा साथ, मेरा सहयोग नहीं हो सकता है। फिर भी किसान-सभा में वही आये और रहे। लेकिन इसकी कोशिश मैंने उस समय की ही नहीं कि वे लोग उसमें आने न पायें। मुझे आज यह पहेली सी मालूम हो रही है कि मैंने ऐसा क्यों न किया। इसीसे तो कहता हूँ कि किस प्रेरणा ने मुझे उसमें घसीटा यह स्पष्ट दीखता नहीं। यह कहा जा सकता है कि यह वैराग्य शायद अज्ञात

सूचना थी भविष्य के लिये और इस बात की ओर इशारा कर रही थी कि ऐसे लोगों से किसानों का हित नहीं हो सकता—फलतः उनसे एक न एक दिन किनाराकशी करनी ही होगी। यह बात कुछ जँचती-सी है।

उस समय एक और बात भी थी, जो ऊपर से ऐसी ही बेढंगी लगती है। आखिर किसान-सभा भी तो राजनीतिक वस्तु ही है आज तो यह स्पष्ट हो गया है। यह तो सभी मानते हैं, फिर राजनीति का निचोड़ है रोटी, और उसी सवाल को किसान-सभा के द्वारा हल करना है। फिर राजनीति से होने वाला वैराग्य, जिसके भीतर कम से कम १९३२-३३ में किसान-सभा के प्रति अरुचि भी शामिल है। मुझे उस सभा में पुनरपि कूदने से क्यों न रोक सका जो कि कांग्रेस से रोके रहा, यह समझ में नहीं आता। किसान-सभा की राजनीति निरीली ही होगी, वह अर्थ नीति (रोटी) मूलक ही होगी, शायद वह इस बात की सूचना रही हो। राजनीति हमारा साधन भले ही, मगर साध्य तो रोटी ही है, यही दृष्टि संभवतः भीतर ही भीतर, अप्रकट रूप से काम करती थी, जो पीछे साफ़ हुई। लेकिन इतने से उस समय की परिस्थिति की बाहरी पेचीदगी खत्म तो हो जाती नहीं। वह तो साफ ही नजर आती है। मेरी आन्तरिक भावना किसानों के रंग में रँगी थी, इतना तो फिर भी स्पष्ट होई जाता है।

लेकिन गांधीवाद के वर्ग सामञ्जस्य (Class-collaboration) का किसान-सभा से क्या ताल्लुक, यह प्रश्न तो बना ही है। मैं तो उन दिनों पूरा-पूरा गांधीवादी था। राजनीति को धर्म के रूप में ही देखता था। यद्यपि इधर कई साल के अनुभवों ने बार-बार बताया है कि राजनीति पर धर्म का रंग चढ़ाना असंभव है, बेकार है, खतरनाक है इसीलिये विराग भी हुआ। फिर भी धुन वही थी और धर्म में तो वर्ग सामञ्जस्य हुई। वहाँ वर्ग संघर्ष (Class-struggle) की गुंजाइश कहाँ? फलतः किसान-सभा भी उसी दृष्टिकोण को लेकर बनी। लेकिन उसमें भी एक विचित्रता थी जो भविष्य की सूचना देती थी। गोया उस ओर कोई इशारा था।

असल में सन् १९२७ ई० के आखिरी दिनों में पहले पहल किसान-सभा का आयोजन और श्रीगणेश होने पर और तत्सम्बन्धी कितनी ही मीटिंगें करने पर भी जब सन् १९२८ ई० के ४ मार्च को नियमित रूप से किसान-सभा बनाई गई तो उसकी नियमावली में एक यह भी धारा जुटी कि "जिन लोगों ने अपने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कामों से अपने को किसान-हित का शत्रु सिद्ध कर दिया है वे इस सभा के सदस्य नहीं हो सकते।" एक ओर तो मेल-मिलाप और सामञ्जस्य का खयाल और दूसरी ओर किसान-सभा की ऐसी गढ़बन्दी कि किसानों में भी वही उसके मेम्बर हों जो असली तौर पर किसान-हित के शत्रु साबित न हों। यह एक अजीब बात थी। आखिर ऐसे लोग किसान-सभा में आके क्या करते? जब जमींदारों से कोई युद्ध करना न था तब इतनी चौकसी का मतलब क्या? ज़मीदारों के खुफ़िया और 'फिफ्थकौलम' उसमें रहके भी क्या बिगाड़ डालते? खूबी तो यह कि शुरू वाली सभा में जो यह बात तय पाई वह ठेठ बिहार प्रान्तीय किसान-सभा तथा आल-इंडिया किसान-सभा की नियमावली में भी जा घुसी। मेरे दिमाग में वह बात जमी तो थी ही। फलतः सर्वत्र मैं उसकी जरूरत सुझाता गया। इस प्रकार हम अनजान में ही हजार न चाहने पर भी, या तो वर्ग संघर्ष की तैयारी शुरू से ही करते थे या उस ओर कम से कम अन्तर्दृष्टि से देख तो रहे थे ही, ऐसा जान पड़ता है।

जो पहली सभा बनी वह प्रान्त भर की नहीं ही थी। पटना जिले भर की भी न थी। उसका सूत्रपात बिहटा-आश्रम में ही हुआ था और यह बिहटा पटना जिले के पश्चिमी हिस्से के प्रायः किनारे पर ही है। वहाँ से तीन मील पच्छिम के बाद ही शाहाबाद जिला शुरू हो जाता है। उस समय प्रान्तीय कौंसिल के लिये दो मेम्बर चुने जाते थे—एक पूर्वी भाग से और दूसरा पश्चिमी से। इसी चुनाव के खयाल से पटना जिला दो हिस्सों में बँटा था और यह सभा पश्चिमी भाग की ही थी। इसीलिये उसे पश्चिम पटना किसान-सभा नाम दिया गया था। कोई क्रांतिकारी भावना

तो काम कर रही थी ही नहीं। वैधानिक ढंग से जोर डालकर किसानों का कुछ भला करवाने और उनकी तकलीफें मिटवाने का खयाल ही इसके पीछे था। अन्यथा वर्ग सामञ्जस्य नहीं रह जाता। सोचा गया था कि जो ही वोट माँगने आयेगा उसे ही विवश किया जायगा कि किसानों के लिये कुछ करने का स्पष्ट वचन दे।

पश्चिम पटना में भरतपुरा, धरहरा आदि की पुरानी जमींदारियाँ हैं। उस समय उनका किसानों पर होने वाला जुल्म बिहार प्रान्त में अपना सानी शायद ही रखता हो। किसान पशु से भी बदतर बना दिये गये थे और छोटी-बड़ी कही जाने वाली जातियों के किसान एक ही लाठी से हाँके जाते थे। इस दृष्टि से वहाँ पूरा साम्यवाद था। यद्यपि उनके जुल्मों की पूरी जानकारी हमें उस समय न थी; वह तो पीछे चलकर हुई। उस समय विशेष जानने की मनोवृत्ति थी भी नहीं। फिर भी वे इतने ज्यादा, ज्वलंत और साफ थे कि छन-छन के कुछ न कुछ हमारे पास भी पहुँच ही जाते थे। हमें यह भी मालूम हुआ था कि सन् १९२१ ई० के असहयोग युग में पटने के नामधारी नेता उन जमींदारियों में सफल मीटिंग एक भी न कर सके थे। जमींदारों के इशारे से उन पर गोबर आदि गन्दी चीजें तक फेंकी गईं। सभा में लाठी के बल से किसान आने से रोक दिये गये। वे इतने पस्त थे कि जमींदार का नाम सुनते ही सपक जाते थे। हमने सोचा, एक न एक दिन यह जुल्म दोनों में भिड़न्त करायेगा और इस प्रकार के गृह-कलह से आजादी की लड़ाई कमजोर हो जायगी। फलतः आन्दोलन के दबाव से जुल्म कम करवाने और इस तरह गृह-कलह रोकने की बात हमें सूझी। धरहरा के ही एक जमींदार हाल में ही कौंसिल में चुने गये थे। उनका काफी दबदबा था। हमने सोचा कि संगठित रूप से काम करने पर वोट के खयाल से वे दबेंगे और काम हो जायगा। बात कुछ थी भी ऐसी ही। वे जमींदार साहब इस सभा से बेहद चौंके और इसके खिलाफ उनने प्रचार-कोशिश भी की। शोषक तो खटमल की तरह काफी काइयाँ होते हैं। इसी से वे सजग थे। हमें भी

यह बात बुरी लगी कि वे इतने सख्त दुश्मन क्यों बनें। मगर बात तो ठीक ही थी। हम उस समय असल में जमींदारी को ऐसा समझते न थे जैसा पीछे समझने लगे। फिर भी यह झल्लाहट बनी ही रही और वे सन् १९३० ई० में हजारीबाग जेल में इसी की सफाई देने हमारे पास आये थे। बहुत डरे से मालूम होते थे। मगर उनका डर अन्ततोगत्वा सच्चा निकला, गो देर से। क्योंकि किसान-सभा ने ही उन्हें सन् १९३६-३७ के चुनाव में बुरी तरह पहले असेम्बली में पछाड़ा और पीछे डिस्ट्रिक्टबोर्ड में भी। मालदार लोग दूरंदेश होते हैं। फलतः इस खतरे को वे पहले से ही ताड़ रहे थे कि हो न हो एक दिन भिड़न्त होगी।

सभा जो जिले भर की भी नहीं बनी उसका कारण था हमारा फूँक-फूँक के पाव देना ही। जितनी शक्ति हो उतनी ही जवाबदेही लो, ताकि उसे बखूबी सँभाल सको, इसी वसूल ने हमें हमेशा जल्दबाज़ी से रोका है। इसी खयाल से हम आल-इंडिया किसान-सभा बनाने में बहुत आगा-पीछा करते रहे। इसी वजह से ही हमने प्रान्तीय किसान-सभा में पड़ने से भी—उसकी जवाबदेही लेने से भी—बहुत ज्यादा हिचक दिखाई थी। यही कारण था कि जिले भर की जवाबदेही लेने को हम उस समय तैयार न थे। मगर पता किसे था कि दो वर्ष बीतते-बीतते बिहार प्रान्तीय किसान-सभा बन के ही रहेगी और न सिर्फ उसके स्थापनार्थ हमें आगे बढ़ना होगा, बल्कि उसकी पूरी जवाबदेही भी लेनी होगी? आखिरकार सन् १९२९ ई० के नवम्बर महीने में यही हुआ और सोनपुर मेले में प्रान्तीय किसान-सभा बनी।

२

सन् १६२६ ई० के दिसम्बर का महीना था। लाहौर कांग्रेस के पूर्व और हमारी बिहार प्रान्तीय किसान-सभा बन जाने के बाद ही सरदार वल्लभभाई का दौरा बिहार में हुआ। दौरा प्रान्त के सभी मुख्य-मुख्य स्थानों में हुआ। राय हुई कि नवजात किसान-सभा इससे लाभ क्यों न उठाये। श्री वल्लभभाई हाल में ही किसान आन्दोलन और लड़ाई के नाम पर ही सरदार बने थे। बारदौली के किसानों की लड़ाई के संचालक की हैसियत से ही उन्हें सरदार की पदवी मिली थी। हमने सोचा कि हमारा किसान आन्दोलन उनसे प्रोत्साहन प्राप्त करे। हुआ भी ऐसा ही। जहाँ-जहाँ उनके दौरे का प्रोग्राम था तहाँ-तहाँ ठीक उनके पहले हम किसान-सभा कर लेते और पीछे उसी सभा में वह बोलते जाते थे। कहीं-कहीं उनने हमारा और हमारी किसान-सभा का नाम भी लिया था और उसे सहायता देने को कहा था। मगर हम तो सभा की तैयारी और लोगों की उपस्थिति से लाभ उठा के किसान का पैगाम लोगों को सुना देना ही बहुत बड़ा फायदा मानते थे।

मुजफ्फरपुर जिले के सीतामढ़ी कसबे में भी एक बड़ी सभा हुई। हमने अपना काम कर लिया था। वह बोलने उठे तो दूसरी-दूसरी बातों के साथ जमींदारी प्रथा पर उनने बहुत कुछ कहा और उसकी कोई जरूरत नहीं है, यह साफ-साफ सुना दिया। उनका कहना था कि सुना है, ये जमींदार बहुत जुल्म करते हैं। ये लोग गरीब किसानों को खूब ही सताते हैं, ये भलेमानस अपने को जबर्दस्त माने बैठे हैं। लोग भी इन्हें ऐसा ही मानते हैं। इसीलिये डरते भी इनसे हैं। मगर ये तो निहायत ही कमजोर हैं। यदि एक बार कसके इनका माथा दबा दिया जाय तो भेजा (दिमाग की गूदी) बाहर निकल आये। फिर इनसे क्या डरना?

इनकी जरूरत भी क्या है? ये तो कुछ करते नहीं। हाँ, रास्ते में अड़ंगे जरूर लगाते हैं, पता नहीं, आज वही बदल गये, दुनिया ही बदल गई या जमींदार ही दूसरे हो गये। क्योंकि अब वह ये बातें बोलते नहीं, बल्कि जमींदारों के समर्थक बन गये हैं, ऐसा कहा जाता है। समय-समय पर परिवर्त्तन होते ही रहते हैं और नेता इस परिवर्त्तन के अपवाद नहीं हैं। शायद वे अब संजीदा और दूरंदेश बन गये हैं, जब कि पहले सिर्फ आन्दोलनकारी agitator थे। मगर, गुस्ताखी माफ हो। हमें तो संजीदा के बदले 'एजीटेटर' ही चाहिये। अपनी-अपनी समझ और जरूरत ही तो ठहरी।

हाँ, तो उसी सभा से हम लोग रात में लौरी के जरिये मुजफ्फरपुर रवाना हुए। हमें आधी रात की गाड़ी पकड़ के छपरा जाना था। बा० रामदयालु सिंह, पं० यमुना कार्यी और मैं, ये तीनों ही उस लौरी में बैठे थे। मैं था प्रान्तीय किसान-सभा का सभापति और कार्यी जी उसके संयुक्त मंत्री (डिविजनल सेक्रेटरी) थे। बाबू रामदयालु सिंह ने प्रान्तीय किसान-सभा की स्थापना में बहुत बड़ा भाग लिया था। वे उसकी प्रगति में लगे थे। इस तरह हम तीनों ही सभा के कर्त्ता-धर्त्ता थे—सब कुछ थे। हमीं तीनों ने उसे बनाया था और अगर हम तीनों खत्म होते तो सभा का खात्मा ही हो जाता यह पक्की बात थी।

लौरी रवाना हो गई। रात के दस बजे होंगे। बाबू रामदयालु सिंह ड्राइवर की बगल में आगे वाली सीट पर थे और हम लोग भीतर थे। लौरी चलते-चलते एक तिहाई रास्ता पार करके रुनीसैदपुर में लगी। ड्राइवर उसे छोड़ कहीं गया और थोड़ी देर बाद वापिस आया। हम चल पड़े। कुछ दूर चलने के बाद ड्राइवर को ऊँघ सी आने लगी। नतीजा यह हुआ कि लौरी डगमग करती जाती थी। कभी इधर फिसल पड़ती तो कभी उधर। ड्राइवर उसे ठीक सँभाल न सकता था। वह सड़क भी ऐसी खतरनाक है कि कितनी ही घटनायें (accidents) हो चुकी

हैं, कितनी ही मोटरें उलट चुकी हैं और कई मर चुके हैं। था भी रात का वक्त। खतरे की संभावना पद पद-पर थी।

बाबू रामदयालु सिंह बात ताड़ गये। उनने ड्राइवर को ऊँघता देख पहले दो-चार बार उसे सँभाला था सही। मगर वह नींद में थोड़े ही था। उस पर नींद की सवारी न होकर नशा की सवारी थी। रुनीसैदपुर में उसने शराब पी ली थी। अब तो वे घबराये। मारे डर के वे पसीने पसीने थे। हालाँकि दिसम्बर की कड़ाके की सर्दी थी। सो भी उस इलाके में तो और भी तेज होती है। वे बार-बार ड्राइवर को सजग करते थे। मगर वह नशा ही क्या कि सर पर न चढ़ जाय और बेकार न बना दे? आखिर उनसे रहा न गया और उनने लौरी जबर्दस्ती रुकवाई। तब कहीं हमें पता चला कि कुछ बेढंगा मामला है। अब तक हम भी बे खबर थे।

हम सभी उतर पड़े और उनने कहा कि रास्ते में शराब पीके हम सबों को यह मारना चाहता है। देखिये न, मैं पसीने-पसीने हो रहा हूँ हालाँकि इस कड़ाके के जाड़े में लौरी पर हवा भी लगती है। फलतः काँपना चाहिये। हम सबों की जान पद-पद पर खतरे में देखके मैं थर्रा रहा था। मगर जब देखा कि अब कोई उपाय नहीं है तो रोका है। यदि कोई घटना हो जाती और लौरी उलट जाती या नीचे जा गिरती तो सारी की सारी बिहार प्रान्तीय किसान-सभा ही खत्म हो जाती। हम सभी इसी पर बैठे जो हैं। कल हमारे शत्रुओं के घर घी के चिराग जलते। इसलिये मैं तो इसका नाम-धाम नोट करके जिला मजिस्ट्रेट को इस बात की रिपोर्ट करूँगा। ताकि आइन्दा इस प्रकार की शैतानियत ये ड्राइवर न करें और नाहक लोगों की जानें जोखिम में न डालें।

उनने उसका नाम वाम लिखा सही और वह डर भी गया। इससे हम सभी सकुशल मुजफ्फरपुर स्टेशन पर पहुँच गये। हमने ट्रेन भी पकड़ ली। न जानें मजिस्ट्रेट के यहाँ रिपोर्ट हुई या नहीं। मगर "समूची किसान-सभा ही खत्म हो जाती" यह बात मुझे भूलती नहीं। इसकी स्मृति कितनी मधुर है। ५—८—४१

कुछ लोगों की धारणा है कि उनने कभी भूल की ही नहीं और न उनके विचारों में विकास हुआ। उनके विचार तो पके पकाये शुरू से ही थे। इसीलिये जिनके विचारों का क्रम विकास हुआ है उनकी वे लोग मौके-मौके पर, अपनी जरूरत के मुताबिक, हँसी भी उड़ाया करते हैं। इधर उन्हीं दोस्तों ने यह भी तरीका अख्तियार किया है कि जिस प्रगति-शील कार्य पर उनकी मुहर न हो वह नाकारा और रद्दी है। वह यह भी कहने की हिम्मत करते हैं कि बिहार प्रान्तीय किसान-सभा को बनाया कांग्रेस ने ही। या यों कहिये कि उसके स्थापक कट्टर (Orthodox) कांग्रेसी ही हैं। उनका मतलब उन कांग्रेसियों से है जो गान्धीवादी कहे जाते हैं। यह आवाज अभी-अभी निकलने लगी है। इसके पीछे क्या रहस्य है कौन जाने ?

मगर असल बात तो यही है कि मैं, पण्डित यमुना कार्यी और बाबू रामदयालु सिंह, यही तीन उसकी जड़ में थे—इन्हीं तीन ने उसका विचार किया, कैसे वह शुरू की जाय यह सोचा, सोनपुर के मेले में ही सुन्दर मौका है ऐसा तय किया, लोगों के पास दौड़-धूप की, नोटिसें छपवाईं और बँटवाईं और मेले में इसका पूरा आयोजन किया। कोई बता नहीं सकता कि इसमें चौथा आदमी भी था। यह तो कठोर सत्य है, अडिग बात है। और इन तीनों में रामदयालु बाबू ही एक गान्धीवादी कहे जा सकते हैं। ऐसी हालत में वे बुनियाद बातों की गुंजाइश ही कहाँ है ?

यह ठीक है कि नाम मात्र के लिये प्रमुख कांग्रेसी सभा के साथ थे, या यों कहिये कि उसके मेम्बर थे। मगर यह मेम्बरी तो कोई बाकायदा थी नहीं। किसान-सभा के लक्ष्य पर दस्तखत करके और सदस्य शुल्क देके कितने लोग मेम्बर रहे क्या यह बात कोई बतायेगा ? ऐसे मेम्बर बनने के

लिये उनमें एक भी तैयार न था। बल्कि बनने के बहुत पहले ही उनमें प्रमुख लोगों ने विरोध शुरू कर दिया। यहाँ तक कि इसमें शामिल होने के विरुद्ध सूचना बाँटी गई प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी की ओर से। इतना ही नहीं। सोनपुर के बाद ही जब उन लोगों की सम्मति चाही गई तो बाबू ब्रजकिशोर प्रसाद ने, जो उस समय कांग्रेस के दिमाग माने जाते थे, इसका सख्त विरोध किया और साफ कह दिया कि यह खतरनाक चीज बनने जा रही है। अतः मैं इसके साथ नहीं हूँ। यह ठीक है कि और लोगों ने उस समय इनकार नहीं किया। सच तो यह है कि ऐसा करने का मौका ही उन्हें नहीं मिला। वे समझी न सके कि किसान-सभा ऐसी चीज बन जायगी। क्योंकि पीछे यह बात समझते ही कुड़बुड़ाहट और विरोधी प्रोपैगैन्डा शुरू हो गया। यह भी ठीक है कि औरों का नाम देख एकाध ने उलाहना भी दिया कि हमारा नाम क्यों नहीं दिया गया। इसीलिये उनका नाम पीछे जोड़ा गया भी। मगर इससे वस्तु स्थिति में कोई फर्क नहीं आता। नाम दे देने से कोई भी सभा का स्थापक नहीं कहा जा सकता। सौ बात की एक बात तो यह है कि यदि सभा की स्थापना का श्रेय कोई चौथा भी लेना चाहता है तो उसका नाम क्यों बताया नहीं जाता? क्योंकि तब तो स्पष्ट पूछा जा सकता है कि उसने इस सम्बन्ध में कब क्या किया? यह तो उसे बताना ही होगा। इसलिये केवल गोल-गोल बातों से काम नहीं चलेगा। नाम और काम बताना होगा।

मगर हमें तो इसमें भी झगड़ा नहीं है कि किसने यह काम किया। इतना तो असलियत के लिहाज से ही हमने कहा है। फिर भी यदि किसी को वैसा दावा हो-तो हम उसकी खुशी में गड़बड़ी क्यों डालें? हमें क्या? सभा चाहे किसी ने बनाई। मगर वह जिस सूरत में या जिस प्रकट विचार से पहले बनी अब वह बात नहीं रही। धीरे-धीरे अनुभव के आधार पर वह आगे बढ़ी है और अब उसमें सोलहों आने रूपान्तर आगया है। यह ठीक है कि वह किताबी ज्ञान के आधार पर न तो बनी ही थी और न वर्तमान रूप में आई ही है। इसीलिये इसका आधार बहुत ही ठोस है।

संघर्ष के मध्य में वह जन्मी और संघर्ष ही में पलते-पलते सयानी हुई है। इसीलिये वह काफी मजबूत है भी। शोषित जनता की वर्ग संस्थाओं को इसी प्रकार बनना और बढ़ना चाहिये, यही क्रांतिकारी मार्ग है। लेनिन ने कहा भी है कि हमें जनता से और अपने अनुभवों से सीखकर ही जनता का पथ-प्रदर्शन करना चाहिये। जनता अपने ही अनुभव से सीख-कर जब नेताओं की बातों पर विश्वास करती है और उन्हें मानने लगती है तभी वह हमारा साथ देती है, ऐसा स्तालिन ने चीन के सम्बन्ध के विवरण में कहा है :—

"The masses themselves should become convinced from their own experience of the correctness of the instructions, policy and slogans of the vanguard."

इसीलिये बजाय शर्म के खुशी की बात है कि अनुभव के बल पर ही हम आगे बढ़े हैं और इसमें किसानों को भी साथ ले सके हैं।

मगर हमारे क्रांतिकारी नामधारी दोस्तों की एक बात तो हमारे लिये पहेली ही रहेगी। जब हम उसे याद करते हैं तो एक अजीब घपले में पड़ जाते हैं। हमारे दोस्तों का दावा है कि किसान-सभा को वही क्रांतिकारी मार्ग पर ला सके हैं; उन्होंने ही उसे क्रांतिकारी प्रोग्राम दिया है आदि आदि। जब हम पहली और ठेठ आज की उनकी ही कार्यवाहियों का खयाल करते हैं तो उनका यह दावा समझ में नहीं आता। उनमें एक भाई का दावा है—और बाकी उनकी हाँ में हाँ मिलाते हैं—कि उनने ही ज़मींदारी मिटाने का प्रस्ताव पहले पहल किसान सभा में पेश किया था। शायद उन्हें यह बात याद नहीं है कि उनकी पार्टी के जन्म के बहुत पहले युक्त प्रान्त में श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन ने एक केन्द्रीय किसान संघ बनाया था और दूसरी-दूसरी अनेक बातों के साथ ही जमींदारी मिटाने की बात उस संघ ने मान ली थी। जब सन् १६३४ ई० की गर्मियों में वे द्वितीय प्रान्तीय किसान सम्मेलन का सभापतित्व करने गया में आये थे

तो वहाँ भी उनने वह प्रस्ताव पास कराना चाहा था। मगर हम सबने —जिनमें सोशलिस्ट नेता भी शामिल थे—उसका विरोध किया था। फलतः वह गिर गया। उनके प्रस्ताव की खूबी यह थी कि मुश्राविजा (मूल्य) देकर ही जमींदारी मिटाने की बात उसमें थी।

टण्डन जी भी इस बात के साक्षी हैं कि मैंने दूसरे दिन सम्मेलन में जो भाषण दिया था उसमें स्पष्ट कह दिया था कि जहाँ तक बिहार प्रान्तीय किसान सभा का ताल्लुक है, उसने जमींदारी मिटाने का प्रस्ताव अभी तक नहीं माना है; क्योंकि इसमें अभी उसे हानि नजर आती है। मगर जहाँ तक मेरा व्यक्तिगत सवाल है, मैं उसके मिटाने का पूर्ण पक्षपाती हूँ। लेकिन मूल्य देकर नहीं किन्तु योंही छीन कर। यही हमारे सामने सबसे बड़ी दिक्कत है इसके सम्बन्ध में। टण्डन जी को इस बात से आश्चर्य भी हुआ था कि छीनने के पक्ष में तो हैं। मगर मुश्राविजा देके खत्म करने के पक्ष में नहीं।

एक बात और। सन् १९३४ ई० के आखिर में सिलौत (मनियारी-मुजफ्फरपुर) में जो किसान कान्फ्रेंस हुई थी उसमें कहा जाता है, जमींदारी मिटाने का प्रस्ताव एक किसान लीडर ने, जो अपने को इस बात के लिये मसीहा घोषित करते हैं, पेश किया था। मैं भी वहाँ मौजूद था। प्रस्ताव का वह अंश यों था कि किसान और सरकार के बीच में कोई शोषक वर्ग न रहे इस सिद्धान्त को प्रान्तीय किसान-सभा स्वीकार करे। यहाँ विचारना है कि टण्डन जी वाले प्रस्ताव से इसमें विलक्षणता क्या है? मुश्राविजा की बात पर यह चुप है। इसलिये ज्यादे से ज्यादा यही कहा जाता है कि गोल-मोल बात ही इसमें कही गई है, जब कि टण्डन जी ने स्पष्ट कह दिया था। मगर असल बात तो यह है कि जमींदारी का नाम इसमें है नहीं। यह भी खूबी ही है। शोषक कहने से जमींदार भी आ जाते हैं, मगर स्पष्ट नहीं। यहाँ भी गोल बात ही है। फलतः गान्धी जी के—ट्रस्टी वाले सिद्धान्त की भी इसमें गुंजाइश है। क्योंकि ट्रस्टी होने पर तो जमींदार शोषक रहेगा नहीं। फिर जमींदारी मिटाने का क्या सवाल? यही

कारण है कि खासमहाल में, जहाँ सरकार ही जमींदार है, जमींदारी मिटाने की बात इस प्रस्ताव के पास होने पर भी नहीं उठती। अतएव जो लोग जमींदारी को सर्वत्र ही खासमहाल बना देना चाहते हैं उनके लिये यह प्रस्ताव स्वागतम् है। फिर भी इसी पर दोस्तों की इतनी उछल-कूद है।

उस सभा में जमींदारों के दोस्त काफी थे। वहीं पर एक चलते-पुर्जे जमींदार हैं जो एक मठ के महन्त हैं। उनके इष्ट-मित्रों की संख्या काफी थी और जी हुजूरों की भी। उनने उसका खूब ही विरोध किया। मगर सफलता की आशा न देख यह प्रश्न किया और करवाया कि स्वामी जी भी यहीं हैं। अतः उनसे भी इस प्रस्ताव के बारे में राय पूछी जाय कि वे इसके पक्ष में हैं या नहीं और यह प्रस्ताव प्रान्तीय किसान-सभा के सिद्धान्त के विपरीत है या नहीं। उन लोगों का खयाल था कि मैं तो इसका विरोध करूँगा ही और प्रान्तीय सभा के मन्तव्य का विरोधी भी इसे जरूर ही बताऊँगा। मगर मैं नहीं चाहता था कि बीच में पड़ूँ। मैं चाहता था कि मेरे या किसी दूसरे के प्रभाव के बिना ही लोग खुद स्वतंत्र रूप से राय कायम करें। मुझे तो किसानों की और जनता की भी मनोवृत्ति का ठीक-ठीक पता लगाना था, जो मेरे कुछ भी कहने से नहीं लग सकता था। कारण, लोग पक्ष या विपक्ष में प्रभावित हो जाते।

परन्तु विरोधियों ने इस पर जोर दिया हालाँकि प्रस्ताव वाले शायद डरते थे कि मेरा बोलना ठीक नहीं। जब मैंने देखा कि बड़ा जोर दिया जा रहा है और न बोलने पर यदि कहीं प्रस्ताव गिर गया तो बुरा होगा, तो अन्त में मैंने कह दिया कि मैं व्यक्तिगत रूप में इस प्रस्ताव का विरोधी तो नहीं ही हूँ। साथ ही, प्रान्तीय किसान सभा के सिद्धान्त के प्रतिकूल भी यह है नहीं। क्योंकि यह तो सभा से सिफारिश ही करता है कि यह बात मान ले। बस, फिर क्या था, बिजली सी दौड़ गई और बहुत बड़े बहुमत से प्रस्ताव पास हुआ। मैंने यह भी साफ़ ही कह दिया कि यह प्रस्ताव तो लोकमत तैयार करता है और उसे जाहिर भी करता है, जहाँ तक जमींदारी या शोषण मिटाने का सवाल है। ऐसी हालत में हमारी सभा इसका स्वागत ही करेगी।

क्योंकि हम लोकमत को जानना तो चाहते ही हैं। साथ ही, उसे तैयार करना भी पसन्द करते हैं। हमें खुद लोगों पर किसी सिद्धान्त को लादने के बजाय लोकमत के अनुसार ही सिद्धान्त तय करना पसन्द है। यही कारण है, कि अब तक हमारी प्रान्तीय किसान सभा इस बारे में मौन है। वह अभी तक अनुकूल लोकमत जो नहीं पा रही है।

इस प्रसंग से एक और भी बात याद आती है। हमारे कुछ दोस्त जमींदारी मिटाने के अग्रदूत अपने को मानते हैं—कम से कम यह दावा आज वे और उनके साथी करते हैं। मगर इस सम्बन्ध में कुछ बातें स्मरणीय हैं। जब सन् १९२९ ई० के नवम्बर में सोनपुर के मेले में बिहार प्रान्तीय किसान सभा की स्थापना हो रही थी, और उन लोगों के मत से आज के गान्धीवादी ही उसे कर रहे थे तो उनने खुली सभा में उसका विरोध किया था। उनकी दलील थी कि किसान सभा की जरूरत ही नहीं। कांग्रेस से ही वह सभी काम हो जाँयगे जिनके लिये यह सभा बनाई जाने को है। उनने यह भी कहा कि किसान सभा बनने पर किसान उसी ओर बहक जाँयगे और इस प्रकार कांग्रेस कमजोर हो जायगी। मैं ही उस समय सभापति था और मैंने ही उनका उचित उत्तर भी दिया था। इसीलिये ये बातें मुझे याद हैं। इन दलीलों को पढ़ के कोई भी कह बैठेगा कि कोई गांधीवादी आज (सन् १९४१ ई० में) किसान सभा का विरोध कर रहा था। वह यह समझी नहीं सकता कि भावी क्रांतिकारी (क्योंकि पता नहीं कि वे उस समय क्रांतिकारी थे या नहीं) यह दलीलें पेश कर रहा है जो आगे चलकर जमींदारी मिटाने का अग्रदूत बनने का दावा करेगा।

शायद कहा जाय कि उस समय उन्हें इतना ज्ञान न था और क्रांतिकारी पार्टी भी पीछे बनी! खैर ऐसा कहने वाले यह तो मानी लेते हैं कि ये मसीहा लोग भी एक दिन कट्टर दकियानूस थे। क्योंकि उनकी नजरों में आज जो एकाएक दकियानूस दीखने लगे हैं वही जब किसान सभा के विरोध के बजाय उसके समर्थक थे तब मसीहा लोग विरोधी थे। यह निराली बात है।

लेकिन लखनऊ का 'संघर्ष' नामक साप्ताहिक हिन्दी-पत्र तो क्रांतिकारी ही है। उसने जब सन् १६३८ में अपने अग्र लेख में यहाँ तक लिख मारा कि हमें किसान सभा का भी उपयोग करना चाहिये, तो मुझे विवश होके सम्पादक महोदय को पटना में ही उलाहना देना पड़ा और इसके लिये सख्त रंजिश जाहिर करनी पड़ी। यह अजीब बात है कि क्रांति के अग्रदूत बनने के दावेदार कांग्रेस के मुकाबिले में किसान सभा जैसी वर्ग संस्थाओं को गौण मानें। उनने हजार सफाई दी। मगर मैं मान न सका। (६-८-४१)

आगे चलिये। कुछ महीने पूर्व एक सर्क्यूलर देखने को मिला था। उसमें और और बातों के साथ लिखा गया है कि "आज तक किसान सभाओं का संगठन स्वतंत्र होते हुए भी राजनीतिक क्षेत्र में वह कांग्रेस की मददगार मात्र और उसके नीचे रही है! यहाँ 'मददगार मात्र' में 'मात्र' शब्द बड़े काम का है। जो लोग किसान सभाओं को सन् १६४१ ई० के शुरू होने तक राजनीतिक बातों में कांग्रेस की सिर्फ मददगार और उसके नीचे मानते रहे हैं वही जब दावा करते हैं कि किसान सभा में जमींदारी मिटाने का प्रस्ताव पहले पहल लाने वाले वही हैं तो हम हैरत में पड़ जाते हैं। जमींदारी मिटाने की बात तो जबर्दस्त राजनीति है। कांग्रेस ने आज तक खुल के इस बात का नाम नहीं लिया है। प्रत्युत उसका नीति-निर्धारण जिस पुरुष के हाथ में है वह तथा कांग्रेस के दिग्गज नेता एवं कर्णधार—सब के सब—जमींदारी का समर्थन ही करते हैं। गान्धी जी ने तो यहाँ तक किया कि सन् १६३४ ई० में युक्त प्रान्त के जमींदारों के प्रतिनिधि मंडल (deputation) को खुले शब्दों में कह दिया था कि "Better relations between the landlords and tenants could be brought about by a change of heart on both sides. He was never in favour of abolition of the Taluqdari or zamindari system." ("Mahratta", 12. 8. 1934)

"किसानों और जमींदारों के पारस्परिक सम्बन्ध अच्छे हो जाँयगे दोनों के हृदय परिवर्त्तन से ही। मैं नहीं चाहता कि जमींदारी या तल्लुकेदारी मिटा दी जाय।" ऐसी दशा में एक ओर तो किसान-सभा को कांग्रेस के नीचे और उसकी मददगार मात्र मानना और दूसरी ओर सभा के जरिये ही जमींदारी मिटाने का दावा करना ये दोनों बातें पहेली सी हैं। इनका रहस्य समझना साधारण बुद्धि का काम नहीं है! कुछ ऐसा मालूम पड़ता है कि शुरू में ही किसान-सभा की स्थापना के विरोध से लेकर आज तक जो नीति हमारे ये क्रांतिकारी दोस्त अपने लिये निश्चित करते आरहे हैं। उसमें मेल है—कोई विरोध नहीं है। और अगर जमींदारी मिटाने जैसी बात की चर्चा देख के विरोध मालूम भी पड़ता हो, तो वह सिर्फ ऊपरी या दिखावटी है। क्योंकि राजनीति तो पेचीदा चीज है और हमारे दोस्त लोग इस पेचीदगी में पूरे प्रवीण हैं! यह तो एक कला है और बिना कलाबाजी के सबको खुश करना या सर्वत्र वाहवाही लूटना गैर-मुमकिन है।

लेकिन जब मैं खुद आज तक की बातों का खयाल करता हूँ तो मेरे दिमाग में यह बात आती ही नहीं कि कैसे किसान-सभा कांग्रेस के नीचे और उसकी मददगार मात्र रही है। हमने तो कभी ऐसा सोचा तक नहीं। हमारे इन दोस्तों ने भी आज तक किसी भी मौके पर यह बात नहीं कही है। मुझे तो हाल के उनके इस सर्क्यूलर से ही पहले पहल पता चला कि वे ऐसा मानते रहे हैं। यह जान कर तो मैं हैरत में पड़ गया। आखिर कभी भी तो वे इस बात का जिक्र हमारी मीटिंगों में करते। इतनी महत्त्व-पूर्ण बात यों ही क्यों गुपचुप रखी गई यह कौन कहे? कांग्रेस मिनिस्ट्री के जमाने में हमने बकाश्त संघर्ष सैकड़ों चलाये और दो हजार से कम किसानों या किसान सेवकों को इस तरह जेल जाना नहीं पड़ा। मिनिस्ट्री इसके चलते बेहद परीशान भी हुई। इसीलिये तो सन् १९३९ ई० के जून में बम्बई में ऐसी लड़ाइयाँ रोकी गईं और न मानने वालों को कांग्रेस से निकालने की धमकी दी गई। फिर भी हमने न माना। जिसके फल-

स्वरूप हम कितनों को ही कांग्रेस से अलग होना पड़ा। इतने पर भी किसान-सभा को कांग्रेस के नीचे और उसकी मददगार मात्र बना देने की समझ और हिम्मत की तारीफ है।

चाहे पहले किसी को ऐसा खयाल करने की गुंजाइश रही भी हो; क्योंकि शुरू में जान-बूझकर किसान सभा इसी प्रकार चलाई गई थी कि किसी को शक न हो कि यह सोलहों आने स्वतंत्र चीज है, संस्था है; इससे इसके प्रति बाल्यावस्था में ही भयंकर विरोध जो हो जाता इसीलिये एक प्रस्ताव के द्वारा यह कहा गया था कि राजनीतिक मामलों में सभा कांग्रेस का विरोध न करेगी। मगर फिर भी यह कभी न कहा गया कि उसकी मातहत है या उसकी मदद करेगी। मगर जब हमने सन् १६३५ ई० के बीतते न बीतते हाजीपुर वाले सम्मेलन में जमींदारी मिटाने का निश्चय कर लिया तब भी इसे ऐसा समझना कि यह कांग्रेस की मातहत है, निराली सी बात है। जमींदारी मिटा देने की बात एक ऐसी चीज है जो बता देती है साफ-साफ कि किसान-सभा और कांग्रेस दो जुदी संस्थाएँ हैं जिनके लक्ष्य और रास्ते भी जुदे हैं, भले ही मौके व मौके मतलब-वश दोनों का मेल हो जाय। हम तो जमींदारी वगैरह के बारे में साफ जानते हैं कि ता० १२-२-२२ ई० को बारदोली में कांग्रेस की कार्यकारिणी ने असहयोग आन्दोलन को स्थगित करते हुए इस सम्बन्ध में जो कहा था वही आज तक कांग्रेस की निश्चित नीति है। उस कमिटी के प्रस्ताव की छठीं और सातवीं धाराओं में यह बात साफ लिखी है। वह यों हैं :—

"The working committee advises Congress workers and organisaions to inform the ryots (peasants) that withholding of rent-payment to the zamindars (land-lords) is contrary to the Congress resolution and injurious to the best interest of the country.

The Working Committee, assures the zamindars that the Congress movement is in no way intended to attack their legal rights, and that, even when the ryots have grievances, the committee desires that redress be sought by mutual consulation and arbitration."

इसका अर्थ यह है, "वर्किंग कमिटी (कार्य-कारिणी कमिटी) कांग्रेस कार्य-कर्त्ताओं और संस्थाओं को यह सलाह देती है कि वे किसानों (रैयतों) से कह दें कि जमींदारों को लगान न देना कांग्रेस के प्रस्ताव के विरुद्ध तथा देश-हित का घातक है।

"कमिटी जमींदारों को विश्वास दिलाती है कि कांग्रेस आन्दोलन का मंशा यह हर्गिज नहीं है कि उनके कानूनी अधिकारों पर वार किया जाय। कमिटी की यह भी इच्छा है कि यदि कहीं किसानों की शिकायतें जमींदारों के खिलाफ हों तो वे भी दोनों की राय, सलाह और पंचायत की सहायता से ही दूर की जाँय।"

हम समझ नहीं सकते कि जमींदारी और जमींदारों के अन्यान्य कानूनी हकों की इससे ज्यादा और कौन सी ताईद काँग्रेस कर सकती है। (७-८-४१)

४

सन् १६३२ ई० के आखिरी और सन् १६३३ ई० के आरंभ के दिन थे। कांग्रेस का सत्याग्रह आन्दोलन धुआँधार चल रहा था। सरकार ने इस बार जम के पूरी तैयारी के साथ छापा मारा था। इसलिये दमन का दावानल धायँ-धायँ जल रहा था। सरकार ने कांग्रेस को कुचल डालने का कोई दकीका उठा रखा न था। लार्ड विलिंगटन भारत के वायसराय के पद पर आसीन थे। उनने पक्का हिसाब लगा के काम शुरू किया था। ऊपर से, बाहरी तौर पर, तो मालूम होता था सरकार ज्येष्ठ के मध्याह्न के सूर्य की तरह तप रही है। इसीलिये प्रत्यक्ष देखने में आन्दोलन लापता सा हो रहा था। मीटिंगों का कोई नाम भी नहीं लेता था। यहाँ तक कि मुंगेर डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का चुनाव जब सन् १६३३ में होने लगा और सभी नेताओं के जेल में बन्द रहने के कारण उस जिले में मेरे दौरे की जरूरत पड़ी तो लोगों को भय था कि मीटिंगें होई न सकेंगी। बड़हिया में पहली और लक्खीसराय में दूसरी मीटिंग की तैयारी थी। उस समय बड़हिया में अतिरिक्त पुलिस डेरा डाले पड़ी थी। जब मैं मीटिंग करने गया तो अफसरों के कान खड़े हो गये। वे सदल-बल मीटिंग में जा जमे। मेरे भाषण के अक्षर-अक्षर नोट किये जा रहे थे। जब मेरा बोलना खत्म हुआ और सब ने देखा कि यह तो केवल चुनाव की ही बातें बोल गया जो निर्दोष हैं तब कहीं जाकर उनमें ठंडक आई। यही बात कम-बेश लखीसराय में भी पाई गई।

देश के और बिहार के भी सभी प्रमुख नेता और कार्य-कर्त्ता जेलों में बन्द थे। बाहर का मैदान साफ था। सिर्फ मैं बाहर था। कह चुका हूँ कि सन् १६३० ई० में जेल में मैंने जो कुछ कांग्रेसी नेताओं के बारे में देखा था—ठेठ उनके बारे में जो फर्स्ट और सेकंड डिविजन में रखे गये थे—उससे मेरा मन जल गया था और मैं कांग्रेसी राजनीति से विरागी बन

लया था। क्योंकि कहने के लिये कुछ और व्यवहार में कुछ दूसरा ही पाया। यही सन् १६२२ ई० में भी देख चुका था। मैं सोचता कि १६२२ की बात तो पहले पहल की थी। अतः भूलें संभव थीं। मगर जब ८-१० साल के बाद बजाय उन्नति के उसमें बुरी अवनति देखी। तो विराग होना स्वाभाविक था। सोचता था, ऐसी संस्था में क्यों रहूँ जिसकी बातें केवल दिखावटी हों और सख्ती के साथ हर हालत में जिसके सदस्यों की नियम-पाबन्दी का कोई इन्तजाम न हो। ऐसी संस्था तो धोखे की चीज होगी और टिक न सकेगी। हम अपने ईमान को धोखा देते-देते जनता को भी जिसकी सेवा का दम हम भरते हैं, धोखा देने लग जाँयगे। इसीलिये सन् १६३२ ई० में पुराने दोस्तों और साथियों के हजार कहने-सुनने पर भी मैं संघर्ष में न पड़ा। फलतः बाहर ही पड़ा तमाशा देखता था।

बिहार ही ऐसा प्रान्त उस समय था जहाँ कांग्रेस के सिवाय कोई भी सार्वजनिक संस्था जमने पाती न थी। मुसलिम लीग, हिन्दू सभा या लिबरल फिडरेशन तक का यहाँ पता न था। किसान-सभा तो यों बन सकी कि उसमें दूसरे लोग थे ही न। यह भी बात थी कि लोग समझते थे कि यह तो खुद ही खत्म हो जायगी। क्योंकि किसी खास मतलब से ही बनी मानी जाती थी और वह मतलब शीघ्र ही पूरा हो जाने वाला माना जाता था। हर हालत में इसे कांग्रेस के विरुद्ध न जाने देने का इरादा लोगों ने कर लिया था; यही कारण है कि शुरू के पाँच-छे वर्षों में हमें भी फूँक-फूँक के पाँव देने पड़े थे। और यह सभा भी सन् १६३० के शुरू में ही स्थगित कर दी गई थी तथा तब तक इसे पुनर्जीवित करने की चेष्टा भी न की गई थी।

इसलिये सरकार ने, जमींदारों ने, मालदारों ने और उनके दोस्त जी-हुजूरों ने सोचा कि यही सुनहला मौका है। इससे फायदा उठा के एक ऐसी संस्था बना दी जाय जो कांग्रेस का मुकाबिला कर सके। सभी प्रमुख नेता और कार्य-कर्त्ता एक तो जेल में थे। दूसरे जो बाहर थे भी उन्हें कांग्रेस की लड़ाई के प्रबन्ध से फुर्सत कहाँ थी कि और कुछ करते या इस

नई संस्था का विरोध करते ? जैसा कि जन आन्दोलन की सनातन रीति है कि दम न होने पर भीतर चला जाता है और ऊपर से नजर नहीं आता, ठीक वही बात कांग्रेस की लड़ाई की थी। वह भी भीतर ही भीतर आग की तरह धक्-धक् जल रही थी। इसीलिये उसे चलाने में ज्यादा दिक्कतें थीं। पुलिस परछाईं की तरह सर्वत्र घूमती जो थी पता पाने के लिये, ताकि छपक पड़े। वह इस तरह अनजान में ही अपनी मर्जी के खिलाफ जनता को गुप्त रीति से आन्दोलन चलाने को न सिर्फ प्रोत्साहित कर रही थी, वरन् उसे इस काम में शिक्षित और दृढ़ बना रही थी। आखिर जरूरत पड़ने पर ही तो आदमी सब कुछ कर डालता है। इस तरह देश का आन्दोलन असली क्रांतिकारी मार्ग पकड़ के जा रहा था। गान्धी जी ने जो इसे सन् १६३४ ई० के शुरू में ही बन्द कर दिया उसका भी यही कारण था। वे इस बात को ताड़ गये थे। वे समझते थे कि यदि न रोका गया तो उनके और मध्यम वर्ग के हाथों से यह निकल जायगा। और सचमुच जन-आन्दोलन बन जायगा, और ऐसा होने में स्थिर स्वार्थों (Vested interests) की सरासर हानि थी।

हाँ, तो यारों की दौड़ धूप शुरू हो गई। कभी पटना और कभी रांची में, जहाँ पर गवर्नर साहब के चरण विराजते वहीं महाराजा दरभंगा वगैरह बड़े-बड़े जमींदार बार-बार तशरीफ ले जाते, बातें होतीं और सरकार का आशीर्वाद इस मामले में प्राप्त करने की कोशिश होती थी। आशीर्वाद तो सुलभ था ही। मगर सरकार भी देखना चाहती थी कि ये लोग उसके पात्र हैं या नहीं। उसे भी गर्ज तो थी ही कि कांग्रेस की प्रतिद्वन्द्वी कोई भी संस्था खड़ी की जाय। इसलिये बड़ी दौड़ धूप के बाद और महीनों सलाह मशविरा के फलस्वरूप जहाँ तक याद है, रांची में यह बात तय पा गई कि यूनाटेड पार्टी (संयुक्त दल) के नाम से ऐसी संस्था बनाई जाय। बेशक जमींदारों के भीतर भी इस बारे में दो दल थे जिनके बीच सिर्फ नेतृत्व का झगड़ा था कि कौन इसका नेता बने। मगर नेतृत्व तो सबसे बड़े जमींदार और पूँजीपति महाराजा दरभंगा को ही मिलना था।

असल में उनके सहायक और निकट सलाहकार कौन हों यही तय नहीं हो सकता था। आखिरश राजा सूर्यपुरा (शाहाबाद) उनके निकट सलाहकार (मंत्री) बने। भीतरी मतभेद के रहते हुए भी आपस की दलबन्दी जमींदारों के इस महान कार्य में—इस महाजाल में—बाधक कैसे हो सकती थी? इस प्रकार यूनाइटेड पार्टी का जन्म हो गया।

इस सम्बन्ध की एक और बात है। जब हमारी प्रान्तीय किसान-सभा पहले पहल बनी तो पटने के वकील बा० गुरुसहाय लाल भी उसके एक संयुक्त मंत्री बनाये गये, हालाँकि काम-वाम तो उनने कुछ किया नहीं। असल में तब तक की हालत यह थी कि पुरानी कौंसिल में किसानों के नाम पर जोई दो-चार आँसू बहा देता, दो एक गर्म बातें बोल देता या ज्यादे से ज्यादा किसान-हित की दृष्टि से काश्तकारी कानून में सुधार के लिये एकाध मामूली बिल पेश कर देता, वही किसानों का नेता माना जाता था। गोया किसान लावारिस माल थे, उनका पुर्सांहाल कोई न था। इसलिये 'दे खुदा की राह पर' के मुताबिक जिसने उनकी ओर अपने स्वार्थ साधन के लिये भी जरा नजर उठाई कि वही उनका मुखिया (spokes man) माने जाने लगा। प्रायः सब के सब ऐसे मुखिया जमींदारों से मिले-जुले ही रहते थे और दो एक गर्म बातें बोल के और भी अपना उल्लू सीधा कर लिया करते थे। ऐसे ही लोगों ने सन् १९२९ ई० में भी एक बिल पेश किया था किसानों के नाम पर टेनेन्सी कानून की तरमीम के लिये, जिसके करते जमींदारों ने एक उलटा बिल ठोंक दिया था। फलतः दोनों को ताक पर रखके सरकार ने अपनी ओर से एक तीसरा बिल पेश किया था और उसीके विरोध को तात्कालिक कारण बनाके प्रान्तीय किसान को जन्म दिया गया था।

सरकार का हमेशा यही कहना था कि काश्तकारी कानून का संशोधन दोई तरह से हो सकता है—या तो किसान और जमींदार या इन दोनों के प्रतिनिधि मिल-जुल के कोई मसविदा (बिल) पेश करें और उसे पास कर लें, या यदि ऐसा न हो सके तो सरकार ही पेश करे और उसे दोनों

मानें। ठीक दो बिल्लियों के झगड़े में बन्दर की पंचायत वाली बात थी। सन् १६२६ ई० में भी ऐसा ही हुआ था और दोनों की राय न मिलने के कारण ही सरकार बीच में कूदी थी। मगर जब किसानों के नाम पर किसान-सभा ने उसका जोरदार विरोध किया तो उसने यह कह के उसे वापस ले लिया कि जब किसान-सभा भी इसकी मुखालिफ़ है तो सरकार को क्या गर्ज है कि इस पर जोर दे ? इस तरह किसान-सभा ने जनमते ही दो काम किये। एक तो उस बिल को चौपट करवाके किसानों का गला बचाया। दूसरे सरकार को विवश किया कि न चाहते हुए भी किसान-सभा को किसानों की संस्था मान ले।

इसी के मुताबिक सरकार और जमींदारों को भी फिक्र पड़ी कि यूनाइटेड पार्टी को मजबूत बनाने के लिये सबसे पहले उसकी ओर से काश्तकारी कानून का संशोधन कराके किसानों को कुछ नाम मात्र के हक दे दिये जाँय। साथ ही, जमींदारों का भी मतलब साधा जाय। मगर अब तक जो तरीका था उसके अनुसार तो जो बिल किसान और जमींदार दोनों की रजामन्दी से पेश न हो उसे सरकार मान नहीं सकती थी। इसीलिये जरूरत इस बात की हुई कि जिस यूनाइटेड पार्टी को बनाया जा रहा है उसमें किसानों के नाम पर बोलने वाले भी रखे जाँय। नहीं तो सब गुड़ गोबर हो जायगा। यूनाइटेड पार्टी का तो अर्थ ही यही था कि जिसमें सभी दल और फिर्के के लोग शामिल हों। उसके जिन खास-खास मेम्बरों की लिस्ट उस समय निकली थी उससे भी मालूम पड़ता था कि सभी धर्म, दल और स्वार्थ के लोग उसमें शरीक हैं। फलतः उसे ही बिहार प्रान्त के नाम में बोलने का हक है।

अब उसके सूत्रधारों को इस बात की फिक्र पड़ी कि किसानों के प्रतिनिधि कौन-कौन से महाशय इसमें लाये जाँय। उनके सौभाग्य से श्री शिवशंकर झा वकील मिल ही तो गये। वे उसी प्रकार के किसान नेता हैं जिनका जिक्र पहले हो चुका है। यह ठीक है कि बाबू गुरुसहाय लाल भी उस पार्टी के साथ थे। मगर चालाकी यह सोची गई कि अगर खुली तौर

पर उनका नाम शुरू में एलान किया जायगा तो बड़ा हो-हल्ला मचेगा और मजा किरकिरा हो जायगा। वे भी शायद डरते थे। इसलिये तय यह पाया कि वह पहले एक बिहार प्रान्तीय किसान-सभा खड़ी कर दें। पीछे बिल में जो बातें काश्तकारी के संशोधन के लिये दी जाने वाली हों उन्हें यह कहके अपनी सभा से स्वीकार करायें कि इन्हीं शर्तों पर जमींदारों के साथ किसानों का समझौता हुआ है। इसके बाद तो कानून बना के यह दमामा बजाया ही जायगा कि उनने और झा जी ने किसानों को बड़े-बड़े हक दिलाये। इस तरह यूनाइटेड पार्टी की धाक भी किसानों में जम जायगी। क्योंकि पार्टी की ही तरफ से कानून का संशोधन कराया जायगा। साथ ही गुरुसहाय बाबू भी इसका सेहरा पहने पहनाये उस पार्टी में खुल्लमखुल्ला आजाँयगे!

उनने किया भी ऐसा ही। जिस सभा के एक मंत्री वह भी थे उसके रहते ही एक दूसरी सभा खड़ी कर देने की हिम्मत उनने कर डाली! पीछे तो गुलाब बाग (पटना) की मीटिंग में यह भी बात खुली कि इस नकली सभा के बनाने में न सिर्फ जमींदारों का इशारा था, प्रत्युत उनके पैसे भी लगे थे। उस समय इस किसान-द्रोह में उनके साथ एकाध और भी सोशलिस्ट नामधारी जमींदारों के साथ षड्यंत्र कर रहे थे। खूबी तो यह कि यह सारा काम इस खूबी से चुपके-चुपके किया जा रहा था कि बाहरी दुनिया इसे समझ न सके। यहाँ तक कि पटने से १५-२० मील पर ही बिहटा में मैं मौजूद था। मगर सारी चीज मुझसे भरपूर छिपाई गई, मुझे खबर देना या मुझसे राय लेना तो दूर रहा। उन्हें असली किसान-सभा का भूत बुरी तरह परीशान जो कर रहा था। वे समझते थे खूब ही, कि यदि इस स्वामी को खबर लग गई तो विरागी होते हुए भी कहीं ऐसा न हो कि उस पुरानी सभा को ही जाग्रत कर दे जिसने जनमते ही सरकार और जमींदारों से भिड़ के एक पछाड़ उन्हें फौरन ही दी थी। तब तो सारी उम्मीदें पर पानी ही फिर जायगा। इसे ही कहते हैं गरीबों की सेवा और किसान-हितैषिता! खुदा किसानों की हिफाजत ऐसे दोस्तों के करे।

लेकिन आखिर भंडा फूट के ही रहा और ये बेचारे "दुक-दुक दीदम, दम न कशीदम" के अनुसार हाथ मार के रह गये। इनकी किसान-सभा में विपत्ति का मारा न जाने मैं क्यों पहुँच गया जिससे इन पर पाला पड़ गया। वहाँ जब मैंने जमींदारों और जमींदार सभा के लीडरों को देखा तो चौंक पड़ा कि यह कैसी किसान-सभा! मगर जब किसानों के नामधारी नेता उन जमींदार लीडरों को इसीलिये सभा में धन्यवाद देना चाहते थे कि उनने पैसे से सहायता की थी, तो बिल्ली थैले से बाहर आगई। आखिर पाप छिप न सका और मैंने मन ही मन कहा कि यह तो भयंकर किसान-सभा है। खुशी है कि वहीं उसका श्राद्ध हो गया और पुरानी सभा जाग खड़ी हुई। इस तरह जो मैं अब तक सभा से उदासीन सा था वही अब फिर सारी शक्ति से उसमें पड़ गया। वे किसान नेता उसके बाद कुछी दिनों में अपने असली रूप में आगये और जमींदारों से साफ-साफ जा मिले। फिर भी किसी की एक न चली और दोई साल के भीतर ऐसा तूफान मचा कि उसमें न सिर्फ यूनाइटेड पार्टी उड़ गई, बल्कि जमींदारों के मनोरथों पर पानी फिर गया। जो बिल उनने पेश किया उसमें किसान-हित की अनेक बातों को देके और जहरीली बातें उससे निकालके उसे कानून का जामा पहनाने के लिये उन्हें मजबूर होना पड़ा। उसी समय से जमींदारों ने अपनी जिरात जमीन के बढ़ाने का पुराना दावा सदा के लिये छोड़ दिया।

इस प्रकार अब तक जो अपने को किसानों के नेता कहते थे ऐसे नये पुराने सभी लोगों का पर्दाफाश हो गया और वे मुँह दिखाने के लायक भी नहीं रह गये। लोग इस झमेले में भयभीत थे कि कहीं मैं दबा तो अनर्थ होगा। क्योंकि अब तक के किसान नेताओं तथा जमींदारों की एक गुटबन्दी किसान-सभा के खिलाफ थी। मगर मुझे तो पूरा विश्वास था कि विजय होगी और वह होके ही रही। साथ ही, चौकन्ना होने की जरूरत भी पड़ी। यह किसान नेताओं का पहला भंडाफोड़ था। अभी न जाने ऐसे कितने ही भंडाफोड़ भविष्य के गर्भ में छिपे थे। (८-८-४१)

५

सन् १९३३ ई० म किसान-सभा के पुनर्जीवन के बाद का समय था और मैं दिन-रात बेचैन था कि कैसे यूनाइटेड पार्टी, उसके छिपे रुस्तम दोस्तों और जमींदारों के नाकों चने चबवाऊँ और उनके द्वारा पेश किये गये काश्तकारी कानून के संशोधन को जहन्नुम पहुँचाऊँ। इसीलिये रात-दिन प्रान्त व्यापी दौरे में लगा था। इसी सिलसिले में दरभंगा जिले के मधुबनी इलाके में भी पहुँचा। खास मधुबनी में हाई इंगलिश स्कूल के मैदान में एक सभा का आयोजन था। किसानों की और शहर वालों की भी अपार भीड़ थी। मैंने खूब ही जम के व्याख्यान दिया जिसमें किसानों के गले पर फिरने वाली महाराजा दरभंगा तथा अन्य जमींदारों की तीखी तलवार का हाल कह सुनाया। देखा कि किसानों का चेहरा खिल उठा, मानों उन्हीं के दिल की बात कोई कह रहा हो।

लेकिन किसानों के नेता बन जाने पर भी अभी मुझे उनकी विपदाओं की असलियत का पता था कहाँ? मैं तो यों ही सुनी सुनाई बातों पर ही जमीन और आसमान एक कर रहा था। बात दर असल यह है कि किसानों और मजदूरों का नेता इतना जल्द कोई बन नहीं सकता। जिसे उनके लिये सचमुच लड़ना और संघर्ष करना है उसे तो सबसे पहले उनमें घूम-घूम के उन्हीं की जबानी उनके दुःख दर्दों की कहानी सुनना चाहिये। यह बड़ी चीज है। जरा चाव से उनकी दास्तान सुनिये और देखिये कि आप उनके दिलों में घुस जाते हैं या नहीं, उनके साथ आपका गहरा नाता फौरन जुट जाता है या नहीं यही इसका रहस्य है।

हाँ, तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब किसानों के मध्य से ही एक चन्दन टीका वाले ने उठके सभा के बाद ही अपनी रामकहानी सुनाई— अपनी यानी किसानों की। तब तक मोटा-मोटी समझा जाता था कि ज्यादा-

-तर मजलूम किसान तथा कथित पिछड़ी जातियों के ही होते हैं। कम से कम यह ख्याल तो था ही कि मैथिल ब्राह्मणों का एकच्छत्र नेता माने जाने वाला महाराजा दरभंगा उन ब्राह्मण किसानों के साथ रिआयत तो करता ही होगा—दूसरे किसानों को हाँकने के लिये बनी लाठी से उन्हें भी हाँकता न होगा। नहीं तो सभी मैथिल उसे नेता क्यों मानते? क्या अपने शोषक और शत्रु को कोई अपना मुखिया मानता है?

मगर उस किसान ने कहा कि मैं मैथिल ब्राह्मण हूँ और महाराजा का सताया हूँ। मेरे गाँव या देहात में या यों कहिये कि इस मधुबनी के इलाके में बरसात के दिनों में हमारे नाकों दम हो जाती है, हम अशरण हो जाते हैं। यही हालत महाराजा की सारी जमींदारी की है। हमारे यहाँ पानी बहुत बरसता है, नदी-नाले भी बहुत हैं। फलतः सैलाब (बाढ़) का पदार्पण रह-रह के होता रहता है जिससे हमारी फसलें तो चौपट होती ही हैं, हमारे झोंपड़े और मकान भी डूब जाते हैं, पानी के करते गिर जाते हैं। पानी रोकने के लिये जगह-जगह बाँध बने हैं। यदि वे फौरन जगह-जगह काट दिये जाँय तो चटपट पानी निकल जाय और हम, हमारे घर, हमारे पशु, हमारी खेती सभी बच जाँय। मगर हम ऐसा नहीं कर सकते। महाराजा की सख्त मनाही है।

मैंने पूछा, क्यों? उसने उत्तर दिया कि यदि पानी बह जाय तो मछलियाँ कैसे पैदा होंगी? वह जमा हो तो पैदा हों। जितना ही ज्यादा दूर तक पानी रहेगा, सो भी देर तक जमा रहेगा, उतनी ही अधिक मछलियाँ होंगी और उतनी ही ज्यादा आमदनी महाराजा को जल-कर से होगी। सिंघाड़े वगैरह से भी आय होगी ही। यह जल-कर उनका कानूनी हक है। यदि हम लोग न मानें और जान बचाने के लिये पानी काट दें तो हम पर आफत आ जाय। हम सैकड़ों तरह के मुकदमों में फँसा के तबाह कर दिये जाँय। उनके अमलों और नौकरों की गालियों की तो कुछ कहिये मत। उनकी लाल आँखें तो मानों हमें खाई जाँयगी।

उसने और भी कहा कि जब यहाँ सर्वे सेट्लमेन्ट हुआ तो हम किसानों

को कुछ ज्ञान था नहीं। हम उसका ठीक-ठीक मतलब समझ सकते न थे। बस, हमारी नादानी से फायदा उठाके अपने पैसे और प्रभाव के बल पर महाराजा ने सर्वे के कागजों में यह दर्ज करवा दिया कि जमीनों पर तो किसानों का रैयती हक है। मगर उनमें लगे पेड़ों में जमींदार का हक आधा या नौ आने और हमारा बाकी। नतीजा यह होता है कि अपने ही बाप-दादों के लगाये पेड़ों से न तो एक दतवन और न एक पत्ता तोड़ने का हमें कानूनी हक। है। यदि कानून की चले तो हर दतवन और हर पत्ते के तोड़ने की जब-जब जरूरत हो तब-तब हमें उनसे मंजूरी लेनी होगी, जो आसान नहीं। इसमें उनके नौकरों को घूस देने और उनकी पूजा-प्रतिष्ठा करने की बड़ी गुंजाइश है। इसीलिये जब तक वे खुश हैं तब तक तो ठीक। मगर ज्योंही किसी भी वजह से वे जरा भी नाखुश हुए कि हम पर मुकदमों की झड़ लग गई और हम उजड़े। नहीं तो काफी रुपये-पैसे दे के सुलह करने को विवश हुए। मगर इस तरह भी हमारी जमीनें बिक जाती हैं। क्योंकि हमारे पास पैसे कहाँ? पीछे चलके तो हमें इस बात के हजारों प्रत्यक्ष उदाहरण मिले जिनमें किसान-सभा के कार्य-कर्त्ता इसी कारण परीक्षा न किये गये कि उनने क्यों महाराजा की जमींदारी में सभा करने की हिम्मत की।

उसने यह भी कहा, और पीछे तो दरभंगा, पूर्णिया, भागलपुर के किसानों ने खून के आँसुओं से यही बात बताई, कि चाहे हमारे घर में पड़े मुर्दे सड़ जाँय, मगर उन्हें जलाने के लिये लकड़ी तोड़ने या काटने की इजाजत उन पेड़ों से नहीं है जो सर्वे के समय थे। यही नहीं। सर्वे के वक्त के पेड़ चाहे कभी के खत्म क्यों न हों और उनकी जगह नये ही क्यों न लगे हों। फिर भी हम उन्हें काट नहीं सकते बिना महाराजा के हुक्म के। क्योंकि इसका सबूत क्या है कि पुराने पेड़ खत्म हो गये और नये लगे हैं। इसका हिसाब तो सरकार या जमींदार के घर लिखा जाता नहीं और किसानों की बातें कौन माने? वे तो झूठे ठहरे ही। ईमानदारी और सच्चाई तो रुपयों के पास कैद है न? इसीलिये आज कानून के सुधार

काम ही खत्म हो जाता। इसीलिये हम अपने साथियों के साथ सभा स्थान में डँटे रहे। इस बात की इन्तजार भी हम कर रहे थे कि किसान आजाँय तो मीटिंग हो। बा० चतुरानन दास भी न आये थे। उनकी भी प्रतीक्षा थी।

मगर हमें पता लगा कि जमींदार ने पूरी बन्दिश की है कि कोई भी मीटिंग में न आये। चारों ओर धमकी के सिवाय तरह-तरह की झूठी अफ-वाहें फैलाई गई हैं कि सभा में गोली चलेगी, मार-पीट होगी, गिरफ़ारी होगी। यह भी कहा गया है कि जाने वालों का नाम दर्ज कर लिया जायगा और पीछे उनकी खबर ली जायगी। इसके सिवाय सभा स्थान के चारों ओर कुछ दूर से ही पिकेटिंग हो रही है कि कोई आये तो लौटा दिया जाय। रास्ते में और जगह-जगह पर उनके दलाल बैठे हुए हैं जो लोगों को रोक रहे हैं। सारांश, मीटिंग रोकने का एक भी उपाय छोड़ा नहीं गया है।

हम इन सब बातों के लिये तो तैयार थे ही; आखिर जमींदारों के न सिर्फ स्वार्थ का सवाल था, बल्कि उनकी शान भी मिट्टी में मिल रही थी। आइन्दा उनकी हस्ती भी खतरे में थी ऐसा सोचा जा रहा था। मगर सबसे बड़ी बात यह थी कि हिन्दुस्थान में सबसे बड़े जमींदार महा-राजा दरभंगा की ही जमींदारी में हम जा डटे थे। महाराजा लाठी मारे काले नाग की तरह फू-फू कर रहे थे। उनकी नाक जो कट रही थी। वे डर रहे थे कि मजलूम इलाका सभा में ऐसा टूट पड़ेगा, जैसा कि पहले की मीटिंगों में उनने देखा था। नतीजा यह होगा कि दुखिया किसानों की आँखें खुल जाँयगी। इसलिये अगर जान पर खेल के उनके नौकर-चाकरों और टुकड़खोरों ने हमारी मीटिंग रोकना चाहा तो इसमें आश्चर्य की बात क्या थी?

(६-८-४१)

उन लोगों ने यह किया सो तो किया ही। मगर खास चतुरानन जी के मकान पर भी चढ़ गये और उन्हें तरह-तरह से धमकाया। आखिर वह भी तो महाराजा की ही जमींदारी में बसते थे। उनके घर घेरा डाले वे सब पड़े रहे। नतीजा यह हुआ कि चतुरानन जी मीटिंग का प्रबन्ध

और उसकी सफलता की कोशिश तो क्या करेंगे, खुद मीटिंग में आने की हिम्मत न कर सकते थे। इस प्रकार ज्यादा देर होने पर हम घबराये। जब बार-बार खबर भेजी तो बड़ी मुश्किल से आये। मगर चेहरा फक्क था। सारी आई-बाई हजम थी। जब नेताओं की यह हालत थी तो किसानों का क्या कहना? बड़ी दिक्कत से कुछी लोग आसके थे।

मगर जमींदार के दलाल और गुंडे हमारी मीटिंग में भी आ गये और शोरगुल मचाना शुरू कर दिया। कभी 'महाराजा बहादुर की जय' चिल्लाते, तो कभी मुँह बनाते थे। उनकी खुशकिसमती से हमारी इस मीटिंग के आठ-दस साल पूर्व उस इलाके में और बीहपुर (भागलपुर) में भी तथा और भी एकाध जगह एक हजरत किसान लीडर बन के किसानों को धोखा दे चुके थे। उनका नाम था असल में मुंशी परभरनप्रसाद। वे निवासी थे सारन जिले के। मगर अपने को प्रसिद्ध किया था उनने स्वामी विद्यानन्द के नाम से। उनने एक तो किसानों को धोखा दे के कौंसिल चुनाव में वोट लिया था। दूसरे उनसे पैसे भी खूब ठगे थे। पीछे तो जमींदारों से भी जगह-जगह उनने काफी रुपये ले के अपना प्रेस मुजफ्फरपुर में चला लिया। फिर लापता हो गये। पीछे सुना, बम्बई चले गये। एक बार जब पटना शहर (गुलाब बाग) की सभा में उनका दर्शन अकस्मात् मिला था तो सिर पर गुजरातियों की ऊँची टोपी नजर आई थी।

हाँ, तो महाराजा के आदमियों ने चारों ओर और उस मीटिंग में भी हल्ला किया कि एक स्वामी पहले आये तो हमें महाराजा से लड़ाके खुद उनने रुपये ले लिये। अब ये दूसरे स्वामी वैसे ही आये हैं। यह भी हमारी लड़ाई महाराजा से कराके अपना उल्लू सीधा करेंगे और पीछे हम पिस जायँगे आदि-आदि। मुझसे भी वे लोग कुछ इसी तरह के सवाल करते थे। कहते थे कि हम किसान-सभा नहीं चाहते। आप जाइये, हमें यों ही रहने दीजिये। मीटिंग में जितने श्रोता होंगे उतने ये गुलगपाड़ा मचाने वाले थे। जब हम बोलने उठते तो वे बहुत ज्यादा शोर मचाते। यह पहला

नजारा था जो हमें देखने को मिला। मगर हम भी तो वैसे ही हठी निकले। वहाँ से भागने के बजाय जैसे-तैसे मीटिंग करके ही हटना हमने तय किया और यही किया भी। आखिर वे कब तक बोलते रहते!

इस प्रकार हमने सभा तो कर ली। लेकिन हमें बड़ा कटु अनुभव उन नेताओं के बारे में हुआ जो दिल से किसानों के लिये काम न करते हों, जो उन्हीं के लिये मरने-जीनेवाले न हों। ऐसे लोग मौके पर टिक नहीं सकते और फिसल जाते हैं। इस बात का ताजा नमूना हमें भच्छी में मिल गया। यह ठीक है कि इस मीटिंग के बाद हमने बाबू चतुरानन दास की आशा छोड़ दी। ऐसे लोग तो बीच में ही नाव को डुबा देते हैं। यह भी ठीक है कि जमींदार के आदमी भी दंग रह गये हमारी मुस्तैदी देख के। उनके भी जोश में कुछ ठंडक आई। हालाँ कि उसके बाद मधुबनी इलाके की एक मीटिंग में और भी उनकी कोशिश हुई कि वह न हो सके। मगर पहली बात न रही। बहेरा, मधेपुर के इलाकों में भी कई मीटिंगों में उन लोगों ने बाधायें डालीं। मगर हम तो आगे बढ़ते ही गये और वे दबते गये। यह सही है कि भच्छी जैसी हालत हमारी मीटिंगों की और कहीं न हुई।

(१०—८—४१)

सन् १६३६ ई० की बरसात थी। दरभंगा जिले के मधुबनी इलाके में ही सकरी स्टेशन से दो मील के फासलेपर सागरपुर मौजे में किसानों का संघर्ष जारी था। दरभंगा महाराज की ही जमींदारी है। सागरपुर के पास में ही पंडौल में उनका औफिस है। वहीं पर हजारों बीघे में ट्रैक्टर की सहायता से उनकी खेती भी होती है। वहाँ चीनी की कई मिलें हैं जिनमें महाराजा का भी बड़ा शेयर कुछेक में है। सकरी में ही एक मिल है। इसलिये हजारों-बीघे में ऊख की खेती करने से जमींदार को खूब ही लाभ होता है। दूसरी चीजों की भी खेती होती है। इसीलिये जमींदार की इच्छा होती है कि अच्छी-अच्छी जमीनें किसानों के हाथों से निकल जाँय तो ठीक। लगान दे सकना तो हमेशा मुमकिन नहीं होता। इसीलिये जमीनें नीलाम होई जाती हैं। मगर पहले जमींदार लोग खुद खेती में चसके न थे। इसीलिये घुमा-फिरा के जमीनें फिर किसानों को ही दी जाती थीं। हाँ, चालाकी यह की जाती थी कि जो लगान गल्ले के रूप में या नगद उनसे इन जमीनों की ली जाय उसकी साफ़-साफ़ रसीदें उन्हें न दी जाकर गोल-मोल ही दी जाँय, ताकि मौके पर जमीनों पर किसान दावा करने पर भी सबूत पेश न कर सकें कि वही जोतते हैं। कारण, सबूत होने पर कानून के अनुसार उन पर उनका कायमी रैयती हक (occupancy right) हो जाता है। यही बात सागरपुर की जमीनों के बारे में भी थी।

वहाँ की बकाश्त जमीनों को जोतते तो ये किसान ही। इसीलिये उनपर उनका दावा स्वाभाविक था। कोई भी आदमी जरा सी भी अक्ल रखने पर बता सकता था कि बात यही थी भी। गाँव के तीन तरफ करीब-करीब ओलती के पास तक की जमीनें नीलाम हुई बताई जाती थीं। किसानों के बाहर निकलने का भी रास्ता न था। यदि जमीनें उनकी न

होती तो ओलती कहाँ गिरती ? जमींदार अपनी जमीन में ऐसा होने देता थोड़े ही। उनके पशु मवेशी भी आखिर कहाँ जाते ? क्या खाते थे। जो ग्वाले लोग पास के टोले में बसे थे उनकी तो झोंपड़ियाँ उन्हीं जमीनों में थीं। भला इससे बड़ा सबूत और क्या चाहिये ?

एक बात और थी। महाराजा की खेती ट्रैक्टर से होती है और उसके लिये बड़े-बड़े खेत चाहिये। छोटे-छोटे खेतों में उसका चलना असंभव है। मगर कोई भी देखने वाला बता सकता था कि अभी तक छोटे-छोटे खेत साफ नजर आरहे थे। खेतों के बीच की सीमाएँ (मेंड़ें) साफ-साफ नजर आती थीं। बेशक, उन सीमाओं के मिटाने की कोशिश जमींदार ने जबर्दस्ती की थी और सभी खेतों पर ट्रैक्टर चलवाके उन्हें एक करना चाहा था। मगर हमने खुद जाके देखा कि खेत अलग-अलग साफ ही नजर आरहे थे। असल में एकाध बार के जोतने से ही वे सीमाएँ मिट सकती नहीं हैं। कम से कम दस पाँच बार जोतिये तो मिटेंगी। मगर यहाँ तो कहने के लिये एक बार ट्रैक्टर घुमा दिया गया था। फिर भी इतने से आँख में धूल झोंकी जा सकती न थी।

हाँ, तो सागरपुर में बकाश्त संघर्ष के इस सिलसिले में मुझे दो बार जाना पड़ा था। दोनों बार ऐसी जबर्दस्त मीटिंगें हुईं कि जमींदार के दाँत खट्टे हो गये। एक बार तो भरी सभा में ही जमींदार के आदमी कुछ गड़बड़ी करना चाहते थे। उनने कुछ गुल-गपाड़ा करने या सवाल-जवाब करने की कोशिश की भी। हिम्मत तो भला देखिये कि दस-बीस हजार किसानों के बीच में खड़े होकर कुछ आदमी शोर-गुल करें। जोश इतना था कि किसान उन्हें चटनी बना डालते। मगर इसमें तो हमारी ही हानि थी। शत्रु लोग तो मार-पीट चाहते ही थे। उससे उनने दो लाभ सोचा था। एक तो मीटिंग खत्म हो जाती। दूसरे झूठ सच मुकद्दमों में फँसा के सभी प्रमुख लोगों को परीशान करते। इसलिये हमने यह बात होने न दी और किसानों को शान्त रखा। अन्त में हार के वे लोग चलते बने जब समूह का रुख बुरा देखा। मीटिंग में मौजूद पुलिस तथा दूसरे सरकारी

अफ़सरों से भी हमने कहा कि आखिर दस-बीस ही लोग ऊधम करें और आप लोग चुप्प रहें यह क्या बात है? इस पर उन लोगों ने भी उन्हें डाँटा। अब वे लोग करते क्या? मजबूर थे।

मगर दूसरी बार तो उन लोगों ने दूसरा ही रास्ता अख्तियार किया। इस बार पहले ही से सजग थे। ज्योंही हम स्टेशन से उतरे और हमारी सवारी आगे बढ़ी कि एक बड़ा सा दल टुकड़खोरों का बाहर आया। सकरी में ही पुलिस का एक दल पड़ा था। बकाश्त की लड़ाई में धर-पकड़ करने के लिये उसकी तैनाती थी। हम जब सकरी से बाहर डाक बँगले से आगे बढ़े कि शोर-गुल मचाने वाले बाहर आगये। जानें क्या-क्या बकने लगे। 'महाराजा बहादुर की जय', 'किसान-सभा की क्षय', 'स्वामी जी लौट जाइये, हम आपके धोखे में न पड़ेंगे', 'झगड़ा लगाने वालों से सावधान' आदि पुकारें वे लोग मचाते थे। मजा तो तब आया, जब हम आगे बढ़े और हमारे पीछे वे लोग दौड़ते जाते और चिल्लाते भी रहते। अजीब सभा थी। वह तमाशा देखने ही लायक था। वैसी बात हमें और कहीं देखने को न मिली। उनने लगातार हमारा पीछा किया। यहाँ तक कि गाँव के किनारे तक आगये। मगर जब हम गाँव के भीतर चले तो वे लोग दूसरी ओर मुड़ गये। पता चला कि पास में ही जो महाराजा की कचहरी है वहीं चले गये इस बात का प्रमाण देने कि उनने खूब ही पीछा किया, गाँव तक न छोड़ा। इसलिये उन्हें पूरा मिहनताना मिल जाना चाहिये। जमींदार की खैरख्वाही तो जरूरी थी ही। हमने यह भी देखा कि कुत्तों की तरह भोंकने और हमारा पीछा करने वालों में टीका चन्दन-धारी ब्राह्मण काफी थे।

हमें हँसी आती थी और उनकी इस नादानी पर तर्स भी होता था। मधुबनी वाले उस ब्राह्मण किसान के शब्द हमारे कानों में रह-रह के गूँजते थे। हम सोचते कि आखिर यह भी उसी तरह के गरीब और मजलूम हैं। मगर फर्क यही है कि चाहे उसकी जमीन वगैरह भले ही बिकी हो, मगर आत्मा और इज्जत न बिकी थी। उसने अपना आत्म-सम्मान बना रखा

था। मगर इनने तो अपना सब कुछ जमींदार के टुकड़ों पर ही बेंच दिया है। इसीलिये जहाँ इनसे कोई आशा नहीं, वहाँ उससे और उसके जैसों से हमें किसानों के उद्धार की आशा है।

हम यह कहना भूली गये कि सागरपुर में उस समय दरभंगा जिला-किसान कान्फ्रेंस थी। इसलिये किसानों के सिवाय जिले भर के कार्य-कर्त्ताओं का भी काफी जमाव था। प्रस्ताव तो अनेक पास हुए। स्पीचें भी गर्मागर्म हुईं। यों तो मैं खुद काफी गर्म माना जाता हूँ और मेरी स्पीचें बहुत ही सख्त समझी जाती हैं। मगर जब वहाँ मैंने दो एक जवाबदेह किसान-सभावादियों की तकरीरें सुनीं तो दंग रह गया। मालूम होता था, उनके हाथ में सभी किसान और सारी शक्तियाँ मौजूद हैं। फलतः वे जोई चाहेंगे कर डालेंगे। इसीलिये महाराजा दरभंगा को रह-रहके ललकारते जाते थे। मानों वह कच्चे धागा हों कि एक झकोरे में ही खत्म हो जाँयगे। दस बारह साल तक काम कर चुकने के बाद जब कि किसान आन्दोलन किसान संघर्ष में जुटा हो, ठीक उसी समय ऐसी गैर जवाबदेही की बातें सुनने को मैं तैयार न था। फलतः अपने भाषण में मैंने इसके लिये फट-कार सुना दी और साफ कह दिया कि दरभंगा महाराज ऐसे कमजोर नहीं हैं जैसा आपने समझ लिया है।

मेरे इस कथन पर जब जमींदारों के अखबार 'इंडियन नेशन' में टीका-टिप्पणी निकली तो मुझे और भी हैरत हुई और हँसी आई, लिखा गया कि स्वामी जी डर गये हैं। सच्ची बात तो यह है कि जमींदार इतने नादान हैं कि मेरी बात का मतलब न समझ सकेंगे, इसके लिये मैं तैयार न था। किस आधार पर मुझे डरा हुआ माना गया मैं आज तक समझ न सका।

(१२—८—४१)

सन् १६३६ ई० की गर्मियों की बात थी। लखनऊ कांग्रेस से लौटकर मैं मुंगेर जिले के सिमरी बखतियारपुर में मीटिंग करने गया। उसके पहले एक बार भूकम्प के बाद वहाँ गया था। सैलाब बड़े जोरों का था। वहाँ तो बाढ़ आती है कोशी की कृपा से और यह नदी ऐसी भयंकर है कि जून में ही तूफान मचाती है। उसने उस इलाके को ऊजाड़ बना दिया है। पहली यात्रा में बाढ़ का प्रकोप और लोगों की भयंकर दरिद्रता देख के मैं दंग था। मेरा दिल रोया। मेरे कलेजे में वह बात धँस गई। वहाँ के लोगों और कार्य-कर्त्ताओं से जो कुछ मैंने सुना उससे तय कर लिया कि दूसरी बार इस इलाके में घूमना होगा। तभी अपनी आँखों असली हालत देख सकूँगा।

इसीलिये बरसात आने के बहुत पहले सन् १६३६ ई० की मई में ही, जहाँ तक याद है, मैं वहाँ गया। इस बार खास बखतियारपुर के अलावे धेनुपुरा, केबरा आदि में भी मीटिंगों का प्रबन्ध था। मगर आसानी से उन जगहों में पहुँच न सकते थे। कड़ाके की गर्मी पड़ रही थी और सभी जगह पानी की पुकार थी। मगर उस इलाके में बिना नाव के घूमना असंभव था। कोसी मई की कृपा से सारी जमीनें पानी के भीतर चली गई हैं। जिधर देखिये उधर ही सिर्फ जल नजर आता था। समुद्र में बने टापुओं की ही तरह गाँव नजर आते थे। गाँव के किनारे थोड़ी बहुत जमीन नजर आती थी, जहाँ थोड़ी सी खेती हो सकती थी। बाकी तो निरा जल ही था। लोग मछलियों और जल-जन्तुओं को खा के ही ज्यादातर गुजर करते हैं। अन्न तो उन्हें नाम मात्र को ही कभी कभी मिल जाता है, सो भी केवल कदन्न, जिसे जमींदारों के कुत्ते सूँघना भी पसन्द न करेंगे, खाना तो दूर रहा। उस इलाके में कुछी दूर बैलगाड़ी पर चल के बाकी

सर्वत्र केवल नाव पर या पैदल ही यात्रा करनी पड़ी। जहाँ पानी न था वहाँ घुटने तक कीचड़ होने के कारण बैलगाड़ी का चलना भी तो असंभव था।

हाँ, यह कहना तो भूली गये कि उस इलाके के सबसे बड़े और चलते पुर्जे जमींदार हैं अख्तियारपुर के चौधरी साहब। उनका पूरा नाम है चौधरी मुहम्मद नजीरुलहसन मुतवली। वहाँ एक दरगाह है बहुत ही प्रसिद्ध और उसी के मुताल्लिक एक खासी जमींदारी है जिसकी आमदनी कुल मिला के उस समय सत्तर अस्सी हजार बताई जाती थी। चौधरी साहब उसी के मुतवली या अधिकारी हैं। इस प्रकार मुसलमानों की धार्मिक सम्पत्ति के ही वह मालिक हैं और उसी का उपभोग करते हैं। बड़े ठाटबाट वाले शानदार महल बने हैं। हाथी, घोड़े, मोटर वगैरह सभी सवारियाँ हैं। शिकार खेलने में आप बड़े ही कामिल हैं, यहाँ तक कि गरीब किसानों की इज्जत जान और माल का भी शिकार खेलने में उन्हें जरा भी हिचक नहीं, बशर्त्ते कि उसका मौका मिले। और जालिम जमींदारों को तो ऐसे मौके मिलते ही रहते हैं। उन जैसे जालिम जमींदार मैंने बहुत ही कम पाये हैं, यों तो बिना जुल्म ज्यादती के जमींदारी टिकी नहीं सकती। मेरी तो धारणा है कि किसानों और किसान-हितैषियों को, किसान-सेवकों को मिट्टी के बने जमींदार के पुतले से भी सजग रहना चाहिये। वह भी कम खतरनाक नहीं होता। और नहीं, तो यदि कहीं देह पर गिर जाय तो हाथ पाँव तोड़ ही देगा।

चौधरी की जमींदारी में मैं बहुत घूमा हूँ। किसानों के झोंपड़े झोंपड़े में जाके मैंने उनकी विपदा आँखों देखी है और एकान्त में उनके भीषण दुख दर्द की कहानियाँ सुनी हैं। दिल दहलाने वाली घटनाओं को सुनते सुनते मेरा खून खौल उठा है। जमींदार ने किसानों को दबाने के लिये सैकड़ों तरीके निकाल रखे हैं। कूटनीति के तो वे हजरत गोया अवतार ही ठहरे। भेदनीति से खूब ही काम लेते हैं। सैकड़ों क्या हजारों तो उनके दलाल हैं जो खुफिया का भी काम करते हैं। किसान उनके मारे तो हईं।

वे चुपके से क्या बातें करते हैं इसका भी पता बराबर लगाया जाता है। हमारे पीछे भी उनके गुप्तचर काफी लगे थे। इसलिये हमें सतर्क होके बहुत ही एकान्त में बातें करने और उनकी हालत जानने की जरूरत हुई। फिर भी गरीब और मजलूम किसान इतने भयभीत थे कि गोया हवा से भी डरते थे। किसी में भी हिम्मत रही नहीं गई है। जरा भी शिकायत की कि न जानें कौन सी भारी बला कब सिर पर आ धमकेगी और चौधरी की जाल में फँस के मरना होगा, सो भी घुल घुल के।

जिन किसानों के झोंपड़े भी उजड़े हैं और जिनसे वृष्टि तथा धूप छन छन के भीतर आती है, जिनके तन पर वस्त्र तक नदारद, जिनने अपनी लज्जा बचाने का काम हजार टुकड़ों से बने चिथड़ों से ले रखा है, जिन्हें अन्न शायद ही छठे छमास मुयस्सर होता हो प्रायः उन्हीं से साल में पूरे अस्सी हजार रुपये की वसूली मामूली बात नहीं है। बालू से तेल और पत्थर से दूध निकालना भी इसकी अपेक्षा आसान बात है। किन किन उपायों और तरीकों से ये रुपये वसूल होते हैं यदि इसका ब्योरा लिखा जाय तो पोथा तैयार हो जायगा। इसलिये नमूने के तौर पर ही कुछ बातें लिखी जाती हैं।

उसी इलाके में मुझे पहले पहल पता चला कि पहले चौधरी की जमींदारी में चार चीजों की 'मोनोपली' (monopaly) थी। यानी चार चीजों पर उनका सर्वाधिकार था और उनकी मर्जी के खिलाफ ये चीजें बिक न सकती थीं। नमक, किरासन तेल, नया चमड़ा और सुँगठी मछली यही हैं वे चार चीजें। इनमें सिर्फ नमक की मोनोपली मेरे जाने के समय उठ चुकी थी। बाकी तीन तो थी ही, जो मेरे आन्दोलन के करते खत्म हुई। अपनी लम्बी जमींदारी के भीतर उनने सबों को यह कह रखा था कि बिना उनकी मर्जी के कोई आदमी नमक, किरासन इन दो चीजों की बिक्री कर नहीं सकता। फलतः किसी को हिम्मत न थी। और जमींदार साहब किन्हीं एक दो मोटे असामियों से दो चार हजार रुपये ले के उन्हीं को बेंचने का हक देते थे। नतीजा यह होता था कि वे ठेकेदार ये दोनों चीजें

और जगहों की अपेक्षा महँगी बेंचते थे। क्योंकि ठेके वाला पैसा तो वसूल कर लेते ही थे एकाधिकार होने से दाम और भी चढ़ा देते थे। मैंने पूछा तो पता चला कि जो किरासन तेल और जगह पाँच पैसे में मिलता है वही उस जमींदारी में सात आठ पैसे में। उफ्, यह लूट!

अगर कोई आदमी बाहर से यह तेल लाये तो उसकी सख्त सजा होती और जाने उसे क्या-क्या दंड देने पड़ते थे। इसीलिये तो इस बात का पहरा दिया जाता था कि कोई बाहर से ला न सके। दो चार को सख्त दण्ड देने पड़े तो उसका भी नतीजा कुछ ऐसा होता है कि दूसरों की भी हिम्मत जाती रहती है। यह गैरकानूनी काम सरेआम चलता था। यह भी नहीं कि पुलिस दूर हो। वहीं थाना भी तो है। फिर भी इस सीनाजोरी का पता चलता न था। चले भी क्यों? आखिर किसी को गर्ज भी तो हो। किसानों को या गरीबों को गर्ज जरूर थी। मगर उनकी कौन सुने? धनी लोग तो बाहर से ही टिन मँगा लेते थे। और वहाँ धनी हैं भी तो इने गिने ही। बनिये वगैरह तो डर के मारे चूँ भी नहीं करते थे। चौधरी के रैयत चाहे धनी हों या गरीब उनकी आज्ञा के विरुद्ध जाते तो कैसे? मगर सरकार को इस धांधली का पता क्यों न चला जब तक मैं वहाँ न गया, यह ताज्जुब की बात जरूर है।

नमक की बिक्री पर भी पहले चौधरी का एकाधिकार जरूर था। लेकिन सन् १९३० ई० वाले नमक सत्याग्रह के चलते वह जाता रहा। जब लोग सरकार की भी बात सुनने को तैयार न थे और कानून की धज्जियाँ उड़ा रहे थे तो फिर एक जमींदार की पर्वा कौन करता? और अगर कहीं जमींदार साहब इस मामले में टाँग अड़ाते तो उस समय का वायु-मंडल ही ऐसा था कि उन्हें लेने के देने पड़ते। क्योंकि गैरकानूनी हरकत का भंडाफोड़ जो हो जाता। फलतः न सिर्फ नमक वाला उनका एकाधिकार चला जाता, बल्कि किरासन वगैरह के भी मिट जाते। इसीलिये उनने चालाकी की और चुप्पी मार ली। लोग भी नमक की खरीद बिक्री की स्वतंत्रता से ही संतुष्ट होके आगे न बढ़े। इसीलिये उनकी काली करतूतों

का पता बाहरी दुनिया को न चल सका और बाकी चीजों पर उनका एकाधिकार बना ही रह गया।

अँगठी मछली की भी कुछ ऐसी ही बात है। मैं तो उसके बारे में खुद कुछ जानता नहीं कि वह कैसी चीज है। मगर लोगों ने बताया कि वह कोई उमदा मछली है जिसे खाने वाले बहुत चाव से खाते हैं। इसीलिये बाजार में उसकी बिक्री बहुत होती है। वह तो पानी वाला इलाका है। इसलिये वहाँ मछलियाँ बहुत होती हैं। सुखा कर दूर-दूर जगहों में उनकी चालान भी जाती है। इसीलिये पकड़ने वालों को तो फायदा होता ही है, जमींदार को भी खूब नफा मिलता है। उसकी आमदनी बढ़ती है। मछली वगैरह की आय को ही जल-कर कहते हैं। अब सभी लोग या जोई चाहे वही उन मछलियों को पकड़ नहीं सकता तो खामखाह ठीका लेने वालों में आपस में चढ़ाबढ़ी होगी ही। इसीसे जमींदार फायदा उठाता है और इने-गिने लोगों को ही मछलियों का ठेका देके साल में न जाने कितने हजार रुपये बना लेता है। दूसरी मछलियों की उतनी पूछ न होने से उन पर रोक-टोक नहीं है। फलतः जोई पकड़ेगा वही जल-कर देगा।

जल-कर का भी एक बँधाबँधाया नियम होता है। उस जमींदारी में और उसी प्रकार महाराजा दरभंगा से लेकर दूसरे जमींदारों की जमींदारियों में इस जल-कर के बारे में ऐसा अन्धेरखाता है कि कुछ कहिये मत। खासकर कोशी नदी जहाँ जहाँ बहती है वहीं यह बात ज्यादातर पाई जाती है। वह यह कि, जमीन में तो नदी बह रही है और फसल होती ही नहीं। फिर भी लगान तो किसान को देना ही पड़ता है। कानून जो ठहरा। मगर पानी में मछली वग़ैरह के लिये जल-कर अलग ही देना पड़ता है। एक ही जमीन पर दो टैक्स, दो लगान। जल-कर तो उस जमीन में जमा पानी पर होना चाहिये जिसमें कभी खेती नहीं होती। मगर यहाँ तो उलटी गंगा बहती है। इसीलिये चौधरी अपनी जमींदारी में यही करते हैं।

अब रही आखिरी बात जो नये चमड़े के एकाधिकार की है। बात यों

होती है कि देहातों में जब पशु मरते हैं तो आमतौर से मुर्दार मांस खाने वाले लोग उन्हें उंठा ले जाते और उनका चमड़ा निकाल के बेंच देते हैं। पशु वालों को ज्यादे से ज्यादा एकाध जोड़े जूते दे दिया करते हैं या कहीं-कहीं बँधे-बँधाये दो चार आने पैसे। यही तरीका सर्वत्र चालू है। बचपन से ही मेरा ऐसा अनुभव है। मगर उत्तरी बिहार के पूर्वी जिलों में कुछ उलटी बात पाई जाती है। चौधरी के सिवाय महाराजा दरभंगा की जमींदारी में पूर्णियाँ आदि में भी मुझे पता चला है कि बड़े जमींदार इन चमड़ों का एक खासतौर का बन्दोबस्त करते हैं जिसे 'चरसा महाल' कहा जाता है। उससे होने वाली आमदनी को चरसा महाल की आमदनी कहते हैं। तरीका यह होता है कि पशुओं से चमड़े निकालने के बाद निकालने वाला चाहे जिसी के हाथ बेंच नहीं सकता। किन्तु जमींदार को साल में हजारों रुपये देके इन चमड़ों की खरीद के ठेकेदार हर इलाके में एक, दो, चार मुकर्रर होते हैं और वही ये चमड़े खरीद सकते हैं। अगर दूसरे लोग खरीदें या दूसरों के यहाँ चमड़े वाले बेंच दें तो दण्ड के भागी बन जाते हैं। इस प्रकार खरीदार लोग रुपये दो रुपये के चमड़े को भी दोई चार आने में पा जाते हैं। बेंचने वाले को तो गर्ज होती ही है और दूसरा खरीदार न होने पर गर्ज का बावला जोई मिले उसी दाम पर बेंचता है। इस प्रकार हजारों गरीबों को लूट कर चन्द ठेकेदार और जमींदार अपनी जेबें गर्म करते हैं। यही तरीका चौधरी की जमींदारी में भी था।

इस चरसा महाल के खिलाफ हमारा आन्दोलन सभी जमींदारियों में हुआ। मगर चौधरी की जमींदारी में हमारे तीन-चार दौरे हुए और बहुत ज्यादे मीटिंगें हुईं। वहाँ किरासन तेल और मुँगठी मछली वाला सवाल भी था। इसलिये वहाँ का आन्दोलन बहुत ही जोरदार हुआ। लोग दबे भी थे सबसे ज्यादा। हमने वैसा या उससे भी दबा इलाका बिहार में एक ही और पाया है। वह है महाराजा दरभंगा की ही जमींदारी में दरभंगा जिले के ही पंडरी परगने का इलाका। वह भी इसी प्रकार बारह महीने पानी में डूबा रहता है और प्रायः तथा कथित छोटी जाति के ही लोग वहाँ बसते

हैं। इसीलिये चौधरी की जमींदारी की ही तरह हमारे आन्दोलन की गति वहाँ भी खूब तेज थी। दो तीन बार हम खुद गये। नतीजा हुआ कि वहाँ के गरीब भी उठ खड़े हुए। यही हालत बख्तियारपुर की जमींदारी में भी हुई और हमें पता लगा कि किरासन तेल आदि सभी चीजों का एकाधिकार खत्म हो गया।

चौधरी की तेजी ऐसी थी कि वह हमारा वहाँ जाना बर्दाश्त कर नहीं सकता था। सभा के लिये कोई जगह हमें न मिले और न ठहरने ही के लिये यह भी उसने किया। कार्य-कर्त्ताओं ने जो आश्रम बनाया था उसे भी तोड़ डालने की भरपूर कोशिश उसने की। मगर इन कोशिशों में वह सदा विफल रहा। हमें भी वहाँ जाने की एक प्रकार सी जिद हो गई। एक बार तो सलखुआ गाँव में हमारी मीटिंग होने को थी। मगर उसने कोशिश करके नाहक हम पर १४४ की नोटिश ऐन मौके पर करवा दी। फिर भी मीटिंग तो हुई ही। उसके पेट में हमारे नाम से गोया ऊँट कूदने लगता था। हिन्दू-मुसलिम प्रश्न को भी अपने फायदे के लिये उठाता था, मगर मुसलमानों का दबाने के ही समय। वह चाहता था कि हिन्दू उनकी मदद न करें। पर हमने हिन्दुओं को सजग कर दिया कि ऐसी भूल वे लोग न करें।

सन् १९३६ ई० की बरसात के, जहाँ तक याद है, भादों का महीना था। मगर वृष्टि अच्छी नहीं हुई थी और दिन में धूपछाहीं होती थी—बादल के टुकड़े आसमान में पड़े रहते थे। फिर भी धूप ऐसी तेज होती थी कि शरीर का चमड़ा जलने सा लगता था। यों तो बरसात की धूप खुद काफी तेज होती है। मगर भादों में उसकी तेजी और भी बढ़ जाती है। खासकर वर्षा की कमी के समय वह देह को झुलसाने लगती है। ठीक उसी समय सारन (छपरा) जिले के अर्कपुर मौजे में किसानों की एक जबर्दस्त मीटिंग की आयोजना हुई थी। तारीख तो याद नहीं। मगर दैवसंयोग से वह ऐसी पड़ी कि उसी दिन मीटिंग करके रात में सवा दस बजे की ट्रेन पकड़ कर बिहटा के लिये रवाना हो जाना जरूरी था। असल में अगले दिन बिहटा आश्रम में एक सज्जन किसानों के सवाल को लेकर ही आने और बातें करने वाले थे। यह बात पहले से ही तय थी। खास उनकी ही जमींदारी का सवाल था। जमींदारी तो कोई बड़ी न थी। मगर थे वह सज्जन हमारे पुराने परिचित। डेहरी के नजदीक दरिहट मौजा उनका ही है। वहीं किसानों का आन्दोलन तेज हो गया था। उसमें मुझे भी कई बार जाना पड़ा था। किसानों के प्रश्न के सामने परिचित या अपरिचित जमींदार की बात ही मेरे मन में उठ सकती न थी। उन्हें शायद विश्वास रहा हो। इसीलिये उनने दूसरों के द्वारा मुझे उलाहना भी दिया था। पर मुझे उसकी पर्वा क्यों होने लगी? मै तो अपना काम कर रहा था। ताहम जब उनने उसी के बारे में मेरे पास खुद आके बातें करनी चाही तो मैंने खुशी-खुशी उसकी तारीख तय कर दी।

यह अर्कपुर गाँव बंगाल नार्थ वेस्टर्न रेलवे (ओ० टी० रेलवे) के भाटापोखर स्टेशन से ६ मील दक्षिण पड़ता है। बाबू राजेन्द्र प्रसाद की

जन्मभूमि जीरादेई के पास से ही एक सड़क अर्कपुर चली जाती है। वहाँ जाने के लिये सवेरे की ही ट्रेन से मैं पहुँचा था। मेरे साथ एक आदमी और था। छपरे से श्री लक्ष्मीनारायण सिंह कांग्रेस कर्मी के सिवाय दो और वकील सज्जन थे जिनका घर उसी इलाके में पड़ता है। माटापोखर स्टेशन से करीब एक मील दक्षिण-पच्छिम बाजार में ही हमारे ठहरने और खाने-पीने का प्रबन्ध था। हम लोग वहीं गये, स्नान भी किया, भोजन किया और दोपहर के पहले ही अर्कपुर के लिये चल पड़े। हाथी की सवारी थी। मैं तो इसे पसन्द नहीं करता। मगर किसानों की सभा ही तो थी। अगर उसमें जाने के लिये सवारी मिली तो यही क्या कम गनीमत की बात थी? न जानें कितनी सभाओं में मुझे दूर दूर तक पैदल ही जाना पड़ा है, ताकि मीटिंग ठीक वक्त पर हो—उसमें गड़बड़ी न हो। यदि किसी धनी महाशय की मिहर्बानी से हाथी ही मिला तो नापसन्दी का सवाल ही कहाँ था? इस-लिये सबों के साथ मैं भी उसी पर बैठ के चल पड़ा। मगर रास्ते की धूप ने हमें जला दिया। बड़ी दिक्कत से दोपहर के लगभग अर्कपुर पहुँच सके। मैंने रास्ते, में ही तय कर लिया था कि लौटने के समय पैदल ही आऊँगा। सवेरे ही रवाना हो जाऊँगा; रास्ते में तो कोई गड़बड़ी होगी नहीं। वह तो देखा ठहरा ही। लालटेन साथ रहेगी। ताकि अँधेरा हो जाने पर भी दिक्कत न हो। इसीलिये सभी लोग अपना कपड़ा-लत्ता वगै-रह सामान स्टेशन के पास उसी बाजार में ही रख आये थे, ताकि लौटने में आसानी हो।

सभा तो वहाँ हुई और अच्छी हुई। लोग पीड़ित जो बहुत हैं। सरयू-माई निकट में ही दर्शन देती हैं। बरसात में उनकी बाढ़ से सारा इलाका जलमय होता है, फसल मारी जाती है, घरबार चौपट हो जाते हैं और किसानों में हाहाकार मच जाता है। फिर भी जमींदार लोग अपनी वसूलियाँ सख्ती के साथ करते ही जाते हैं। मेरे जाने से शायद किसानों को कुछ राहत मिले और उनकी आह बाहरी दुनिया को सुनाई पड़े इसीलिये मैं बुलाया गया था। ऐसी दशा में सभा की सफलता तो होनी ही थी। उसे

रोक कौन सकता था ? वहाँ के जमींदार महाराजा दरभंगा या चौधरी बखतियारपुर जैसे शानियल और हिम्मतवर भी न थे कि कोई खास बाधा डालते।

सभा के समय खास जिले के उस इलाके के कई कांग्रेस कर्मी और भी आगये थे और उन्हीं में थे चैनपुर के एक युवक जमींदार साहब भी, वह थे तो मेरे परिचित। उनके चचा वगैरह से मेरी पुरानी मुलाकात थी। मगर मैं तो चिहुका कि यह क्या ? किसानों की सभा में बड़े-बड़े जमींदारों के पदार्पण का क्या अर्थ है ? लोगों ने कहा कि ये तो कांग्रेसी हैं। कांग्रेस में तो सबों की गुंजाइश हुई। उसी नाते यहाँ भी आगये हैं। मैंने बात तो सुन ली। मगर मेरे दिल, दिमाग में किसान-सभा का कांग्रेस से यह नाता कुछ समा न सका। मेरी आँखों के सामने उस समय भारतीय भावी स्वराज्य की एक झलक सी आगई। मुझे मालूम पड़ा कि इन जमींदारों का भी तो आखिर वही स्वराज्य होगा। इनके लिये वह कोई और तो होगा नहीं। फिर वही स्वराज्य किसानों का भी कैसे होगा यह अजीब बात है। बाघ और बकरी का एक ही स्वराज्य हो तो यह नायाब बात और अघटित घटना होगी। लेकिन मेरे भीतर के इस उथल-पुथल और महाभारत को वे लोग क्या समझें ? फिर मैं अपने काम में लग गया और यह बात तो भूली गया। उस युवक जमींदार के पास एक बहुत अच्छी और नई मोटर भी थी जिस पर चढ़ के वे आये थे।

सभा का काम पूरा होने पर जब हमने दो घंटा दिन रहते ही रवाना होने की बात कही तो वहाँ के कांग्रेसी दोस्त पहले तो अब चलते हैं, तब चलते हैं करते रहे। पीछे उनने कहा कि अभी काफी समय है। जरा ठहर के चलेंगे। असल में वे लोग पैदल नौ मील चलने को तैयार न थे। ठीक ही था। मेरी और उनकी किसान-सभा एक तो थी नहीं। उन्हें तो स्वराज्य की फिक्र ज्यादा थी—गोल-मोल स्वराज्य की, जिसमें किसानों का स्थान क्या होगा इस बात का अब तक पता ही नहीं। उसी स्वराज्य की लड़ाई में किसानों को साथ लेने के ही लिये वे लोग आये थे। साथ ही,

उन लोगों का स्वराज्य तो फौरन ही असेम्बली, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड आदि की मेम्बरी वगैरह के रूप में आने वाला था जिसमें किसानों की मदद निहायत जरूरी थी। उसके बिना उन्हें यह स्वराज्य मिल सकता था नहीं। यही तो ठोस बात थी जिसे वे लोग खूब समझते थे। मोटर वाले बाबू साहब की भी कांग्रेस भक्ति का पता मुझे पूरा पूरा तब लगा जब मैंने उन्हें डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के लिये कांग्रेसी उम्मीदवार एक मुसलमान सज्जन के खिलाफ महावीरी झंडा वाली मोटर में बैठ के बुरी तरह परीशान देखा!

अन्त में जब ज्यादा देर हो गई और मैं घबराया तो उन लोगों ने कहा कि बाबू साहब की मोटर हमने मंगनी करली है, आपको उसीसे पहुँचा देंगे। इस पर मैं चौंक के बोला कि मैं एक जमींदार की मोटर में चलूँ और फिर भी किसान सभा करने वाला बनूँ? यह नहीं होने का। इस पर वे लोग थोड़ी देर चुप रहे। मैं भी परीशान था। आखिर इन्तजाम उन्हें ही करना था। अब देर भी हो चुकी थी। लालटेन बिना चलना गैरमुमकिन था और मेरे पास खुद लालटेन थी नहीं। नहीं तो भाग निकलता। जब फिर मैंने सवाल उठाया तो उनने वही मोटर वाली बात पुनरपि उठाई और बोले कि यह तो हमारा इन्तजाम है। इसमें आपका क्या है? आपने तो मोटर माँगी है नहीं। मैंने उन्हें इसका उत्तर दिया सही। मगर वे तो तुले थे और मैं अब लाचार था। कुछ दिन रहते यदि यह बात उठती तो मैं अकेला ही भाग जाता। पर, अब तो शाम हो रही थी। वे लोग भी मेरे स्वभाव से परिचित थे। इसीलिये पहले तो मोटर का सवाल उनने उठाया नहीं, और पीछे जब देखा कि अब मैं अकेला भाग नहीं सकता, तो उस सवाल पर डट गये। मैंने भी अन्त में कमजोरी दिखाई और मोटर से ही जाने की बात ठहरी!

रात के आठ बजे हम उन्हीं को लेके मोटर चली। बाबू साहब ही उसे चला रहे थे। मालूम हुआ, नजदीक में ही उनकी ससुराल है। उन्हें वहीं उतार के मोटर हमें स्टेशन ले जायगी। मोटर में बजने के कारण ही हमने

लालटेन साथ में ली ही नहीं। खैर, मोटर उनकी ससुराल में पहुँची। वे उतर गये। ड्राइवर आगे बैठा। उनने ताकीद कर दी कि खूब आराम से ले जाना। रास्ते में गड़बड़ी न हो। बस, वह स्टेशन की ओर चल पड़ी। मगर रास्ता वह न था जिससे हम दिन में आये थे। किन्तु सोलहों आने नई सड़क थी। रात के साढ़े आठ बज रहे थे। हमें पता नहीं किधर जा रहे थे। एकाएक कीचड़ में मोटर फँसी। वर्षा के दिन तो थे ही। सड़क भी कच्ची थी। ड्राइवर ने जोर मारा। मगर नतीजा कुछ नहीं। बहुत देर तक मोटर की कुश्ती उस कीचड़ से होती रही। हम घबरा रहे थे। धीरे-धीरे निराशा बढ़ रही थी। हमें शक भी हो रहा था कि ड्राइवर रात में जाना नहीं चाहता है। इसीलिये ईमानदारी से काम नहीं कर रहा है। मगर करते क्या ? बोलते तो बात और भी बिगड़ती। वह इनकार कर देता तो स्टेशन पहुँचना असंभव था। आखिर जब घड़ी में हमने साढ़े आठ देखा तो मोटर से निराश हो के पैदल चलने की सोचने लगे।

परन्तु एक तो भादों की अन्धेरी रात, दूसरे रास्ता बिलकुल ही अनजान, तीसरे साथ में लालटेन भी नहीं। मोटर के खयाल से हमने लालटेन की जरूरत न समझी और अब "चौबे गये छब्बे बनने, दूबे बन के लौटे" वाली बात होगई! फिर भी मुझे तो चाहे जैसे हो स्टेशन पहुँचना ही था। अगले दिन का प्रोग्राम जो था। आज तक मैंने ऐसा कभी होने न दिया कि मेरा निश्चित प्रोग्राम फेल हो जाये। मैंने हमेशा अपने कार्य-कर्त्ताओं से कहा है कि यकीन रखें, मेरा प्रोग्राम फेल हो नहीं सकता। या तो मैं पहले ही खबर दे दूँगा कि किसी कारण से आ नहीं सकता; ताकि समय रहते लोग सजग हो जावें। नहीं तो मैं खुद ही पहुँच जाऊँगा। और अगर ये दोनों बातें न हो सकीं तो मेरी लाश ही वहाँ जरूर पहुँचेगी। इसका नतीजा यह हुआ है कि मेरे प्रोग्राम के बारे में किसानों को पूरा विश्वास हो गया है कि वह कभी गड़बड़ होने का नहीं।

इसी के मुताबिक मुझे तो ग्यारह बजे रात की ट्रेन पकड़नी ही थी। मगर रास्ता मोटे अन्दाज से सात मील से कम न था। क्योंकि हम उत्तर

ओर मोटर से चल रहे थे और दो मील से ज्यादा चले न थे जब वह खराब होगई। हमें इतना मालूम था कि जिस सड़क से हम दिन में गये थे वह इस मोटर वाली सड़क से पच्छिम है और कुछ दूर जाने पर शायद यह उसी में मिल जाय। क्योंकि आखिर स्टेशन और पास की जमीन का नकशा तो आँखों के सामने नाचता ही था। और अब समय था कुल डेढ़ घंटे। इतने ही में उस बाजार में पहुँचना था जहाँ सामान रखा था। फिर वहाँ से एक मील स्टेशन चलना था सामान लेकर। यदि दस बजे बाजार में पहुँच जाते तो आशा थी कि पन्द्रह मिनट में वहाँ से स्टेशन पहुँच के ट्रेन पड़क लेते।

जब मैंने साथियों से पूछा तो दो ने तो साफ हिम्मत हारी, हालाँकि उन्हें भी छपरा पहुँचना जरूरी था। वे लोग वकील थे और कचहरी में उनका काम था। अब तो मैं और भी घबराया। मगर जब लक्ष्म बाबू से पूछा तो उनने कहा कि ज़रूर चलेंगे। फिर क्या था ! मेरा कलेजा बाँसों उछल पड़ा। मैं तो अकेले भी चल पड़ने का निश्चय करी चुका था और अब लक्ष्मी बाबू ने भी साथ देने को कह दिया। इसके बाद तो उन दोनों सज्जनों को भी हिम्मत आई और हम सबने मोटर महारानी को सलाम कर उत्तर का रास्ता पकड़ा।

रास्ता अनजान था। तिसपर तुर्रा यह कि मिट्टी सफेद थी। रास्ते में जहाँ तहाँ कीचड़ और पानी भी था। हमने कमर में धोती लपेटी। जूते हाथ में लिये। मेरे एक हाथ में मेरा दण्ड भी था। फिर हमारी "क्विक मार्च" शुरू हुई। यदि दौड़ते नहीं, तो समूची परेशानी के बाद भी ट्रेन पकड़ न पाते। इसलिये दौड़ते चलते थे। रास्ते में कहाँ क्या है इसकी पर्वा हमें कहाँ थी ? साँप बिच्छू का तो ख्याल ही जाता रहा। सिर्फ रास्ते में समय समय पर पड़ने वाले कोरडों में आदमी की आहट लेने की फिक्र हमें इसलिये थी कि रास्ते का पता पूछें कि ठीक तो जा रहे हैं ? कहीं दूसरी ओर बहक तो नहीं रहे हैं ? भाटापोखर अभी कितनी दूर है यह जानने की भी तीव्र उत्कंठा थी। मगर कोरडों और गाँवों में तमाम सन्नाटा छाया

मिलता था। बहुत दूर जाने पर एक गाँव में एकाध आदमी मिले जिनने फासला दूर बताया। बहुतेरे लोग तो रास्ते में हमें दौड़ते देख या पैरों की आहट सुन सटक जाते थे। उन्हें भय हो जाता था कि इस घोर अँधियाली में चोर डाकुओं के सिवाय और कौन ऐसी दौड़ धूप करेगा। हम भी ताड़ जाते और हँसते हँसते आगे बढ़ जाते थे।

रास्ते में एक बड़ी मजेदार बात हुई। हमने महाभारत में पढ़ा था कि मयदानव ने ऐसा सभा भवन बनाया कि दुर्योधन को सूखी जमीन में पानी का और पानी में सूखी जमीन का भ्रम हो जाता था। इससे पांडवों के कुछ आदमी उस पर हँस पड़े थे। इसी का बदला उसने पीछे लड़ाई के मौके पर लिया था। मगर हमें खुद इस भ्रम का शिकार होना पड़ा। अन्धेरी रात में आसमान साफ होने के कारण तारे खिले थे। फलतः रास्ता चमकता था। नतीजा यह हुआ कि हम लोगों को सैकड़ों बार सूखी जमीन में पानी का भ्रम हो गया और हमने धोती उठाली। पर, पाँव सूखी जमीन पर ही पड़ता गया। इसके उलटा पानी को सूखी जमीन समझ हम बेधड़क बढ़े तो घुटने तक डूब गये। जल्द बाजी और दौड़ की हालत में यह गौर करने का तो मौका ही नहीं मिलता था कि पानी है या सूखी जमीन। मगर इसमें हमें खूब मजा आता था। मजा तो अपने दिल में होता है। वह बाहर थोड़े ही होता है। हम लथपथ थे। कीचड़ से सारा बदन लिपटा था। मगर धुन थी ठीक समय पर पहुँच जाने की। इसीलिये सारी तकलीफ भूल गई और हम हँसते हँसते बढ़ते थे।

कुछ दूर जाकर जब पहली सड़क मिली तब कहीं हमें यकीन हुआ कि ठीक रास्ते जा रहे हैं। मगर अभी प्रायः चार मील चलना था। अतः हमें साँस लेने को फुर्सत भी कहाँ थी। खैर, दौड़ते दौड़ते दस बजे से पहले ही बाजार में पहुँच ही तो गये। पूछने पर पता चला कि जहाँ सामान है उसे बन्द करके हमारे परिचित सज्जन घर सोने चले गये। क्योंकि गाड़ी का समय नजदीक देख उनने मान लिया कि हम अब न आयेंगे। उनका घर भी कुछ फासले पर था। यह दूसरी दिक्कत पेश आई। खैर, हममें एक

दौड़ के वहाँ गया और जैसे तैसे उन्हें जगा लाया। उनके आते ही हमने अपने अपने सामान निकाले। मेरा समान कुछ ज्यादा था। मगर उस समय स्टेशन तक सामानों को पहुँचाने वाला कहाँ मिलता? फलतः हमने गधे की तरह अपने अपने सामान सर पर लादे। मेरी सहायता साथियों ने और साथ के आदमी ने भी की। इस तरह लदफन के हमने फिर वही "क्विक मार्च" शुरू किया। क्योंकि ट्रेन आ जाने का खतरा था। हमें अपनी घड़ी पर विश्वास होता न था। संकट के समय ऐसा ही होता है। अत्यन्त विश्वासों पर से भी विश्वास उठ जाता है।

मगर जब स्टेशन पहुँचे और वहाँ की घड़ी में देखा कि पूरे दस बजे हैं तब हमारी जान में जान आई! फिर तो हमारी खुशी का ठिकाना न रहा। निश्चित हो के हमने हाथ पाँव वगैरह धोये, कपड़े बदले और देह साफ़ की। इतने खतरे का काम हमने किया, ऐसी लम्बी राह, जो आठ मील से कम न थी, हमने डेढ़ घंटे में तय की और बाजार में पन्द्रह मिनट ठहरे भी, यह याद करके हमारा आनन्द बेहद बढ़ गया। खूबी यह कि हमें न तो कोई थकावट मालूम होती थी और न परीशानी। सख्त से सख्त काम और मिहनत के बाद भी यदि सफलता मिल जाय तो सारी हैरानी हवा में मिल जाती है। लेकिन यदि थोड़ी भी परीशानी के बाद विफल होना पड़े तो ऐसी थकावट होती है कि कुछ पूछिये मत। और हम तो इस साहस (adventure) के बाद सफल हो चुके थे। तब थकावट क्यों होती? कम से कम हमें उसका अनुभव क्यों होता?

१०

सन् १६३५ ई० की मई का महीना था। उसी समय पूर्णियां जिले में बरसात शुरू हो जाया करती है। कांग्रेस के पुराने कार्यकर्त्ता पं० पुण्यानन्द झा पूर्णियां जिले के अररिया सब डिविजन के जहानपुर में रहते हैं। उनके ही आग्रह और प्रबन्ध से उस जिले का पहले पहल दौरा करने का मौका मिला। कटिहार स्टेशन से ही पहले किशनगंज जाने का प्रोग्राम था। कटिहार में डा० किशोरीलाल कुंडू के यहाँ ठहर के किशनगंज की ट्रेन पकड़नी थी। किशनगंज पूर्णियां जिले का सब डिविजन और बिहार प्रान्त का सबसे आखिरी पूर्वीय इलाका है। यों तो उस जिले में ७५ फीसदी मुसलमान ही बाशिन्दे माने जाते हैं। मगर किशनगंज में उनकी संख्या ६५ प्रतिशत कही जाती है। किसानों के आन्दोलन के सिलसिले में ऐसे इलाके में जाने का यह पहला ही अवसर था। मुझे इस बात की बड़ी प्रसन्नता थी।

झा जी कटिहार में ही साथ हो लिये और बरसोई होते हम किशनगंज पहुँचे। वहाँ के प्रसिद्ध कांग्रेस कर्मी श्री अनाथकांत बसु के यहाँ हम लोग ठहरे। पहली सभा वहीं शहर में ही होने वाली थी। सभा हुई भी। मगर वृष्टि के चलते जैसी हम चाहते थे हो न सकी। इसका पश्चात्ताप सबों को था। मगर मजबूरी थी किशनगंज में दोई दिन ठहरने का हमारा प्रोग्राम था। तो भी अनाथ बाबू ने भीतर ही भीतर तय कर लिया कि मुझे एक दिन और ठहरा के शहर में फिर सभा की जाय जो सफल हो। उनने देहात में भी खबर भेज दी और इसका खासा प्रचार किया। जब मैं तीसरे दिन चलने के लिये तैयार था तभी कुछ लोगों के डेप्युटेशन ने हठ करके मुझे रोक लिया और खासी अच्छी सभा कराई। मुझे भी झा जी के साथ देहात में होके ही उनके घर (जहानपुर) जाना था।

इसलिये कोई खास प्रोग्राम न होने के कारण एक दिन रुकने में विशेष बाधा नहीं हुई। यदि कहीं का निश्चित प्रोग्राम होता, तब तो तीसरे दिन रुकना गैर मुमकिन था।

हाँ, किशनगंज से ६-७ मील उत्तर देहात में दूसरे दिन जाना था। पांजीपाड़ा नामक एक हाट में मीटिंग करनी थी। किशनगंज से जो सड़क उत्तर ओर जाती है उसी के किनारे पांजीपाड़ा बस्ती है। किशनगंज से एक लाइट रेलवे दार्जिलिंग जाती है। मगर वह तो अजीब सी है। मालूम होता है बैलगाड़ी चलती है। हम लोग, जहाँ तक याद है, घोड़ागाड़ी से ही पांजीपाड़ा गये। बाजार का दिन था। जिस जगह बैठके लोग चीजें बेंचते और खरीदते थे उसके पास ही एक फूस का झोपड़ा था। हम तो कही चुके हैं कि वह इलाका प्रायः मुसलमानों का ही है। हाट में भी हमें वही नजर आ रहे थे। यह भी देखा कि उस झोपड़े में उनका एक खासा मजमा है, यों तो उसमें भी आना जाना लगा ही था। हमें पता लगा कि वह झोपड़ा ही मस्जिद थी जिसमें दोपहर के बाद की नमाज पढ़ी जा रही थी। घोर देहात में इस प्रकार धार्मिक भावना देखके मैं प्रभावित हुआ। ऐसा देखना पहली ही बार था! मैंने सोचा कि इन्हीं के सामने किसान-समस्याओं पर स्पीच देनी है। कहीं ऐसा न हो कि सारा परिश्रम बेकार जाय।

मगर बात उलटी ही हुई। मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा जब मैंने देखा कि वे सभी बहुत ही गौर से मेरी बातें सुनते थे। मैं जैसे जैसे बोलता जाता था वैसे वैसे उनके चेहरे खिलते जाते थे। मेरी बातों की पसन्दगी जानने के लिये कितनों के सर हिलते थे। बहुतेरे तो मस्त हो रहे थे और झूमते थे। एक तो मुझे डर यह था कि मुसलमान किसानों में बोलना है। कहीं ऐसा न हो कि गेरुवा वस्त्र देखते ही वे भड़क उठें कि यह कोई हिन्दू फकीर अपने धर्म कर्म की बात बोलने आया है। जमात बाँध के नमाज पढ़ते देख मेरा यह डर और भी दृढ़ हो गया था। दूसरा अन्देशा यह था कि बंगाल की सरहद पर रहने वाले लोगों में बंगला

बोलते हैं और जिनकी रहन सहन बिलकुल ही बंगालियों की है, मेरी हिन्दुस्तानी भाषा कुछ ठीक न होगी। और बंगाली बोलना तो मैं जानता नहीं, गो पढ़ या समझ लेता हूँ। तीसरा खयाल यह था कि उनके खास सवालों को तो मैं जानता नहीं कि उन्हीं के बारे में बोल के उनके खयाल अपनी ओर खींच सकूँ। इसीलिये सिर्फ उन्हीं बातों पर बोलता रहा जो सभी किसानों को आमतौर से खलती हैं और जिनसे अपना छुटकारा सभी चाहते हैं। जैसे जमींदारों के जुल्म, लगान की सख्ती, वसूली में ज्यादतियाँ, कर्ज की तकलीफें, बकाश्त जमीन की दिक्कतें वगैरह वगैरह।

मगर मेरा डर और अन्देशा बेबुनियाद साबित हुआ। उनने मेरी बातें दिल से सुनीं, गोया मैं वही बोलता था जो वह चाहते थे। बोलने में मेरी जबान और भाषा ऐसी होती ही है कि सभी आसानी से समझ लें। गुजरात से लेके पूर्व बंगाल और आसाम तक मैं यही भाषा बोलता रहा हूँ और किसान समझते रहे हैं। असल में उनके दिल की बात सीधी सादी और चुभती भाषा में अपने दिल से बोलिये तो वे खामखाह आधी या तीन चौथाई समझते ही हैं और इतने से ही काम चल जाता है। किशनगंज वाले तो सोलह आना समझते । खासकर मुसलमान कहीं भी रहें, तो भी हिन्दुस्तानी जबान वे समझते ही हैं। यह एक खास बात है।

इसलिये जब मैंने मीटिंग खत्म की तो उनने मुझे घेर लिया और कहने लगे कि आपने तो बड़ी अच्छी बातें कही हैं। ये तो हमें खूब ही पसन्द हैं। ये हमारे काम की ही हैं। हमने बहुत से लेकचर मौलवियों के आज तक सुने हैं। मगर मौलवी लोग तो ऐसी बातें बोलते नहीं। आप तो रोटी का सवाल ही उठाते हैं और उसी की बातें बोलते हैं। आप हमारे पेट भरने और आराम की बातें ही बोलते हैं जिन्हें हम खूब समझते हैं। ये बातें हमें रुचती हैं। सो आप हमारे गाँवों में चलिये। कई चलते पुर्जे लोगों ने हठ किया कि मैं उनके गाँवों में चल के ये बातें सबों को सुनाऊँ। क्योंकि वे लोग दूर दूर से आये थे और हर गाँव के एक दो चार

ही वहाँ थे। बाकी तो खेती गिरस्ती में ही लगे थे। मगर मैंने उनसे उस समय तो यह कहके छुट्टी ली कि कभी पीछे आऊँगा। इस समय मेरा प्रोग्राम दूसरी जगह तय हो गया है। हालाँकि मैं वह वादा अभी तक पूरा कर न सका, इसका सख्त अफसोस मुझे है।

इस प्रकार उस मीटिंग और मुसलिम किसानों की मनोवृत्ति का बहुत ही अच्छा असर लेके हम लोग शाम तक किशनगंज वापिस आये। किसानों और मजदूरों के आये दिन के जो आर्थिक प्रश्न हैं और जो उनकी रोजमर्रा की मुसीबतें हैं यह ऐसी चीजें हैं कि इन्हीं की बुनियाद पर सभी किसान मजदूर, चाहे उनका धर्म और मजहब कुछ भी क्यों न हो, एक हो सकते हैं। आसानी से एक सूत्र में बेखटे के बँध सकते हैं, उनकी जत्थेबन्दी हो सकती है, यह बात हमारे दिमाग में उस दिन से अच्छी तरह बैठ गई। हमें वहाँ इसका नमूना ही मिल गया। यह हमारी जिन्दगी और उनके जीवन में शायद पहला ही मौका था जब मुसलमान किसानों ने हमारे जैसे हिन्दू कहे जाने वाले फकीर को अपना आदमी समझा और हमें अपने घर गाँव में मुहब्बत से ले जाना चाहा। हालाँकि हमारी और उनकी मुलाकात पहले पहल सिर्फ उसी दिन एक दो ही घंटे के लिये हुई थी। आखिर आर्थिक प्रश्नों के सिवाय दूसरा कौन जादू था जिसने उन पर ऐसा असर किया? हमारी बातों के सामने मौलवियों की बातों को जो उनने उतना पसन्द नहीं किया इसकी वजह आखिर दूसरी और क्या थी?

कहते हैं कि सारंगी और सितार के तारों की झनकार जब कहीं दूर से भी आती है तो सभी इनसान, फिर चाहे वह किसी भी धर्म मजहब के क्यों न हों, मुग्ध होके जबर्दस्ती खिंच आते हैं। सारी बातें, सारे काम भूल के एकटक सुनते रहते हैं। लेकिन अगर खुद उन्हीं को घर के—दिलों के—तार झनक उठें तो? तब तो और भी मजा आवेगा और वे लट्टू होके ही रहेंगे। असल में दुनियावी विपदाएँ सभी गरीबों की एक ही हैं। वे सभी हिन्दू मुसलिम को बराबर सताती हैं। इसीलिये एक तरह सभी के दिलों में चुभती हैं। ऐसी हालत में ज्योंही उनकी चर्चा हमने उठाई कि

सभी के दिलों के तार साथ ही झनक उठे। फलतः सभी एक ही हाँ में हाँ मिलाते, सुर में सुर मिलाते और एक ही राग गा उठते हैं कि "कमाने वाला खायगा, इसके चलते जो कुछ हो"। इस राग में हिन्दू मुसलिम भेद खामखाह मिट जाता है। इस पवित्र धारा में हिन्दू मुसलिम कलह की मैल बिना धुले रही नहीं सकती यह पक्की बात है। इसका ताजा ताजा नमूना हमारी आँखों के सामने उस दिन पांजीपाड़े में नजर आया और हमें भविष्य के लिये पूरी उम्मीद हो गई कि गरीबों के दुख जरूर कटेंगे और उनके अच्छे दिन जरूर आयेंगे, सो भी जल्द से जल्द, अगर हमने अपना यही रास्ता, यही काम जारी रखा।

खैर, तो किशनगंज लौटने के बाद, जैसा कि पहले कहा है, एक दिन वहाँ ठहर के उस सब डिविजन की देहात का अनुभव करते और मजा लूटते पं० पुण्यानन्द जी के गाँव पर पहुँचने की बात तय पाई। उनका गाँव जहानपुर अन्दाजन २५-३० मील के फासले पर है। बरसात का समय था। देहात की सड़कें तो योंही चौपट होती हैं। तिसपर खूबी यह कि वह इलाका सबसे पिछड़ा हुआ है। इसलिये रास्ते का भी ठिकाना न था, सवारी का तो पूछना ही नहीं। बड़ी दिक्कत से बैलगाड़ी मिल सकती थी। मगर रास्ता खराब होने से बैल कैसे गाड़ी खीचेंगे यह पेचीदा सवाल था। एक तो ऐसी दशा में उन्हें गाड़ी में जोतना कसाईपन होगा। दूसरे वे चल सकते नहीं चाहे हम कितने भी निर्दय क्यों न बनें। असल में गाड़ी या हल में जोतने के समय हम लोग बैलों के साथ ठीक वही सलूक करते हैं जो जमींदार हम किसानों के साथ बर्त्तते हैं। अगर जमींदार उन्हें आदमी न समझ लावारिस पशु मानते हैं, और इसीलिये वे खायें पियेंगे या नहीं इसकी जरा भी फिक्र न कर उनकी सारी कमाई जैसे तैसे वसूल लेने की फिक्र करते ही रहते हैं, तो किसान अपने बैलों के साथ भी कुछ वैसा ही सलूक करते हैं, हालाँकि किसानों के लिये जमींदारों जैसी निर्दयता गैर मुमकिन है। वे बैलों के खाने पीने की कोशिश तो करते हैं। बेशक उनकी कमाई का अन्न पास रखके उन्हें भूसा, पुआल वगैरह वही चीजें

खिलाते हैं जो किसानों के लिये प्रायः बेकार सी हैं। बदले में जमींदार भी किसानों की कमाई के गेहूँ, बासमती, घी, मलाई आदि खुद लेके उनके लिये मंड़ुवा, खेसरी, मठा आदि ही छोड़ते हैं। मगर जहाँ तक जोतने का सवाल है किसान बैलों के साथ बड़ी निर्दयता से पेश आते हैं।

नतीजा यह हुआ कि मेरी ये बातें कुछ काम न कर सकीं और एक बैलगाड़ी तैयार की गई। अनाथ बाबू को भी साथ ही चलना था। जहानपुर और किशनगंज के बीच में ही कांग्रेस के पुराने सेवक श्री शराफत-अली मस्तान का गाँव कटहल बाड़ी चैनपुर पड़ता है। बीच में वहीं एक रात ठहरने और मीटिंग करने की बात तय पाई थी पहले से ही। मस्तान को भी यह बात मालूम थी। मगर ठीक दिन और वक्त का पता न था। हमें भी खुशी थी कि सन् १६२१ ई० से ही जिसने मुल्क की खिदमत में अपने को बर्बाद कर दिया और जमीन जायदाद वगैरह सब कुछ तहस नहस और नीलाम तिलाम होने दिया उस शख्स से मिलना होगा, सो भी खांटी किसान से। बर्बादी की पर्वा न करने के कारण ही तो उस शख्स का नाम सचमुच मस्तान पड़ा है। 'शराफत अली' तो शायद ही कोई जानता हो। सिर्फ मस्तान के ही नाम से वह पुराना देश सेवक प्रसिद्ध है। कांग्रेस का आन्दोलन शुरू होते ही उसे धुन सवार हुई कि किसान किसी को लगान क्यों देंगे, और खुद क्यों भूखों मरेंगे? लोगों को उसने यही कहना शुरू किया। खुद भी यही किया। फिर जमीन जायदाद बचती तो कैसे? जमीन थी काफी। मगर सभी योंही खतम हो गई और वह बहादुर दर-दर का भिखारी बन गया। उसके परिवार को भूखों मरते रहने की नौबत आई! फिर भी यह धुन बराबर मुद्दत तक बनी रही। आज भी आग वही है, जो भीतरों-भीतर दबी पड़ी है। अगर किसान सिर्फ इतना ही समझलें कि उन्हें भी खाने का हक है। वे भूखे मर नहीं सकते। और अगर इसी के अनुसार यदि वे अपनी कमाई को खाने पीने लग जांय तो बिना किसी की पर्वा किये ही, तो उनकी सारी तकलीफें हवा में मिल जांय।

जो कुछ हो, हम सवेरे ही खा पी के बैलगाड़ी पर बैठे और मस्तान के गांव की ओर चल पड़े। रास्ते में चारों ओर सिर्फ मुसलमान किसानों के ही गांव पड़ते थे। हिन्दुओं की बस्ती तो हमें शायद ही मिली। ऐसी यात्रा मेरी जिन्दगी में पहली ही थी। सच बात तो यह है कि हजार जानने सुनने और समझने बूझने पर भी मेरे दिल में यह खयाल बना था कि हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमान जनता खामखाह सख्त मिजाज झगड़ालू और घमंडी होती है। इसीलिये रास्ते में पड़ने वाले गांवों में बराबर इस बात की तलाश में था की ऐसी बातें मिलेंगी। उनके मकान वगैरह में भी कुछ खास बातें देखना चाहता था। इसीलिये जब मुसलमान मिलते थे तो उनकी ओर मैं निहायत गौर से देखता था। गांव के बाद गांव आते गये और एक के बाद दीगरे न जानें कितने व्यक्ति और कितने गिरोह रास्ते में मिले। हमने बारबार उनसे मस्तान के गांव की राह पूछी। उनने बताई भी। मगर हमें कोई खास बात उनमें मालूम न हुई। वही सादगी, वही सीधापन, वही मुलायम बातें और वही रहन सहन ! जरा भी फ़र्क नहीं ! दाढ़ी भी तो सबों को न थी कि फर्क मालूम पड़ता। कपड़े भी वैसे ही थे। मकानों की बनावट में तो कोई अन्तर था ही नहीं। मुर्गे मुर्गियां नजर न आयें तो और कोई फर्क गावों में न था। यदि किसी और मुल्क का आदमी ये चीजें देखता तो वह यह समझी नहीं सकता कि ये हिन्दू हैं या मुसलिम ! ठीक ही है किसान तो किसान ही हैं। वह हिन्दू या मुसलिम क्यों बनने लगा। बीमारी, भूख, गरीबी, तबाही वगैरह भी तो न कलमा और नमाज ही पढ़ती है और न गायत्री संध्या ही जानती है और इन्हीं सबों के शिकार सभी किसान हैं—इन्हीं की छाप सभी किसानों पर लगी हुई है। फिर उन्हें चाहे आप हिन्दू कहें या मुसलिम ! हैं तो दर-असल वे भूखे, गरीब, मजलूम, तबाह, बर्बाद।

यह देख के मेरे दिल पर इस यात्रा में जो अमिट छाप पड़ी वह हमेशा ताजा बनी है। पांजीपाड़े के बाद यह दूसरा अनुभव फौरन ही हुआ जिसने मेरी आंखें सदा के लिये खोल दीं। इससे मेरी आंखों के

सामने असलियत नाचने लगी। "जनता, अवाम (masses) एक हैं, इनमें कोई भी धर्म मजहब का फर्क नहीं। वे भीतर से दुरुस्त है।" यह दृश्य मैंने देखा! इसने किसान-सभा के काम में मुझे बहुत बड़ी हिम्मत दी और आज जब कि बड़े से बड़े और क्रान्तिकारी से भी क्रान्तिकारी कहे जाने वाले हिन्दू मुसलमान तनातनी से बुरी तरह घबरा रहे हैं, भविष्य के लिये निराश हो रहे हैं, मैं निश्चिन्त हूं। मैं इनकी बातें सुन के हँसता हूं। इन्हें इन झगड़ों की दवा मालूम नहीं है। उसे तो मैंने न सिर्फ किताबों मे पाया है, बल्कि किशनगंज के इस दौरे में देखा है।

इस प्रकार कुछ दूर जाने के बाद बैलगाड़ी छोड़ देने की नौबत आई। असल में बैल थे तो कमजोर और रास्ता ऐसा बेढंगा था कि न सिर्फ बैलगाड़ी के पहिये कीचड़ में डूब जाते थे, बल्कि बैलों की टांगें भी। जब वे चल न पाते तो गाड़ीवान उन्हें पीटता था। यह दृश्य बर्दाश्त के बाहर था। मगर इतने पर भी बैल आगे बढ़ पाते न थे। बढ़ते भी आखिर कैसे? रास्ता वैसा हो तब न? इसलिये तय हुआ कि गाड़ी छोड़ के पैदल चलें। नहीं तो रास्ते में ही रह जायँगे और मस्तान के गांव तक भी आज पहुँच न सकेंगे। फलतः कपड़ा लत्ता एक आदमी के सर पर गट्ठर बांध के रख दिया गया और जूते हाथ में लेके हम सभी उत्तर पच्छिम रुख पैदल ही बढ़े। कीचड़ में फंसते, पानी पार करते, गिरते पड़ते हम लोग बराबर बढ़ते जाते थे। यह भी मजेदार यात्रा थी। हममें जरा भी मनहूसी नजर न आई। हंसते हुए चल रहे थे। यह कितना सुन्दर 'प्लेजर ट्रिप' था, सैर सपाटा था। आखिर कीचड़ पानी से लथपथ और वृष्टि से भी भीगते भागते शाम होते न होते हम लोग मस्तान के गांव पर पहुँची तो गये।

मस्तान साहब खबर पाते ही दौड़े दौड़ाये हाजिर आये और हम सभी गले गले मिले। शाम का तो वक्त था ही। हम लोग थके मांदे भी थे। मैं तो रात में कुछ खाता पीता न था, सिवाय गाय के दूध के और वह अचानक मिल सकता न था। अगर पहले से खबर होती तो उसका इन्तजाम शायद

हुआ रहता। मस्तान, और उनके साथी कोशिश करके थक गये। मगर दूध न मिला। बाकी लोगों ने खाना-वाना खाया। रात में थकावट के चलते हम सभी सो रहे। तय पाया कि बहुत तड़के लोग जमा हों और हमारी मीटिंग हो। उसी दिन जल्द से जल्द सभा करके और खा पी के हमें जहानपुर पहुँचने के लिये आगे चल पड़ना भी था। हां, मस्तान साहब इधर उधर खबरें भेजते रहे उस दिन शाम से ही, कि कल तड़के लोग जुट जाँय। पता लगा कि उनने हमारे बारे में पहले से ही लोगों में प्रचार भी कर रखा था।

दूसरे दिन नित्यक्रिया स्नानादि के बाद हमारी सभा की तैयारी हुई। लोग जमा हुए। हमने उन्हें, घंटों समझाया। हम तो सिर्फ उनकी भूख और गरीबी की बातें ही करना जानते थे और वे बातें उन्हें रुचती भी थीं। मस्तान साहब शेर (कविता) के प्रेमी हैं। बहुत से पद मौके-मौके के वे जानते भी हैं। हमारे बारे में भी उनका यही खयाल था। उनने हमें भी कहा कि बीच बीच में कुछ चुभते हुए पद सुनाते चलेंगे तो अच्छा असर होगा। जहाँ तक हो सका हमने उनकी मर्जी को पूरा किया। मगर हमें खुशी थी कि एक सच्चे जन-सेवक के घर पर ठेठ देहात में मरते जीते जा पहुँचे थे, जैसे लोग तीर्थ और हज की यात्रा में पैदल ही जाते हैं! जहीं सच्चे और मस्ताने जन-सेवक हों असल तीर्थ तो वही है। पुराने लोगों ने तो कहा भी है कि सत्पुरुष और जन सेवक तीर्थों तक को पवित्र कर देते हैं अपने पांवों की धूलों से—"स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः।" तीर्थ बने भी तो हैं आखिर सत्पुरुषों के रहने के ही कारण। इस युग में किसानों के तीर्थ कुछ और ही ढंग के होंगे।

जहानपुर चलने के लिये भी एक बैलगाड़ी का इन्तजाम हुआ, हालाँकि पहले दिन के अनुभव से हम डरते थे कि फिर वही हालत होगी। कुछ तो पहले दिन की थकावट और कुछ लोगों के हठ के करते बैलगाड़ी फिर भी ठीक होई गई और उसी पर लद-फन के हम लोग दोपहर के पहले ही चल पड़े। शाम तक जैसे तैसे झा जी के घर पर पहुँचना जो था।

लेकिन हमारा डर सही निकला। आगे का रास्ता और भी विकट था। नदी नाले भी काफी थे। आखिरकार जहाँ तक जाते बना हम लोग गये। मगर जब गाड़ी का आगे जाना गैर मुमकिन हो गया तो उसे लौटा के हम आगे बढ़े। नदियों में गाड़ी पार करने में दिक्कत भी काफी थी। इसलिये हमने पैदल ही चलना ठीक समझा। नहीं तो शाम तक रास्ते में ही पड़े रह जाते और जहानपुर पहुँची न पाते। आज की यात्रा गुजरे दिन की यात्रा से भी मज़ेदार थी। हमें इन घोर देहातों का अनुभव करना जरूरी था। यह भी जांच करनी थी कि हम खुद कहां तक पार पा सकते हैं। क्योंकि बिना ऐसा किये और ऐसी तकलीफें बर्दाश्त किये किसान-आन्दोलन चलाया जा सकता नहीं। यह मजदूर सभा थोड़े ही है कि शहरों में ही मोटर दौड़ा के और रेलगाड़ियों से ही चल के कर लेंगे। इसीलिये सैकड़ों बार हमने छोटी मोटी ऐसी यात्राएँ जान बूझ के की हैं।

आखिर दूसरे दिन की हमारी यात्रा भी पूरी हुई और जहानपुर पहुँच गये। पं० पुण्यानन्द झा एक लगन के आदमी हैं। हमने देखा कि गाँव बीच में सबसे ऊँची जमीन पर बने झोपड़े को उनने आश्रम बना रखा है। चरखे वगैरह का काम वहाँ बराबर होता था। कुछ लड़के पढ़ते भी थे। पण्डित जी के एक ही लड़का है। मगर उसे उनने कहीं और जगह जा के पढ़ने न दिया! सरकारी स्कूलों का बायकाट जो किया था! इसीलिये उसे अन्त तक निभाया। हमने प्रायः सभी लीडरों को देखा है कि सन् १९२१ ई० के बायकाट के बाद फिर उनके लड़के वगैरह उन्हीं सरकारी स्कूलों में भर्ती हुए हैं। मगर झा जी ने ऐसा करना पाप समझ अपने लड़के को घर पर ही रखा और पढ़ने के बदले लोगों की जो भी सेवा वह अपने ढंग से उस देहात में कर सके उसे ही पसन्द किया। उनका आश्रम बहुत ही साफ सुथरा और रमणीय था। तबीअत खूब ही रमी, गोया अपने घर पहुँच आये। खासकर मैं सफाई बहुत ही पसन्द करता हूँ। जरा भी गन्दगी हो तो मुझे नींद ही नहीं आती। बेचैन हो जाता हूँ।

स्नानादि के बाद दूध पीके रात में सो गये। अगले दिन सभा होगी यही निश्चय हुआ था।

किसानों की सभा भी अगले दिन बहुत ही अच्छी हुई। हमने अपने दिल का बुखार निकाल लिया। उन्हें उनके मसले बहुत ही अच्छी तरह समझाये। उनकी आँखों के समक्ष न सिर्फ उनकी हालत की नंगी तसवीर खींची, बल्कि उसके कारण भी साफ साफ बता दिये। उन्हें यह झलका दिया कि उनकी नासमझी और कमजोरी से ही उनकी यह बदतर हालत है और दूसरे तरीके से यह दूर भी नहीं हो सकती जब तक वे खुद तैयार न होंगे, अपने में हिम्मत न लायेंगे और अपने हकों को न समझेंगे। उनका सबसे पहला हक है कि भर पेट खायें पियें, दवादारू का पूरा इन्तजाम करें, जरूरत भर कपड़े पहनें ओढ़ें और स्वास्थ्य के लिये जरूरी सामान तथा मकान वगैरह बनायें। दुनियाँ की कोई सरकार और कोई ताकत इस बात से इनकार कर नहीं सकती अगर डँट के वे इस हक का अमली तौर से दावा करने लगें। जब वे खुद कमाके अपने आप खाना और अपनों को खिलाना चाहते हैं, और बाकी दुनियाँ को भी, तो फिर किसे हिम्मत है कि वे खुद भूखे रहें और दुनियाँ को खिलायें ऐसा दावा पेश करे? आखिर जिस गाय से दूध चाहते हैं उसे पहले खूब खिलाते पिलाते और आराम से रखते ही हैं। नहीं तो दूध के बजाय लात ही देती है।

अब किसी प्रकार अररिया चलके रेलगाड़ी पकड़ना और कटिहार पहुँचना था। बरसात के दिन और रास्ते में छोटी बड़ी नदियाँ थीं। फिर वही बैलगाड़ी हमारी मददगार बनी। मगर इस बार दो गाड़ियाँ लाई गईं। ऊपर वे छाई भी गई थीं। पहले की गाड़ियाँ तो मामूली ही थीं। मगर इस बार जरा देख भाल के गाड़ी और बैल लाये गये। एक में मैं खुद अपने सामान के साथ बैठा और दूसरी में झा जी और अनाथ बाबू। रात में ही रवाना हुए। नहीं तो अगले दिन कहीं राह में ही रह जाना पड़ता। किस हैरानी और परीशानी के साथ यह बाकी यात्रा पूरी हुई वह वही समझ सकता है जिसे उधर ऐसे समय में जाने का मौका मिला हो। इसका यह

मतलब नहीं कि हममें मनहूसी थी, या हमने इस दिक्कत को अपने दिल में जरा भी स्थान दिया। देते भी क्यों? हमने खुद जान-बूझ के ही यह यात्रा की थी। उन विकट देहातों का अनुभव जो लेना था। हमें खुद इस सख्त इम्तहान में पास जो होना था। और हमें खुशी है कि अच्छी तरह उत्तीर्ण हुए।

अररिया में पहुँच के सीधे स्टेशन चले गये। स्टेशन शहर से दूर पड़ता है। वहीं ठहरे, स्नानादि किया, कुछ खाया-पिया। फिर ट्रेन आई और हमें लेके उसने कटिहार पहुँचाया।

११

सन् १९३५ ई० की किशनगंज वाली यात्रा के ही सिलसिले में हमें कटिहार के बाद कुरसैला स्टेशन जाना और वहाँ से उतर के नजदीक के ही उमेशपुर या महेशपुर में होने वाली विराट् किसान-सभा में भाषण देना था। वहाँ से फिर टीकापट्टी आश्रम में जाने का प्रोग्राम था। वहीं रात को ठहरना भी था। हम लोग सदल-बल ट्रेन से रवाना हो गये। स्टेशन पर बाजे गाजे, झंडे और जुलूस की अपार भीड़ थी। लोगों में उमंग लहरें मार रही थीं। किसान-सभा और किसानों के नारों और आजादी की पुकार से आसमान फटा जा रहा था। स्टेशन के नजदीक ही एक बड़े जमींदार साहब का महल है और सभा-स्थान में जाने का रास्ता भी महल की बगल से ही था। पता नहीं वे वहाँ उस समय थे, या कहीं चले गये थे। यदि थे भी तो उन पर क्या गुजरती थी यह कौन बताये। वे बड़े सख्त जमींदार हैं जो जेठ की दुपहरी के सूर्य की तरह तपते हैं! उनकी जमींदारी में रहने वाले किसानों का तो ख़ुदा ही हाफ़िज़!

मगर माने जाते हैं वे भी कांग्रेसी। कांग्रेसीजनों में उनकी पूछ है। शायद टीकापट्टी आश्रम तथा कांग्रेस की और संस्थाओं को साल में काफी अन्न और पैसे उनसे मिलते हैं। जिले के कांग्रेसी लीडरों का सत्कार भी उनके यहाँ होता है। लीडरों को तो आखिर स्वराज्य लेना है पहले, और जब तक जमींदारों को साथ न लेंगे तब तक स्वराज्य मिलने में बाधा जो खड़ी होगी। अगर उनके बिना वह भी मिल गया तो शायद लँगड़ा होगा। लेकिन यदि किसानों की तकलीफों का खयाल करें तो ये जमींदार कांग्रेस में आ नहीं सकते। इसीलिये बदस्तूर उस ओर ध्यान नहीं दिया जाता। सभी को ले के चलना जो ठहरा। यह भी सुना है कि वे जमींदार साहब और उन जैसे दो एक और भी साल में कांग्रेस के बहुत मेम्बर इधर

बनाने लगे हैं। बात तो आसान है। जोई किसान लगान देने आये उससे ही लगान के सिवाय चार आना और ले लेना कोई बड़ी बात नहीं है। चार आना दिये बिना बाक़ी रुपयों की भी रसीद न मिले तो ? तब तो सभी गायब हो जाते हैं। इसीलिये मजबूरन वे गरीब चार आना देते ही हैं। नजराना, शुकराना, रसीदाना, फारख या फरखती वग़ैरह के नाम पर जब बहुत कुछ गैर कानूनी वसूलियाँ उनसे की जाती हैं, तो इस चार आने की क्या गिनती ? खतरा यही है कि जब चवन्नी की वसूली जारी हो जायगी तो कुछ दिनों के बाद कांग्रेस के नाम की भी जरूरत न रहेगी और ये पैसे जमींदार हमेशा लेते रहेंगे। आखिर नये नये अबवाब इसी तरह तो बने हैं अबवाबों का इतिहास हमें यही सिखाता है। मगर इससे क्या ? इसकी पर्वा है किसे ? सुरसंड (मुजफ्फरपुर) के एक जमींदार यों ही अन्नी के नाम पर न जानें कितने दिनों से गैर कानूनी वसूली किसानों से करते आ रहे हैं। हालाँकि उनके भाई कांग्रेसी हैं और अब तो जेल भी हो आये हैं। यह अन्नी भी इसी तरह बनी होगी।

हाँ, तो हम स्टेशन पर उतरे और सीधे सभा-स्थान की ओर चल पड़े। हमें ठीक याद नहीं कि बैलगाड़ी पर गये या हाथी पर। शायद बैलगाड़ी ही थी। हाथी पर चलना हमें कई कारणों से पसन्द नहीं। वह एक तो धनियों के ही यहाँ होता है। दूसरे वह रोबदाब और शानबान की चीज और सवारी है और किसानों की सभा में यह चीज मुझे बुरी तरह खटकती है। इसीलिये बिना किसी मजबूरी के मैं उसे कभी पसन्द नहीं करता। किसानों की अपनी चीज होने के कारण मुझे बैलगाड़ी दिल से पसंन्द है। कभी कभी पालकी में भी, आदमियों के कन्धों पर, चलना ही पड़ता है। मगर जब कोई चारा नहीं होता और कहारों के खाने-पीने तथा उनकी पूरी मजदूरी का पक्का इन्तजाम हो लेता है तभी मैं उस पर चढ़ता हूँ। मैं कहारों से खामखाह पूछ लेता हूँ कि उन्हें जो कुछ मिला उससे वे पूरे सन्तुष्ट हैं या नहीं। यदि जरा भी कसर मालूम हुई तो उसे पूरा करवाता हूँ। सभी जगह मैंने देखा है कि कहारों के साथ बड़ी ही लापरवाही और बेमुरव्वती

से व्यवहार किया जाता है। इसीलिये मैं उनसे खुद पूछता हूँ। कई जगह तो मारे प्रेम के उनने मुझे अपने कन्धों पर खामखाह चढ़ा लिया है।

इस प्रकार जोश-खरोश और उछलते उत्साह के साथ हम लोग सभा-स्थान में पहुँचे। बरसात की कड़ी धूप ने हमें रास्ते में काफी तपाया था और दुपहरी का समय भी था। मेघ न होने के कारण सूर्य अपना तेज वैसे ही दिखा रहा था और लोगों को झुलसा रहा जैसे जमींदार किसानों के सम्बन्ध में करता है। पेड़ों की छाया में हमें शान्ति मिली। ठंडे होके और पानी-वानी पी-पा के हम लोग मीटिंग में पहुँचे। जहाँ मीटिंग थी उसे धर्मपुर का परगना कहते हैं। इसमें पूर्णियाँ जिले का बहुत बड़ा हिस्सा आ जाता है। यहाँ के जमींदार महाराज दरभंगा हैं। कुरसैला के जमींदार और त्रिशुनपुर के जमींदर वगैरह दो एक ही और हैं। मगर महाराजा के सामने इनकी हस्ती नहीं के बराबर है। ये लोग महाराजा की हजारों बीघा रैयती जमीनें रखते हैं। खासकर त्रिशुनपुर वाले तो बीसियों हजार बीघे रैयती जमीनें रखते हैं, जो दर रैयतों (undertenants) या शिकमी किसानों को बँटाई पर जोतने को देते हैं। कहीं कहीं नगद लगान भी लेते हैं। मगर जब चाहें जमीन छीन लें इसकी पूरी बन्दिश कर रखते हैं। इस-लिये इस मामले में जमींदारों से भी ये मालदार लोग जो अपने को मौका पड़ने पर किसान भी कह डालते हैं, ज्यादा जालिम और खतरनाक हैं।

महाराजा की जमींदारी के और जुल्म तो हई, जो आमतौर से सभी जमींदारियों में पाये जाते हैं। उनके सिवाय एक खास जुल्म चरसा महाल वाला पहले ही बताया जा चुका है। लेकिन धर्मपुर में ही पता चला कि सर्वे खतियान में जमीन तो किसान की कायमी रैयती लिखी है। फिर भी उस पर जो पेड़ हैं वह सोलहों आने जमींदार के लिखे हैं। असल में पूर्णियाँ जिले में ज्यों ज्यों उत्तर जाइये नैपाल की तराई की ओर त्यों त्यों मधुमक्खियाँ पेड़ों पर शहद के बड़े बड़े छत्ते लगाती दिखेंगी। वहाँ शहद का खासा व्यापार होता है। इसीलिये जमींदार ने चालाकी से पेड़ों पर अपना अधिकार सर्वे के समय लिखवा लिया। किसानों को तो उस

समय इसका ज्ञान था ही नहीं। वे सर्वे का महत्व भी ठीक समझ न सके थे, और वही लिखा-पढ़ा आज उनका गला कतर रहा है। वहाँ अक्ल और दलील की गुंजाइश हई नहीं कि किसान की जमीन पर जमींदार के पेड़ कैसे हो गये? और अगर आज भी शहद उतारने वालों को किसान कह दे कि खबरदार, मेरी जमीन पर पाँव न देना, नहीं तो हड्डियाँ टूटेंगी। हवाई जहाज से जैसे हो ऊपर ही ऊपर उड़के पेड़ पर चढ़ जाओ और शहद ले जाओ, तो क्या हो? आखिर कुछ तो करना ही होगा। नहीं तो काम कैसे चलेगा? जब वे लोग बातें नहीं सुनते तो जैसे को तैसा जवाब देना ही होगा।

दूसरा जुल्म यह मालूम हुआ कि वहाँ घाट के नाम से एक टैक्स लगता है। यह टैक्स दूसरी जमींदारियों में भी पाया जाता है। एक बार तो ऐसा मौका लगा कि हम अपने साथियों के साथ फारबिसगंज के इलाके में बैलगाड़ी से देहात में जा रहे थे। रास्ते में एकाएक कोई आया और गाड़ी रोक के घाट माँगने लगा। पीछे जब उसे पता चला कि गाड़ी में कौन बैठा है तब सरक गया और हम आगे बढ़े। बात यह है कि कुछ दिन पहले जहाँ-तहाँ पानी की धारायें उस जिले में बहुत थीं। नतीजा यह यह होता था कि लोगों को हाट-बाजार जाने या दूसरे मौकों पर बड़ी दिक्कतें होती थीं। पार करना मुश्किल था। जान पर खतरा था। इसलिये जमींदार लोग अपनी अपनी जमींदारियों में ऐसी धाराओं के घाटों पर नावों का इन्तजाम करते थे, ताकि लोगों को आराम मिले। शुरू शुरू में यह काम मुफ्त ही होता था। फिर उनने धीरे धीरे नाव वगैरह का खर्च पार होने वालों से वसूलना शुरू किया। उसके बाद ठीकेदार मुकर्रर कर दिये गये जो अपनी नावें रखते और आर-पार जाने वालों से पैसा ले लेते थे। अन्ततोगत्वा जमींदारों ने घाटों को नीलाम करना शुरू किया और जोई ज्यादा पैसे देता वही पटवार या घाट के ठेकेदार बनता था। वह अपना खर्च मुनाफे के साथ सेवा के रूप में लोगों से वसूलता था। यही तरीका बराबर चलता रहा। धीरे धीरे पटवार मौरूसी बन गये। उसके बाद वे धारायें सूख गईं और नाव की जरूरत ही न रही। मगर पटवार

तो रही गयें। वे जमींदारों को पैसे देते और लोगों से वसूल लेते। भला यह लूट और अन्धेरखाता नहीं है तो और हुई क्या? हमें इसके खिलाफ भी तूफान खड़ा करना पड़ा।

दरभंगा महाराज को जमींदारी में ही हमें सबसे पहले वहीं पर पता चला कि 'टरेस' के नाम पर गरीबों पर एक बला आई है और जमींदार सबों को परीशान कर रहा है। पहले तो हम समझी न सके कि यह 'टरेस' कौन सी बला है। मगर बातचीत से पता लगा कि असल में "ट्रेस पास" या दूसरे की जमीन पर जबर्दस्ती कब्जा से ही मतलब है। 'पास' शब्द को तो हटा दिया और 'ट्रेस' का 'टरेस' कर दिया है। आखिर अनाड़ी देहाती क्या जानें कि असल शब्द क्या है। बात यों होती है कि इधर कुछ दिनों से, खासकर किसान-सभा के आन्दोलन के शुरू होने पर, जमींदार के आदमियों ने किसानों को तंग करने के नये नये तरीके सोचने शुरू कर दिये हैं। इस प्रकार एक तो महाराजा की आमदनी बढ़ रही है। दूसरे किसान लोग पस्त हो जाते हैं और सिर उठा नहीं सकते। इसी सिलसिले में यह ट्रेस पास वाला हथियार भी ढूँढ़ निकाला गया है।

असल में सर्वे के समय किसानों के मकानों की जमीन खतियान में लिखी गई है। मगर मकान या झोपड़े दूर दूर रहने से बीच बीच में खाली जमीनें भी रह गई हैं जिन्हें कहीं कहीं गैर मजरुआ आम और कहीं कहीं खास लिखा गया है। मुमकिन है कि समय पा के कुछ ज्यादा जमीन पर किसानों के पशु वगैरह बाँधे जाते हों। यह बात तो सर्वे के समय भी होती होगी। आखिर कलकत्ता जैसे शहर में तो किसान बसते ही नहीं कि इंच इंच जमीन की खोज हो। मगर सर्वे में इसका जिक्र नहीं हुआ। चौबीसों घंटे पशु घर में ही तो रहते नहीं। बाहर भी बँधते ही हैं। यह भी हो सकता है कि खामखाह कहीं किसान ने कुछ जमीन हथिया ली हो। आखिर इफरात जो ठहरी। मगर जमींदार को तो मौका चाहिये तंग करने का। उसके अमले तो घूस और सिफारिश चाहते हैं जो अब किसानों से आमतौर से होना असंभव है। इसलिये रंज होके खतियान के मुताबिक जमीन नापी

जाती है। नापने वाला वही अमला होता है। कोई सरकारी ओवेरसियर या अमीन नहीं आता। और अगर नाप में ज्यादा जमीन कुछ भी निकली तो किसान पर आफत आई। अमले नाप-जोख में गड़बड़ी करके भी ज्यादा जमीन साबित कर देते हैं। इस प्रकार किसान पर ट्रेस पास का केस चलाया जाता है। यदि उसने डर से अमलों की पूजा-प्रतिष्ठा पहले ही कर ली और जमींदार को भी कुछ नजर या सलामी दे दी तब तो खैरियत। नहीं तो लड़ते लड़ते तबाही की नौबत आती है। इस "टरेस" के करते मैंने किसानों में एक प्रकार का आतंक वहाँ देखा। पीछे तो भागलपुर, दरभंगा आदि में भी यही बात मिली।

यों तो सैकड़ों प्रकार की गैर कानूनी वसूलियाँ समय समय पर चलती ही रहती हैं। मगर दो एक तो वहाँ की खास हैं। मवेशियों की खरीद-बिक्री पर खुद किसानों से एक प्रकार का टैक्स लिया जाता था और शायद अब भी हो। और गल्ले की बिक्री पर भी और इस प्रकार उनके नाकों दम थी। मगर पुनाही खर्च के नाम से जो वसूली होती है वह बड़ी ही बुरी है इसी प्रकार कोसी नदी के जंगलों में सूअर या हिरन का शिकार खेलने के लिये जब कभी महाराजा का, उनके दोस्तों का या उनके मैनेजर का कैम्प देहातों में जाता है तो किसानों से बकरी, बकरे, दूध, घी, मुर्गी, मुर्गे वगैरह की शकल में सैकड़ों चीजें वसूल की जाती हैं। यों कहने के लिये शायद उन चीजों की कीमत हिसाब में लिखी जाती है। मगर गरीब किसानों को मिलती तो है नहीं। और अगर कहीं कभी एकाध को मिली भी, तो नाम-मात्र को ही। बाकी तो अमलों के ही पेट में चली जाती है। यह भी होता है कि दो की जगह चार बकरे मँगाये जाते हैं और उनमें कुछ कैम्प खर्च में लिखे जाते ही नहीं। उन्हें तो ऊपर ही ऊपर वे अमले उड़ा ही लेते हैं। फिर उनका खर्च मिले तो कैसे? कुम्हारों से मुफ्त बर्तन और कहारों से बेगार में काम करवाना तो आम बात है। दूसरे गरीब भी इसी प्रकार लुटते रहते हैं।

पुनाही की बात यों है कि साल में एक बार महाराजा के हर सर्किल ऑफिस में बहुत बड़ा उत्सव मनाया जाता है और हवन-पूजा होती है।

खूब खान-पान भी चलता है। बहुत लोग जमा होते हैं। यह उत्सव प्रायः दशहरा (दुर्गापूजा) के समय ही या उसीके आस-पास होता है। बिहार के अन्यान्य जिलों में जो तौजी की प्रथा है वह तो ठीक दशहरे के दिन ही होती है। यह पुनाही उसी तौजी का कुछ विस्तृत रूप है। असल में संस्कृत के पुण्याह शब्द का अर्थ है पवित्र दिन। इसी का अपभ्रंश पुनाह हो गया। पुनाही उसी पुनाह या पुण्याह का सूचक है। इसके मानी हैं पुण्याह वाला। जमींदार अगले साल के लगान की वसूली उसी दिन से शुरू करता है जैसा कि और जगह तौजी के दिन शुरू करता है। हिन्दी साल भी तो दशहरे के वाद ही शुरू कार्तिक से ही आरंभ होता है। इसीलिये अगले साल के लगान की वसूली का श्रीगणेश उस दिन ठीक ही है। और जमींदार के लिये इससे पवित्र दिन और क्या होगा कि उसने लगान की वसूली साल शुरू होने के पहले ही जारी कर दी। किसानों के लिये यह दिन भले ही बुरा हो। मगर जमींदार के लिये तो सोना है। इसीसे वह उत्सव पुनाही का उत्सव कहा जाता है।

उसके खर्च का एक इस्टिमेट या अन्दाज (Budget) तैयार होता है। वह हर साल की ही तरह होता है। हाँ, कुछ घट-बढ़ तो होती ही है। इसके बाद वह हर तहसीलदार के हिस्से में बाँट दिया जाता है कि कौन कितना वसूल करेगा किसानों से। अब तहसीलदार लोगों को मौका मिलता है कि इसी बहाने कुछ अपने लिये भी वसूल कर लें। इसलिये सर्किल से उनके जिम्मे जितना रुपया या घी वग़ैरह वसूलने को दिया गया था उसका ड्योढ़ा-दूना करके उसे अपने पटवारी आदि मातहतों के जिम्में बाँट देते हैं कि कौन कितना वसूल करेगा। फिर वे पटवारी वग़ैरह भी अपना हिस्सा उसी तरह ड्योढ़ा-दूना करके अपने अधीनस्थ नौकरों के हिस्से लगाते हैं जो कुछ बढ़ा-चढ़ा के हर किसान से वसूल करते हैं। इस तरह वसूली के समय असल खर्च कई गुना बन के वसूल होता है और गरीब किसान मारे जाते हैं। जो कुछ उन्हें घी-दूध आदि के रूप में या नगद देना पड़ता है वह ऐसा टैक्स है कि कुछ कहिये मत। उसके बदले

में उन्हें मिलता कुछ भी नहीं। वह तो लुट जाते हैं। शायद एकाध मिठाई मिलती हो !

इस प्रकार के जुल्मों और धींगामुश्तियों को कहाँ तक गिनाया जाय ? सिर्फ नमूने के तौर पर कुछेक को दिखला दिया है। असल में जब जमींदार लोग किसानों को आदमी समझते ही नहीं, इन्सान मानते ही नहीं, तो मुसीबतों की गिनती क्या ? वे तो जितनी हैं सब मिलके थोड़ी ही हैं ! उनके भार से दबे किसानों का गिरोह उस सभा में हाजिर था। हमने जमींदार और उसके नौकरों की खिदमत सभा में की तो काफी। जले तो पहले से ही थे। किसानों के करुण क्रन्दन, उनकी चीख-पुकार ने उस पर नमक का काम कर दिया। फिर तो उबल पड़ना स्वाभाविक था। हमने जालिमों को ऐसा ललकारा और उनकी धज्जियाँ इस तरह उड़ाईं कि एक बार मुर्दे किसानों में भी जान आ गई। उनने समझ लिया कि उनकी तकलीफों का खात्मा हो सकता है। पहले तो समझते थे कि "कोउ नृप होइ हमें का हानी। चेरि छाँड़ि न होउब रानी !" पर एक बार उनकी रगों में गर्मी आ गई।

सभा के बाद टीकापट्टी आश्रम में गये जो कुछ दूर है। रात को वहीं ठहरे। सुबह घूम-घाम के आश्रम देखा। वह तो गान्धीवाद का अखाड़ा है। चर्खे, करघे का कार-बार खूब फैला नजर आया। वहाँ के रहने वाले कभी कभी जमींदारों के अत्याचारों के खिलाफ पहले आवाज उठाते थे। देहातों में घूम के मीटिंगें भी करते थे। मगर धीरे धीरे यह बात कम होती गई। अब तो यह बात शायद ही होती है। शायद प्रारम्भिक दशा में वहाँ जमना था। इसीलिये किसान जनता की सहायता जरूरी थी। अब तो काफी जम गये ! सम्भवतः अब वह प्रश्न छेड़ने की जरूरत इसीलिये नहीं पड़ती ! किसान-सभा का वह जमाना था भी शुरू का ही। लोग समझ न सके थे कि वह किधर जायगी। वर्ग चेतना किसानों में पैदा करेगी और वर्ग संघर्ष को काफी प्रोत्साहन देगी यह बात तब तक लोगों के दिमाग में आई न थी। इसीलिये मुझे भी उस आश्रम में निमंत्रित किया

गया। स्टेशन के पास की सभा का प्रबन्ध भी उन लोगों ने ही किया था। मगर अब तो किसान-सभा से लोग भय खाते हैं। वर्ग विद्वेष की बात बहुत फैली है। ऐसी हालत में वैसे आश्रम यदि सतर्क हो जाँय तो कोई ताज्जुब नहीं। असल में ज्यों ज्यों किसानहित और जमींदारहित के बीच वाली चौड़ी एवं गहरी खाई साफ साफ दीखने लगी है त्यों त्यों दुभाषिये लोगों—दोनों तरफ की बातें मौके मौके से करने वाले लोगों के लिये इन बातों की गुंजाइश कम होती जाती है। अब तो गांधीवादी हमारे साथ बैठने से भी डरते हैं कि कहीं लीडर लोग जवाब न तलब करें। ऐसा हुआ भी है। चलो अच्छा ही हुआ। किसानों को सबसे ज्यादा धोखा उन्हीं लोगों से है जो ऊपर से उनके हितू होते हुए भी भीतर से वर्ग सामञ्जस्य के हामी हैं और चाहते हैं कि किसानों और जमींदारों में कोई समझौता हो जाय। नहीं तो अन्ततोगत्वा वे कहीं के न रह जाँयगे। क्योंकि आखिर अब तो किसानों के ही हाथों में अन्न देने के सिवाय वोट देने की भी शक्ति है।

टीकापट्टी से हमें बनमनखी जाना था। यह रेलवे जंक्शन मुरलीगंज और बिहारीगंज स्टेशनों से, जो पूर्णियाँ और भागलपुर जिलों की सीमा पर पड़ते हैं, आने वाली लाइनों का है। वहीं से पूर्णियाँ होती कटिहार को लाइन जाती है। हमें बड़हरा स्टेशन पर ट्रेन सवेरे ही पकड़नी थी। अगले दिन रवाना होने की बात तय पाई थी। बड़हरा वहाँ से दूर है। सड़क-वड़क तो कोई है नहीं। सवारी भी सिवाय बैलगाड़ी के दूसरी संभव न थी। अगर दोपहर के बाद रवाना हुआ जाय और रातोंरात चलते जाँय तो ठीक समय पर शायद पहुँच जाँय। किसनगंज से जहानपुर वाली यात्रा से यह कठिन थी। वहाँ केवल दिन में ही चलना पड़ा। मगर यहाँ तो रात में बराबर चलना था! मगर करना भी क्या था ? कोई उपाय न था आखिर किसान-आन्दोलन की बात जो ठहरी!

यही हुआ भी। हमारी बैलगाड़ी रवाना हो गई। बदकिस्मती से जो बैलगाड़ी मिली वह छोटी सी थी। उस पर पर्दा भी न था कि धूप या

पानी से बच सकें। अकसर उस ओर ऊपर से छाई हुई गाड़ियाँ मिलती हैं। मगर वह तो थी निरी सामान ढोने वाली। उसमें एक और भी कमी थी। गाड़ियों के दोनों तरफ बाँस की बल्लियाँ लगी रहती हैं जिनमें मज़बूत रस्सी लगा के गाड़ी के साथ बाँधते हैं। किनारों पर लगे खूँटों पर वह बल्लियाँ लगाई जाती हैं। इस प्रकार गाड़ी में बैठने पर भूल-चूक से नीचे गिरने का खतरा नहीं रहता। सामान भी हिफाजत से रहता है। मगर हमारी गाड़ी में यह एक भी न था। इससे खुद भी गिर पड़ने का डर था और सामान के भी लुढ़क जाने का अन्देशा था। गाड़ीवान के अलावे हम तीन आदमी उस पर बैठे थे। सामान भी था।

हालत यह हुई कि हम सभी दिन में तो पलथी मारे बैठे ही रहे। रात में भी वही करना पड़ा। सोने की बात तो छोड़िये। ज़रा सा लेटना या झुकना भी गैर मुमकिन था। यह तकलीफ बर्दाश्त के बाहर थी। ज़िन्दगी में मेरे लिये यह पहला ही मौका था जब सोलह घंटे से ज़्यादा बैलगाड़ी पर बैठे बैठे सारी रात गँवाई। बैलगाड़ी की सवारी तो यों भी बहुत बुरी होती है। उसमें उठाव-पटक तो कदम कदम पर होता ही रहता है। धक्के ऐसे लगते हैं कि कलेजा दहल जाता है। यदि उस पर पुआल वग़ैरह कोई नर्म चीज न हो तो काफी चोट लगती है। चूतड़ जख्मी हो जाते हैं। इतने पर भी यदि लेटने या सोने का ज़रा भी मौका न मिले तो मौत ही समझिये। मगर वहाँ ये सारे सामान मौजूद थे! मैं मन ही मन हँसता था कि लोग समझते होंगे कि किसान-सभा का काम बहुत ही आराम वाला है। मैं यदि एक दिन भी सारी रात जग जाऊँ तो अगले दिन जरूर ही बीमार पड़ जाऊँ, यह बात जान लेने पर उस रात की तकलीफ का अन्दाज लगाया जा सकता है। तिस पर भी डर था कि कहीं ट्रेन न छूट जाय। इसलिये गाड़ीवान को सारी रात ताकीद करते रहे। इस प्रकार गाड़ी आने के पहले ही जैसे तैसे मढ़ौरा स्टेशन पहुँची तो गये।

पूर्णियाँ जिले की ही घटना है। सो भी उसी सन् १९३५ ई० की। यह सन् १९३५ किसान-सभा के इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसी साल पहले पहल बिहार प्रान्तीय किसान-सभा ने जमींदारी-प्रथा के मिटाने का निश्चय नवम्बर महीने के अन्त में हाजीपुर में किया था। प्रान्तीय किसान कान्फ्रेंस का चौथा अधिवेशन वहीं हुआ था। मैं ही उसका सभापति था। उसी साल उसी नवम्बर महीने में ही हाजीपुर के अधिवेशन के पहले ही, जहाँ तक याद है, ११,१२ नवम्बर को धर्मपुर परगने के राजनीतिक-सम्मेलन और किसान-सम्मेलन बनमनखी में ही हुए थे। पहले सम्मेलन के अध्यक्ष बाबू अनुग्रह नारायण सिंह और दूसरे के बाबू श्रीकृष्ण सिंह थे। यही दोनों सज्जन पीछे कांग्रेसी-मंत्रिमंडल के जमाने में अर्थ-मंत्री और प्रधानमंत्री बिहार प्रान्त में बने थे। इसी भविष्य की तैयारी में जो अनेक बातें होती रहीं उन्हीं में वे दोनों सम्मेलन भी थे। हमें भी वहाँ से निमंत्रण मिला था। यह भी आग्रह किया गया था कि यदि किसी अनिवार्य कारण से कदाचित् हम न आ सकें तो किसान-सभा के किसी नामी-गरामी लीडर को ही भेज दें।

मगर हमने जान-बूझ के दो में एक भी न किया। न खुद गये और न किसी को भेजा ही। इसके लिये वहाँ के साथियों से क्षमा माँग ली अपनी मजबूरी दिखा के। बात दरअसल यह थी कि अब किसान-सभा ने जड़ पकड़ ली थी। उसकी आवाज अब कुछ निडर सी होने लगी थी। वह अब किसानों की स्वतंत्र आवाज उठाने का न सिर्फ दावा रखती थी, बल्कि हिम्मत भी। इसलिये कांग्रेसी लीडरों में उसके खिलाफ कानाफूँसी होने लगी थी। भीतर भीतर से विरोध भी हो रहा था। लोग समझते थे कि हमारे जैसे कुछ इने-गिने लोग ही यह तूफान खड़ा कर रहे हैं। नहीं

तो कांग्रेस के अलावे और किसी संस्था को किसान खुद पसन्द नहीं करते। जन-आन्दोलन के बारे में ऐसा खयाल कोई नई बात न थी। यह सनातनधर्म है। आखिर कांग्रेस को भी तो सरकारी अधिकारी और दकियानूस दल के लोग पहले ऐसा ही कहते थे।

इसलिये हमने और हमारे साथियों ने सोचा कि यदि बनमनखी जायँगे तो कांग्रेस के प्रमुख लीडरों से प्रत्यक्ष संघर्ष हो सकता है। हम जानते थे कि स्वतंत्र किसान-सभा बनाने और जमींदारी मिटाने का सवाल वहीं उठेगा। खासकर हमारे रहने पर। ऐसी हालत में संघर्ष अनिवार्य है। हमारी मौजूदगी में भी यदि ये प्रश्न न उठे तो राजनीतिक-सम्मेलन से अलग किसान-सम्मेलन करने के कुछ मानी नहीं। और आखिरत में वहाँ के मजलूम किसान समझेंगे क्या? यही न कि हम भी जमींदारों से डरते हैं, उनके दलाल हैं और सिर्फ इसीलिये किसान-सभा बना रखी है? यह तो हमारे लिये डूब मरने की बात होगी। इसलिये हर पहलू से सोचने पर यही तय पाया कि वहाँ न जाना ही अच्छा। हमने यह भी सोच लिया कि यदि इतने पर भी वहाँ जमींदारी मिटाने और बिहार प्रान्तीय किसान-सभा की छत्र-छाया में उस जिले में किसान संगठन करने के सवाल उठे तो वह हमारी सबसे बड़ी जीत होगी। तब तो हमारे विरोधियों को यह कहने का मौका ही न मिलेगा कि किसान-सभा के नाम पर हमीं लोग ख्वामख्वाह ढोंग रचाते फिरते हैं—किसान यह सब नहीं चाहते। तब तो दुनिया की आँखें खुलने का मौका मिलेगा कि किसानों की जरूरत ने ही किसान-सभा को पैदा किया है। और अगर ये सवाल उठे और बहुमत ने इनके पक्ष में ही राय दी, जैसा कि हमारा दृढ़ विश्वास था, तब तो बेड़ा ही पार समझिये। तब तो हमारी दूनी जीत समझी जायगी। हम वहाँ रहने पर तो शायद लोगों को दबावें और मुरव्वत से काम लें। मगर न रहने पर तो लोग खुलके अपने विचारों से पूरा काम लेंगे। असल में कभी कभी नेताओं की मौजूदगी, उनका दबदबा जिसे वे लोग [illegible] करते हैं, उनकी [illegible]—ये चीजें जनता का बहुत नुकसान करती हैं। इनके नाते उनके दिल, दिमाग

वाहियात लगाम सी लग जाती है और जनता के विचार का निराबाध प्रवाह रुक जाता है। हमने सोचा कि यह महा पाप हमें न करना चाहिये।

जहाँ तक स्मरण है, हम पटने में बिहार प्रान्तीय किसान कौंसिल (कार्य-कारिणी) की मीटिंग कर रहे थे। क्योंकि हाजीपुर के सम्बन्ध में सारी तैयारी करनी थी, सब बातें सोचनी थीं। बनमनखी के सम्मेलनों के फौरन ही बाद यह मीटिंग थी। वहीं पर जब हमने बनमनखी से लौटे किसी व्यक्ति के मुख से यह सुना कि वहाँ किसान-सम्मेलन में न सिर्फ बिहार प्रान्तीय किसान-सभा की मातहती में स्वतंत्र किसान-सभा बनाने का प्रस्ताव पास हुआ, बल्कि जमींदारी-प्रथा मिटाने का भी निश्चय हो गया, तो हम उछल पड़े। हमने यह भी सुना कि प्रायः पन्द्रह हजार किसान उपस्थित होंगे। क्योंकि बन-मनखी तो घोर देहात है। और लीडरों के हजार कुड़बुड़ाने, सरतोड़ परिश्रम करके विरोध करने पर भी केवल तीन चार सौ लोगों ने विरोध में राय दी। बाकियों ने 'इन्किलाब जिन्दाबाद', 'जमींदारी-प्रथा नाश हो', 'किसान-राज्य कायम हो', 'किसान-सभा जिन्दाबाद' आदि नारों के बीच इन प्रस्तावों के पक्ष में राय दी। विरोध करने वाले न सिर्फ पूर्णियाँ जिले के कांग्रेसी लीडर थे, प्रत्युत बाहर वाले भी। किसीने खुल के विरोध किया और सारी ताकत लगा दी, तो किसी ने भीतर ही भीतर यही काम किया। मगर विरोध में चूके एक भी नहीं। किसान-सभा-वादियों पर करारी डाँट भी पड़ी। मगर नतीजा कुछ न हुआ।

इस निराली घटना ने, जो अपने ढंग की पहली ही थी, हममें बहुतों की आँखें खोल दीं, चाहे इससे कांग्रेसी लीडरों की आँखें भले ही न खुली हों। मेरे सामने तो इसके बहुत पहले कुछ ऐसी बातें हो गई थीं जिनसे मेरा विश्वास किसानों में, किसान-सभा में और उसके लक्ष्य में पक्का हो गया था। मगर इस घटना ने हमारे दूसरे साथियों को भी ऐसा विश्वासी बनने का मौका दिया।

१३

ठीक याद नहीं, किस साल की बात है। शायद सन् १९३९ ई० की गर्मी के दिन थे। मगर कोसी नदी के इलाके में तो उस समय बरसात शुरू होई जाती है। भागलपुर के मधेपुरा शहर में, जिसे कोसी ने न सिर्फ चारों ओर से घेर रखा है, बल्कि ऊजड़ सा बना दिया है, हमारी एक मीटिंग का प्रबन्ध किया गया था। भागलपुर जिले के उत्तरी भाग में सुपौल और मधेपुरा ये दो सब-डिविजन पड़ते हैं। सुपौल से दक्षिण मधेपुरा है। मगर कोसी का कोपभाजन होने से वह शहर तबाह, बर्बाद है। अब तो कोसी ने उसका पिंड छोड़ा है। इसलिये शायद पहले जैसा फिर बन जाय।

हाँ, तो हमें उस दिन वहाँ किसानों की सभा करनी थी। उसके पहले दिन, जहाँ तक याद है, सुपौल से बैलगाड़ी में बैठ के रवाना हुए थे। क्योंकि रास्ते में एक और मीटिंग करनी थी। उस स्थान का नाम शायद गमहरिया है। एक बाजार है। जहाँ बनिये लोग भी काफी बसते हैं। वहाँ भी काफी उत्साह था। मीटिंग भी अच्छी हुई थी। वहीं से हम मधेपुरा के लिये सबेरे ही खा-पी के रवाना हुए थे, ताकि तीसरे पहर मीटिंग में पहुँच जाँय। मगर बैलगाड़ी की सवारी थी। मालूम पड़ता था, रास्ता खत्म ही न होगा। जब तीन चार बजे तो हमारी घबराहट का ठिकाना न रहा। गाड़ी छोड़ के दौड़ना चाहते थे। पर, आखिर दौड़ के जाते कहाँ? अकेले तो रास्ता भी मालूम न था। नदी-नालों का प्रदेश ठहरा। यह दूसरी दिक्कत थी। रास्ते में मकई, अरहर वगैरह की फसल खड़ी थी और रास्ता उन्हीं खेतों से रोके था। कहीं उसी जंगल में भटक जाँय तो और भी बुरा हो। हमारे साथ में वहाँ के प्रमुख कार्यकर्ता श्री महताबलाल यादव थे। वह हमारी दौड़ में साथ दे न सकते थे। ऐसे सारन जिले की अर्कपुर वाली सभा से लौटने पर हमारे साथी हिम्मत वाले मिले देख

वाली यहाँ न थी। इसीलिये सिवाय गाड़ीवान को बारबार ललकारने कि जरा तेज हाँको भई, और कोई चारा न था।

मगर देहात का बरसाती रास्ता घूम-घुमाव वाला था। वह गाड़ीवान वेचारा भी क्या करता? उसने काफी मुस्तैदी दिखाई। बैल भी काफी परीशान हुए। फिर भी मधेपुरा दूर ही रहा। बड़ी दिक्कत और परीशानी के बाद शाम होते होते हम कोसी के किनारे पहुँचे। अब हमारे बीच में यह नदी ही खड़ी थी। नहीं तो मीटिंग में दौड़ जाते। झटपट पार होने की कोशिश करने लगे। यह नदी भी बड़ी बुरी है। धारा चौड़ी और तेज है। हमने वहीं देखा कि किसान लोग निराश होके सभा-स्थान से लौट रहे हैं। कुछ तो नाव से इस पार आ गये हैं। कुछ उस पार किनारे नाव की आशा में खड़े हैं। दूर दूर से आये थे। अन्धेरा हो रहा था। घर न लौटें तो वहाँ पशु-मवेशियों की हिफाजत कौन करेगा, यह विकट प्रश्न था। खाना-वाना भी साथ न लाये थे। मगर जब उन्हें पता लगा कि हमीं स्वामी जी हैं तो बहुतेरे तो 'दर्शन' से ही संतुष्ट होके चलते बने। लेकिन कुछ साथ ही नाव पर फिर वापस लौटे। पार होते होते काफी अन्धेरा हो गया। फिर भी हिम्मत थी कि सभा होगी ही। उस पार वाले भी साथ हो लिये। मैं था आगे आगे। पीछे किसानों का झुंड था। हम लोग बेतहाशा दौड़ रहे थे। खेतों से ही होके जाना था। फसल खड़ी थी। सभा-स्थान काफी दूर था। हालाँकि हम मधेपुरा में ही दौड़ रहे थे। लोगों ने 'स्वामी जी की जय', 'लौट चलो' आदि की आवाजें लगानी शुरू कीं। ताकि जो लोग दूसरे रास्तों से लौटते हों घर की तरफ, वे भी सभा में वापस आयें। अजीब सभा थी। एक बार तो कुछ देर तक दिशायें पुकार से गूँज गईं। जब तक हमारी दौड़ जारी रही पुकार भी होती ही रही। जो जहाँ था वहीं से जय जय करता लौट पड़ा। सूखती फसल को गोया बारिश मिली। निराश लोगों में खुशी का ठिकाना न रहा। चाहे भूखे भले ही रहें, मगर स्वामी जी का व्याख्यान तो सुन लें, यही खयाल उनके दिलों में उछालें मार रहा था।

खैर, यह पहुँचे, वह पहुँचे, ऐसा करते-कराते हम लोग बेतहासा दौड़ रहे थे। लोग भी चारों ओर से आवाज सुनते ही दौड़ पड़े थे। जोई सुनता था वही आवाज लगाता था। उस दिन हमने दिखला दिया कि सभा करने और उसे चलाने में ही हम आगे आगे नहीं रहते, मौका पड़ने पर दौड़ने में भी आगे ही रहते हैं। उस दिन कहाँ से उतनी ताकत हममें आ गई, यह कौन बताये? मैं सब चीजें बर्दाश्त कर सकता हूँ। मगर एक भी मीटिंग से किसान निराश होके लौट जाँय और मैं ठीक समय पर मीटिंग में पहुँच न सकूँ, यह बात मेरे लिये बर्दाश्त के बाहर है, मौत से भी बुरी है। उस समय मेरी मनोवृत्ति कैसी होती है इसे दूसरा समझी नहीं सकता। यदि हमारे कार्यकर्त्ता भी मेरी उस वेदना को समझ पाते तो भविष्य में ऐसी गलतियाँ न करते। उस मनोवृत्ति के फलस्वरूप मुझमें निराशा के बदले काफी बल आता है ताकि किसी भी प्रकार मीटिंग में पहुँच तो जाऊँ। क्योंकि यदि कुछ भी किसान मुझे वहाँ देख लेंगे तो उनके द्वारा धीरे धीरे सबों में खबर फैल जायगी कि मैं मीटिंग में पहुँचा था जरूर। देरी का कारण सवारी ही थी।

सभा-स्थान राष्ट्रीय स्कूल और कांग्रेस ऑफिस के पास का मैदान था। मैं भी पहुँचा और लोग भी आये, गोकि बहुतेरे चले गये थे। मैंने उन्हें उपदेश दिया और देरी के लिये माफी माँगी। यह भी तय पाया कि अगले दिन फिर सभा होगी। रातों-रात खबर फिर दी गई। लोग अगले दिन भी काफी आये। आवें भी क्यों नहीं? कोसी ने तो उनकी कचूमर निकाल ही ली है। मगर बचे-बचाये रक्त को जमींदारों ने चूस लिया है। केवल कंकाल खड़ा है। यही हैं जमींदारी-प्रथा के मारे हमारे किसान!

१४

भागलपुर जिले के उत्तरी हिस्से में कोसी नदी और जमींदारों ने कुछ ऐसी गुटबन्दी की है कि किसान लोग पनाह माँगते हैं। दोनों ही निर्दय और किसानों की ओर से ऐसे लापर्वाह हैं कि कुछ कहिये मत। कोसी को तो खैर न समझ है और न चेतनता। इसलिये वह जो भी अनर्थ करे समझ में आ सकता है। वह तो अन्धी ठहरी। मगर इन्सान और सभ्य कहे जाने वाले ये जमींदार! इन्हें क्या कहा जाय? जब कोसी से भी बाजी मार ले जाते हुए ये भलेमानस देखे जाते हैं तो आश्चर्य होता है। मालूम होता है, ये लोग नादिरशाह हैं। इन्हें मनुष्यता से कोई नाता ही नहीं। इनके लिये कोई आईन कानून भी नहीं हैं! इन निराले जीवों को कुदरत ने क्यों पैदा किया यह पता ही नहीं चलता!

किसान-सभा के ही आन्दोलन के सिलसिले में मैं कई बार उस इलाके में गया जिसे कोसी ने उजाड़ दिया है। उसकी धारा का कोई ठिकाना नहीं है। रहती है रहती है, एकाएक पलट जाती है और आबाद भू-भाग को अपने पेट में बीसियों साल तक लगातार डाल लेती है। यह ठीक है कि जिस जमीन को छोड़ देती है वह पैदावार तो खूब ही हो जाती है। मगर झौआ, खरही, वग़ैरह का ऐसा घोर जंगल हो जाता है कि कुछ पूछिये मत। जंगली सूअर, हिरण और दूसरे जानवरों के अड्डे उस जंगल में बन जाते हैं। फिर तो वे लोग दूर तक धावा मारते हैं। किसानों की फसलें बचने पाती ही नहीं हैं। वे लोग पनाह माँगते फिरते हैं। यह भी नहीं कि वह जंगल कट जाय। किसानों की क्या ताकत कि उसे काट सकें! हजारों, लाखों बीघे में लगातार जंगल ही जङ्गल होता है। यदि काटिये भी

तो फिर खड़ा हो जाता है। जब तक उसकी जड़ें न खोद डाली जायँ तब तक कुछ होने जाने का नहीं। और यह काम मामूली नहीं है। इसीसे किसान तबाह रहते हैं।

कोसी की धारा जिधर जाती है उधर एक तो लख लख बीघा जमीन पानी के पेट में समा जाती है। दूसरे जङ्गल हो जाने से छिपात रहती है। तीसरे मलेरिया का प्रकोप ऐसा होता है कि सबों के चेहरे पीले पड़ जाते हैं। यह भी नहीं कि धारा सर्वत्र बनी रहे। लाखों करोड़ों बीघे में स्थिर पानी पड़ा रहता है। इसीसे जङ्गल तैयार होता है और मच्छरों की फौज पैदा होती है। उस पानी में एक प्रकार का धान बोया जा सकता है। मगर उस पर यह आफत होती है कि जब धान में बालें लगती और पकती हैं तो रात में जल वाले पक्षियों का गिरोह लाखों की तादाद में आके खा डालता है। यह यम-सेना कहाँ से आती है कौन बताये? मगर आती है जरूर। एक तो रात में रोज रोज इनसे फसल की रखवाली आसान नहीं है—गैर मुमकिन है। बिना नाव के काम चलता नहीं। सो भी बहुत ज्यादा नावें हों और सैकड़ों हजारों आदमी सारी रात जगते तथा हू हू करते रहें, तब कहीं जाके शायद पिंड छूटे। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि जमींदार उन्हें ऐसा करने भी नहीं देते। उस इलाके में नौगछिया के जमींदार हैं बा० भूपेन्द्र नारायण सिंह उर्फ लाल साहब। उन्हें चिड़ियों के शिकार का बड़ा शौक है। खुद तो खुद, दूर दूर से अपने दोस्तों को भी बुलाते हैं इसी काम के लिये। सरकारी अफसर भी अक्सर निमंत्रित किये जाते हैं। रात में पानी में चारा डाला जाता है ताकि पक्षियों के दल के दल उसी लोभ से आयें। अब यदि कहीं किसान ने उन्हें उड़ाना शुरू किया अपनी फसल बचाने के लिये, तो जमींदार साहब और उनके दोस्त शिकार कैसे खेलेंगे? तब तो उन का सारा मजा ही किरकिरा हो जायगा। इसीलिये तो खास तौर से चारा फेंका जाता है, ताकि यदि धान के लोभ से कहीं न भी आयें तो उस चारे के लोभ से तो आवेंगे ही। यही कारण है कि किसानों को सख्त मनाही है कि चिड़ियों को हर्गिज रात में या दिन में

उड़ायें न। कैसी नवाबी और तानाशाही है ! चाहे किसानों के प्राण-पंखेरू इसके चलते अन्न बिना भले ही उड़ जाँय। मगर चिड़ियाँ उड़ाई जा नहीं सकती हैं। उनका उड़ना जमींदार को बर्दाश्त नहीं है ! खूबी यह है कि यही जमींदार साहब लीडरों की कोशिश से गत असेम्बली चुनाव में कांग्रेस के उम्मीदवार क़रीब क़रीब बनाये जा चुके थे। बड़ी मुश्किल से रोके जा सके।

उसी इलाके में महाराजा दरभंगा की जमींदारी में दो बड़े गाँव हैं, जैसे शहर हों। उनका नाम है महिषी और बनगाँव। दोनों एक दूसरे से काफ़ी दूर हैं, जो बीच में तीसरा गाँव है नहीं। फिर भी प्रायः दोनों साथ ही बोले जाते हैं। वहाँ मैथिल ब्राह्मणों की—महाराजा दरभंगा के खास भाई-बन्धुओं की—बड़ी आबादी है। मधेपुरा के लिये जिस सहरसा स्टेशन से एक छोटी सी लाइन जाती है उसीके पास ही वे दोनों गाँव पड़ते हैं। वहीं उतर के वहाँ जाना पड़ता है। बनगाँव के मजलूम किसानों ने हमारी मीटिंग का प्रबन्ध कर रखा था। मगर हमें यह भी पता था कि महिषी में भी वैसी ही मीटिंग है। वहाँ भी जाना होगा। जाना तो जरूर था, पर रास्ते में कोसी की जलराशि जो बाधक थी। इसलिये बहुत दूर पैदल जाके नाव पर चलना था। दूसरा रास्ता था ही नहीं। आखिरकार बनगाँव की शानदार सभा को पूरा करके हम लोग महिषी के लिये चल पड़े। यों तो पानी सर्वत्र खेतों में फैला था और बनगाँव वाले भी काफी तबाह थे। फिर भी कम पानी होने से छोटी से भी छोटी डोंगी उन खेतों में चल न सकती थी। इसीलिये दूर तक कीचड़ और पानी पार करके हमने डोंगी पकड़ी और चल पड़े।

रास्ते में जो दृश्य देखा वह कभी भूलने का नहीं। जो कभी धान के हरे भरे खेत थे वही आज अपार जलराशि और जंगल देखा। जहाँ कभी धान लहराते और किसानों के कलेजों को बाँसों उछालते थे वहीं आज कोसी हिलोरें मारती थी—वहीं आज जगल लहराता था। नाव पर चलते चलते बहुत देर हुई। मगर फिर भी यात्रा का अन्त नहीं। उन खेतों

वाले किसान कैसे जीते होंगे यह सवाल स्वाभाविक है। हमें पता लगा—किसानों ने खून के आँसू रोके हमें अपनी दुःख-दर्द की गाथा सुनाई—कि गाँव की चौदह आना जमीन पानी के भीतर है। अच्छे से अच्छे विद्वान् और कुलीन ब्राह्मण गाँव से दौड़ के बाजे गाजे के साथ घुटने भर पानी में हमें लेने आये थे। उन्हें आज खुशी की घड़ी मालूम पड़ती थी। उन्हें किसान-सभा से आशा थी। इसीलिये चाहते थे कि मैं खुद अपनी आँखों उनकी दुर्दशा देख जाऊँ। उनने अपना किसान सुलभ निर्मल, एवं कोमल हृदय मेरे सामने बिछा दिया था। सच्ची बात तो यह है कि वह भयावनी हालत देख के मेरा खून खौलता था, मेरी आँखों से आग निकलती थी। जी चाहता था कि इस राक्षसी जमींदारी को कैसे रसातल भेज दूँ—मटियामेट कर दूँ। मैंने दिल भर के वहाँ की सभा में जमींदारी-प्रथा को कोसा! मीटिंग में वहाँ के ब्राह्मणों ने जो अभिनन्दन किया वह कभी भूलने वाला नहीं। उसने मेरा संकल्प और भी दृढ़ कर दिया कि जमींदारी को जहन्नुम में पहुँचा के ही दम लूँगा।

वहीं मुझे पता लगा कि बीसियों साल से जमीन में बारहों मास पानी रहता है। खेती हो पाती नहीं। फिर भी जमींदार का लगान वैसा ही पक्का है! वाह रे लगान और वाह रे कानून! न देने पर महाराजा नालिश करते हैं और माल मवेशी ले जाते हैं। उन्हें तो नालिश करने की भी जरूरत नहीं है। सर्टिफिकेट का अधिकार जो प्राप्त है। जैसे सरकारी पावना बिना नालिश के ही वसूल होता है। क्योंकि कोई चीज मिली जब्त, कुर्क कर ली जाती है। ठीक वैसे ही सर्टिफिकेट के बल पर महाराजाधिराज भी करते हैं। केवल सरकारी माल-मुहकमे के अफसर को बाकायदा सूचना देने से ही उनका काम बन जाता है और खर्च खर्च रुपये वसूल हो जाते हैं। नहीं तो एक रुपये में पचीस पचास की चीज नीलाम हो जाती है। इसीलिये किसान जेवर, जमीन बेच के, कर्ज लेके, यहाँ तक कि लड़कियाँ बेच के भी खामखाह रुपया अदा करी देते हैं।

सवाल हो सकता है कि जमीन ही क्यों नीलाम हो जाने नहीं देते जब

उसमें कुछ होता ही नहीं ? बात तो ठीक है। मगर सर्टिफिकेट में जमीन तो पीछे नीलाम होती है। पहले तो और ही चीजें लुटती हैं। एक बात और। किसान को आशा बनी रहती है कि शायद कोसी की धारा यहाँ से चली जाय तो फिर खेतों में खेती हो सकेगी। तब तो कुछ साल तक वे काफ़ी पैदावार भी रहेंगे। इसीलिये उन्हें नीलाम होने देना वह नहीं चाहता! आशा में ही साल पर साल गुजरता जाता है। वह निराश नहीं होता। असल में उसमें जितनी हिम्मत है उतनी शायद ही किसी ऋषि-मुनियों और पैग़म्बर औलियों में भी पाई गई हो! एक ही दो साल या एक दो बार ही घाटा होने पर व्यापारियों का दिवाला बोल जाता है। मगर लगातार पाँच, सात या दस साल तक फसल मारी जाती है, मजदूरी, बीज और दूसरे खर्च भी ज़ाया होते हैं। फिर भी मौसिम आने पर वह खेती किये जाता है। खूबी तो यह कि इतने पर भी, इस कदर लुट जाने पर भी, न तो सरकार को और न दूसरों को ही अपराधी ठहराता है! केवल अपनी तकदीर और पूर्व जन्म की कमाई को ही कोस के सन्तोष कर लेता है।

यह भी बताया गया कि जिनकी जमीनें और जगह हैं वे उन जमीनों से अन्न पैदा करके इन पानी वाली जमीनों का लगान चुकता करते हैं। ऐसे कई किसानों के नाम भी मुझे बताये गये। यह भी मैंने वहीं जाना कि यदि किसान उन जमीनों में भरे पानी में मछली मार के अपनी जीविका किसी प्रकार चलाना चाहें तो जमींदार को उसके लिये जल-कर जुदा देना पड़ता है। क्या खूब! इसे जले पर नमक डालना कहें या क्या? पैदावार होती नहीं। फिर भी लगान होता जा रहा है। और अगर उसी जमीन वाले पानी में पैदा होने वाली मछली किसान मार लेता है या उसमें मखाना पैदा कर लेता है तो उसके लिये अलग जल-कर वसूल किया जाय! यह अन्धेरखाता कब तक चलता रहेगा? उन मजलूमों का कोई पुर्सां हाल आखिर कभी होगा या नहीं? जो लोग यह समझे बैठे हैं कि वे यों ही इन अन्नदाता किसानों का शिकार करते रहेंगे वे भूलते हैं। वह

दिन दूर नहीं जब उनके पाप का घड़ा फूटेगा—उनका पाप सर पर चढ़के नाचेगा।

ख़ैर, हमने किसानों को जहाँ तक हो सका आश्वासन दिया और वहाँ से फिर उसी डोंगी पर चढ़के रवाना हो गये। अगले दिन हमारा प्रोग्राम कहीं और जगह था। शायद चौधरी बख्तियारपुर की जमींदारी में मीटिंग करनी थी जहाँ हमारे ऊपर दफा १४४ की पाबन्दी लगी थी। पटने पहुँच के अखबारों में हमने वहाँ का सारा कच्चा चिट्ठा छपवा दिया।

१५

भागलपुर जिले की ही एक और दिलचस्प यात्रा है। वह भी उसी कोसी के इलाके में थी। कोसी की धारा के बराबर बदलते रहने के कारण बहुत सी जमीन भागलपुर और पूर्णियाँ जिलों के बीच में जंगल से घिरी है। मगर बीच बीच में खेती होती है। वही कोसी का दियारा कहा जाता है। राजपूताने के अपार रेगिस्तान की-सी उसकी हालत है। चलते जाइये, मगर खात्मा नहीं होता। उस दियारे में कदवा नाम का एक गाँव या गाँवों का समूह है। दस दस, बीस बीस या अधिक झोपड़ों के अनेक टोले बसते हैं। कोसों चले जाइये। पर, एक ही गाँव पाइयेगा। नदियों के हट जाने पर जो जमीनें नये सिरे से बनती हैं वही हैं दियारे की जमीनें। ऐसी जमीनों में आबादी की यही हालत सर्वत्र पाई जाती है। लगातार मीलों लम्बे गाँव तो कहीं शायद ही मिलेंगे। खेती करने की आसानी के खयाल से दो चार झोपड़े पड़ गये और काम चालू हो गया। फिर कुछ दूर हट के कुछ छप्पर डाल दिये गये और उन्हींके इर्द-गिर्द खेती होने लगी। इसी तरह गाँव बसते हैं। कदवा भी ऐसे ही गाँवों में एक है।

भागलपुर जिले के उत्तरी भाग में श्री नागेश्वर सेन जी एक गठीले युवक और लगन वाले किसान-सेवक हैं। कदवा उन्हीं का कार्यक्षेत्र उस समय था। उनने ही वहाँ मीटिंग का प्रबन्ध किया था। उन्हींके अनुरोध और आग्रह से हमने भी वहाँ जाना स्वीकार कर लिया था। लेकिन हमें इस बात का पता न था कि कदवा है किधर और वहाँ पहुँचेंगे किस तरह किस रास्ते से? कोसी दियारे में कहीं है, सिर्फ इतनी ही जानकारी थी। जब तक वहाँ के लिये हम रवाना न हो गये तब तक जानते थे कि कहीं बैलगाड़ी के रास्ते पर होगा। मगर जब मीटिंग के पहिले

दिन नौगछिया से रवाना होने की तैयारी हुई और कहा गया कि नाव से रातों-रात चलना है, तब कहीं जाकर हमें अन्दाज लगा कि यात्रा विकट जरूर होगी।

शाम का वक्त था। बादल घिरे थे। बूँदा-बाँदी भी हो रही थी। पर वही टिप् टिप् टिप्। नौगछिया स्टेशन के पास ही जो नदी की धारा है उसीमें एक नाव तैयार खड़ी थी। वह धारा चालू नहीं बताई जाती है। मगर बरसात में तो विकट रूप उसका होई गया था। नाव पर ऊपर से छावनी भी थी ताकि पानी पड़ने पर कपड़े-लत्ते बचाये जा सकें। छोटी-सी डोंगी थी जिस पर ज्यादे से ज्यादे दस-पाँच आदमी ही चल सकते थे। ज्यादा लोग हों तो शायद डूब ही जाय। उस धारा में घड़ियाल वगैरह खतरनाक जानवरों का बाहुल्य बताया जाता है। इसीलिये नाव पर भी लोग होशियार होके यात्रा करते हैं। कहीं वह फँस जाय तो खूँख्वार जलधर धावा ही बोल दें। तिस पर तुर्रा यह कि रात का समय था। बरसात अलग ही थी। बूँदें भी उसके खतरे को और बढ़ा रही थीं। सारांश यह कि सभी सामान इस बात के मौजूद थे कि चलने वाले हिम्मत ही हार जाँय।

हुआ भी ऐसा ही। नागेश्वर सेन तो साथ थे नहीं। वे तो कटिया में ही सभा की तैयारी में लगे थे। मगर और जितने साथी वहाँ चलने वाले थे एक के अलावे सबने पस्त-हिम्मती दिखाई। मौत के मुँह में जान-बूझ के कौन जाये? यदि रात में मूसलाधार वारिश हो गई और नाव के ही डूबने की नौबत आ गई तो? सचमुच ही ऐसा हुआ भी और रास्ते में हमें कई बार नाव किनारे लगा के रोकनी पड़ी। किन्तु साथी लोग तो हिसाब लगा रहे थे कि ठेठ घड़ियालों के मुँह में ही चला जाना होगा; हाँ, यह बात सीधे कहते न थे। किन्तु दूसरे दूसरे बहाने कर रहे थे। 'नावरा है, मौसिम बुरा है, न जानें रास्ते में क्या हो जाय, बरसात के करते मीटिंग भी शायद ही हो सके, यदि हो भी तो ज्यादा किसान शायद ही आ सकें' आदि दलीलें न चलने के सिलसिले में ज्यों ज्यों पेश की जाती थीं त्यों त्यों

मेरा खून खौलता था और डर भी लगता था कि अगर इनने अन्ततोगत्वा न जाने का ही फैसला कर लिया तो बात बुरी होगी। मेरा प्रोग्राम और पूरा न हो! मैं यह बात सोचने को भी तैयार न था इसीलिये साथियों की इस नामर्दी पर भीतर ही भीतर कुढ़ता था और तर्स भी खाता था। सब के सब किसान-सेवक ही थे। सो भी पुराने। मगर सेवा की ऐन परीक्षा में फेल हो रहे थे।

रेल, मोटर या दूसरी सवारियों से शान से पहुँच के फूल-मालायें पहनना, नेता बनना, पुजवाना और गर्मागर्म लेक्चर झाड़ना इसे किसान-सेवा नहीं कहते। यह तो दूकानदारी भी हो सकती है और सेवा भी। इससे तो किसानों को धोखा हो सकता है। दस-बीस मील पैदल चलके, कीचड़-पानी के साथ कुश्ती करके, जान की बाजी लगाके, दौड़-धूप के और भूखों रहके भी जब अपना प्रोग्राम पूरा किया जाय, किसानों का उत्साह बढ़ाया जाय, उनका संघर्ष चलाया जाय और उन्हें रास्ता दिखाया जाय तभी किसान-सेवा की बात उठ सकती है। यही है उस सेवा की अग्नि-परीक्षा। इसमें बार-बार उत्तीर्ण होने पर ही किसान-सेवक बनने का हक किसी को हो सकता है। दूर-दूर के गाँवों से अपना काम-धाम छोड़ के किसान लोग तो भीगते-भागते और धूप में जलते या जाड़े में काँपते हुए मीटिंग में इस आशा से आये कि अपने काम की बातें सुनेंगे, अन्धेरे में अपना रास्ता देखेंगे। मगर बातें सुनाने और रास्ता बताने वाले नेता ही गैरहाजिर! उनने अपने दिल में पक्की वजह बना ली कि सवारी न मिली, मौसिम ही बुरा था वग़ैरह वग़ैरह। मगर किसान को क्या मालूम? उसे किसने कहा था कि मौसिम खराब होने पर सभा न होगी, या उसे ही (हर किसान को ही) सवारी का प्रबन्ध करना होगा? ये बातें तो जान-बूझ के उनसे कही जाती हैं नहीं। सिर्फ अन्न-पानी या पैसे उनसे इस काम के लिये माँगे जाते हैं और ये गरीब खुशी खुशी देते भी हैं। चाहे खुद भूखे रह जाँय भले ही! ऐसी हालत में उन्हें निराश करने या ऐन मौके पर मीटिंग में न पहुँचने का हक किस किसान-नेता या किसान-सेवक

को रह जाता है? ऐसा करना न सिर्फ गैर जिम्मेदारी का काम है, बल्कि किसानों के हितों के साथ खिलवाड़ करना है। ऐसी दशा में तो किसान-आन्दोलन सिर्फ दूकानदारी हो जाती है।

मगर हमें इस दिक्कत का सामना करना न पड़ा और अन्त में तय पाया कि खामखाह चलना ही होगा। हमें इससे जितनी ही खुशी हुई वह कौन बतायेगा? नाव चल पड़ी। बातें करते-कराते और सोते-जागते हम लोग उस कोयले से भी काली रात में नदी की भयंकर धार में नाव लिये चले जा रहे थे। रास्ते में कई बार किनारे लगे यह तो कही चुके हैं। कोई बता नहीं सकता कि हमें कितने मील तय करने पड़े। मगर जब सुबह हुई तो पता चला कि अभी दूर चलना है। दिक्कत यह थी कि रास्ते में धारायें कई मिलीं और कौन कदवा जायगी यह तय करने में दिक्कतें पेश आईं। तो भी जैसे-तैसे हम ठीक रास्ते से चलते गये। जानवरों का सामना तो कभी हुआ नहीं। मगर रास्ते में कई बार ऐसा हुआ कि पानी बिल्कुल ही कम था और हमारी छोटी-सी नाव भी जमीन से टकरा जाती थी। फिर आगे बढ़े तो कैसे? तब हर बार हम लोग उससे उतर पड़ते जिससे हल्की होके ऊपर उठ आती। साथ ही आगे-पीछे लग के ठेलते जाते भी थे। इस तरह इस यात्रा का मजा हमें मिला। इसी ठेला-ठाली ने नाव को ठिकाने लगाया।

एक दिक्कत यह भी थी कि रास्ते में गाँव तो शायद ही कहीं मिले। सिर्फ मक्की आदि के खेत चारों ओर खड़े थे। हाँ, कहीं-कहीं उनकी रखवाली करने वाले किसान झोंपड़े डाले पड़े थे। उनसे ही रास्ते का पता हमें जरूरत के वक्त लग जाता था। हाँ, उन्हें भी यह देख के हैरत होती थी कि आखिर कैसे पागलों की हमारी टोली थी, जो मक्की में घूमने चली जाती थी। वे तो समझते थे कि उधर तो हम जैसे मक्की के व्योपार करने वाले लोग ही जा सकते हैं और हमें वे समझते थे कोरे साधु। और साधुओं की गुजर उधर थी कहाँ! इससे वे ताज्जुब में पड़ते थे। उन्हें क्या मालूम कि हम साधुओं को ठीक रास्ते पर लाने चले हैं। वे

क्या जानते गये कि हमसे बाबू भी खार खाते और डरते हैं ? वे जानते न थे कि हम जन-सेवा के नाम पर होने वाली दूकानदारी को मिटाने वाले हैं। यदि उन्हें मालूम होता कि हम जमींदारी-प्रथा को उसी धारे में डुबा के घड़ियालों के हवाले करने वाले हैं तो वे बिचारे कितने खुश होते! क्योंकि सभी के सभी जमींदारों के द्वारा बुरी तरह सताये गये थे।

इस प्रकार चक्कर काटते और घूमघुमाव करते-करते हम लोग वहाँ पहुँचे जहाँ नाव लगनी थी और पैदल चलना था। हमें खुशी हुई कि आ तो गये। मगर अभी कई मील पैदल खेतों से होके गुजरना था। उसी जगह नित्य कर्म, स्नानादि से फुर्सत पाके हम लोग 'क्विक् मार्च' चल पड़े। दौड़ते तो नहीं ही थे। हाँ, खूब तेज चलते थे। रात भर नाव में पड़े पड़े एक तरह की थकावट आ गई थी। उसे मिटाना और सवेरे टहलना ये दोनों ही काम हमें करने थे। इसीलिये कुछ तेज चलना जरूरी था। रास्ते में पता लगना मुश्किल था कि किधर जा रहे थे। चारों ओर मक्की ही मक्की खड़ी थी। उस इलाके में यह फसल खूब होती है और बरसात शुरू होते ही तैयार भी हो जाती है। जब और जगह देहातों में मक्की का भुट्टा देखने को भी नहीं मिलता तभी वहाँ उसकी फसल पक के तैयार हो जाती है।

इस तरह नौ-दस बजे उस आश्रम पर पहुँचे जहाँ श्री नागेश्वर सेन ने सभा की तैयारी कर रखी थी। वहाँ देखा कि दूध-दही का टाल लगा था। बहुत लोगों के खाने-पीने की तैयारी थी। दूर-दूर से आने वाले किसानों को भी खिलाने-पिलाने का इन्तजाम था। इसीलिये इतना सामान मौजूद था। किसान गाय-भैंसे पालते ही हैं। एक वक्त का दूध दे दिया और काफी हो गया। गरीब और पीड़ित होने पर भी किसान कितना उदार है इसका अनुभव मुझे बहुत ज्यादा है। मगर जो कोई अनजान आदमी भी वहाँ जाता वह यह देख के हैरत में पड़ जाता। या तो धनियों की ही सभा की तैयारी समझता, या किसानों की उदारता पर ही मुग्ध होता।

तीसरे पहर वहाँ बहुत बड़ी मीटिंग हुई। जमींदारों के हाथों किसान वहाँ किस प्रकार सताये जाते हैं और उनकी खास शिकायतें क्या हैं ये सब बातें मुझे मालूम हुईं। मैंने उनका उपाय सुझाया और किसान खुशी-खुशी सुनते रहे। इस प्रकार सभा का कार्य कर चुकने पर दूसरे दिन कहारों के कन्धे पर बैठ के मैं नारायणपुर स्टेशन तक गया। वहाँ गाड़ी पकड़ के बिहटा लौटा। साथ में आश्रम के लड़कों के लिये एक बोरा भुट्टा भी लेता गया।

१६

सन् १६३३ ई० वाला जुलाई का महीना था। जहाँ तक याद है, १५ वीं जूलाई की बात है। तारीख इसलिये याद है कि किसान-सभा की तरफ से गया के किसानों की जाँच का काम हमने पहले पहल शुरू किया था। सो भी ऐन बरसात में। उसकी लम्बी रिपोर्ट की दुहरी प्रति तैयार करने में हमें महीनों लग गये थे। असल में अमावाँ टेकारी के जमींदार राजा हरिहरप्रसाद, नारायण सिंह की ही जमींदारी गया जिले में चारों ओर फैली है। इसलिये उनके साठ गाँवों में जाके हमें कच्चे चिट्ठे का पता लगाना जरूरी था। जिले भर के साठ गाँवों से सारी जमींदारी की कलई पूरी तरह खुल जाती थी। इसलिये उतने गाँवो में जाना पड़ा। जब राजा साहब ने हमारी रिपोर्ट माँगी, ताकि हालत जान के कुछ कर सकें, तो हमें मजबूरन दो प्रतियाँ तैयार करनी पड़ीं। बेशक, इस परीशानी का और बाद में बात-चीत वग़ैरह में जो वक्त बीता उसका कुछ भी नतीजा नहीं हुआ। सबसे बड़ी बात यह हुई कि इस समूची घटना ने मेरे दिल पर यह अमिट छाप लगा दी कि जमींदारी मिटाने के सिवाय किसानों को अत्याचार और मुसीबतों से उबारने का और कोई रास्ता हई नहीं। मेरे दिल में जो यह खयाल कभी कभी हो आता था कि शायद गाँधी जी की बातें सही हों और जमींदार सुधर जायें, वह इस घटना के बाद सदा के लिये मिट गया और मैंने दिल से मान लिया कि जमींदारी ला-इलाज मर्ज़ है। "गया के किसानों की करुण कहानी" के नाम से उस रिपोर्ट की प्रधान बातें पुस्तक के रूप में पीछे छापी भी गईं। इन्हीं सब कारणों से और आगे लिखी वजहों से भी वह बरसात की १५वीं जुलाई अभी तक भूली नहीं।

उसी दिन मैं, पं० यमुना कार्यी, पं० यदुनन्दन शर्मा और डाक्टर युगलकिशोर सिंह किसानों की हालत जाँचने के लिये प्रान्तीय किसान-सभा की तरफ से जहानाबाद पहुँचे थे। पं० यदुनन्दन शर्मा ने गया जिले में हमारा रोज रोज का प्रोग्राम ठीक किया था। घोर देहातों में वर्षा के दिनों में जाँच का प्रोग्राम पूरा होना, जो अपने ढंग का पहला ही था, आसान न था। दस दस, पन्द्रह पन्द्रह मील और इससे भी ज्यादा दूरी पर हमें ठीक समय पर पहुँचना था। नहीं तो जाँच असंभव हो जाती। फिर किसानों को जमा करना गैर मुमकिन जो हो जाता अगर हम एक दिन भी चूक जाते। जाँच के काम के बाद हमें उनकी बड़ी बड़ी सभाओं में उपदेश देना भी जरूरी था। इसलिये शर्मा जी ने ऐसा सुन्दर प्रबन्ध किया था कि एक दिन भी हमारे काम में गड़बड़ी न हो सकी। देहाती रास्तों को तय करके हम बराबर ही ठीक समय पर सभी जगह पहुँचते गये। एक जगह हमारा काम पूरा भी नहीं हो पाता कि दूसरी जगह से सवारी आ जाती। यह भी था कि सवारी की जहाँ कोई भी आशा न होती वहाँ हम पैदल ही जा धमकते। आखिर मूसलाधार वृष्टि में सवारी कौन मिलती और कैसे? जो काम मामूली ढंग से कांग्रेस की जाँच कमेटी गर्मियों और जाड़ों में कर न सकी वही हमने मध्य बरसात में इस खूबी से पूरा किया कि हम खुद हैरत में थे कि यह कैसे हो सका। दूसरे लोग तो इसे असंभव ही समझे बैठे रहे। सबसे बड़ी बात यह हुई कि किसानों की मुस्तैदी और तैयारी का हमें विश्वास हो गया, क्योंकि पं० यदुनन्दन शर्मा जैसे कार्यकर्त्ता उन्हें मिल जाँय। हमने मान लिया कि क्षेत्र तैयार है। सिर्फ धुनी किसान-सेवकों और पथ-दर्शकों की जरूरत है। यह हमारा विश्वास, जो उस समय की किसानों की आकस्मिक मुस्तैदी से हुआ था, तबसे बराबर मजबूत होता ही गया है।

यह मानी हुई बात है कि किसान-सभा के पास कोई फंड न था। अभी अभी तो वह पुनर्जीवित हुई थी। और सच्ची बात तो यह है कि सभा में फंड कभी रहा ही नहीं है, हालाँकि मौके पर उसके नाम से हजारों रुपये खर्च होते रहे हैं। असल में जनता की संस्थाओं के पास रुपये

कोष होना भी नहीं चाहिये। यह तो मध्यम वर्ग की संस्थाओं की ही चीज है कि रुपये जमा हों। उनका काम रुपयों के बिना चली नहीं सकता। मगर विपरीत इसके जनता की संस्थाओं का असली कोष है उन पर जनता का पूरा पूरा विश्वास और प्रेम। फिर तो अन्न-धन की कमी हो सकती नहीं। हाँ, वह मिलता रहता है उतना ही जितने की समय समय पर जरूरत हो। न ज्यादा मिलता है और न कम। सिर्फ काम चलाऊ मिलता है। ईमानदार संस्थायें ज्यादा वसूली खुद ही नहीं करती हैं। अगर कहीं ज्यादा हो गई तो खामखाह उसका सदुपयोग होना असंभव हो जाता है। कुछ न कुछ ऐसा उपयोग होता ही है जिसकी कोई जरूरत न हो। नतीजा यह होता है कि यह पाप छिपता नहीं और संस्था में घुन लग जाता है। पैसा जमा हो जाने पर सेवा की जगह एक तरह की महन्थी ले लेती है और कोढ़ी लोगों का प्रवेश उन संस्थाओं में होने लगता है, जब कि पहले केवल धनो और परिश्रमी लोग ही आते थे।

हमारी उस जाँच में किसानों ने न सिर्फ सवारी और हमारे खान-पान आदि का ही प्रबन्ध किया, बल्कि जाँच के हर केन्द्र में उनने यथा-शक्ति पैसे का भी पूरा प्रबन्ध किया जो चुपचाप शर्म्मा जी के हवाले कर दिया करते थे। हमें रेल से भी कभी कभी जाने का मौका मिला। पटने से तो रेल से ही गये थे। शहर में जाने पर सवारी और खान-पान का भी खर्च जरूरी था, इसीलिये उनने पैसे का प्रबन्ध किया था। जब एक जाँच खतम करके रवाना होने लगते तो पैसे मिल जाते। हमें यह भी पता लगा कि वे पैसे सभी किसानों से थोड़ा थोड़ा करके ही वसूल किये गये थे। जाँच के केन्द्र में हमारे खान-पान या सवारी के खर्च का प्रबन्ध कर लेने पर जो बच जाता वही हमें मिलता। वही हमारी जरूरत के लिये काफी होता। जाँच का आखिरी काम हमने फतहपुर थाना, गया के सदर सब-डिविजन में किया था। वह निरा जङ्गली और पहाड़ी इलाका है। अमावाँ, महन्थ गया आदि की जमींदारियाँ हैं। महन्थ ने तो किसानों को पस्त और पामाल कर दिया है। अमावाँ

के भी जुल्म कम नहीं हैं। पिछड़े हुए इलाके में जुल्म खामखाह ज्यादा होते ही हैं। मगर हमें यह जानकर ताज्जुब हुआ कि वहाँ भी हमारी खर्च के लिये काफी पैसे वसूल हो गये थे। असल में वहीं हमें पता चला कि सभी जगह किसान जाँच के बाद शर्मा जी को पैसे देते रहे हैं। कोई जाँच-केन्द्र नागा नहीं गया है।

बाहरी दुनियाँ को शायद विश्वास न हो और ताज्जुब हो कि किसान-सभा की प्रारम्भिक हालत में ही यह बात कैसे हो सकी। मगर मैं बिहार प्रान्तीय किसान-सभा के बारे में पक्की पक्की बात कह सकता हूँ कि मुश्किल से ही दो सौ रुपये आज तक हमें हमारे शुभचिन्तकों से मिले होंगे, सो भी दस-बीस के ही रूप में, न कि एक बार। ज्यादे से ज्यादा पचास रुपये एक बार एक ने दिये, सो भी यूनाइटेड पार्टी के कमेले के ही समय सन् १९३३ ई० के शुरू में ही। लेकिन आज तक हमारी सभा ने लाखों रुपये जरूर ही खर्चे होंगे। केवल मेरी सफर में ही, जो महीने में पचीस दिन तो जरूर ही होती रहती है और कभी कभी ज्यादे दिन भी, साल में कम से कम पाँच छे हजार रुपये खर्च होई जाते होंगे। यह सिलसिला प्रायः दस साल से जारी है। होता है यही कि जहाँ जिसे मुझे बुलाना होता है वहीं से मेरे सफर खर्च का प्रबन्ध जरूरी है। अन्दाज से उतने पैसे या तो पहले ही भेज दिये जाते हैं या वहाँ जाने पर मिल जाते हैं। वहीं के लोग पूछ लेते हैं कि खर्च कितना चाहिये। मैं भी जितने से काम चले उतना बता देता हूँ। कभी दो चार रुपये ज्यादा भी मिल जाते हैं जब वे लोग खुद देते हैं बिना पूछे ही। दूसरे प्रान्तों में दौरा करने पर भी यही होता है। फलतः "कूआँ खोदो और पानी पियो" वाला सिद्धान्त ही मेरे साथ चलता है। न तो ज्यादा बचता है और न कम पड़ता है। यदि बचता भी है तो साल में दस बीस ही, सो भी एक दो के हिसाब से ही। ठीक ही है, "बासी बचे न कुत्ता खाय।" अब तो यह सभी जानते हैं कि मेरे दौरे का खर्च किसानों को ही करना पड़ता है। इसीलिये पहले से ही जमा कर रखते हैं। हाँ, जमींदारों और उनके लोगों को शायद यह मालूम न हो।

किन्तु हमें उससे गर्ज ही क्या है ? वे मेरे खर्च के बारे में अन्दाज लगाते रहें कि कौन देता है। जो किसान उन्हें और दुनियों को देता है वही मुझे क्यों न दे यदि मैं उसीका काम करने जाऊँ ? उसे विश्वास होना चाहिये कि मैं उसके लिये मरता हूँ या उसके दुश्मनों के लिये, और यह विश्वास उसे है यह मेरा यकीन है। तब और चाहिये क्या ? और अगर मैं उस किसान की आशा छोड़ पैसे के लिये औरों का, जो प्रायः प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उसके शत्रु ही हो सकते हैं, मुँह देखूँ तो मुझ-सा धोखेबाज और पापी कौन होगा ? यदि किसान-सभा भी ऐसा करे तो वह किसानों की सभा हर्गिज नहीं हो सकती है, ऐसा मैं मानता हूँ।

हाँ, तो जहानाबाद से पहले दिन अलगाना और दूसरे दिन धनगाँवा जाना था। ये दोनों गाँव जहानाबाद से पूर्वोत्तर और पूर्व हैं। कभी हरे-भरे थे। मगर अब वीरान हैं। उन गाँवों में जाँच के सिलसिले में जो बातें मालूम हुईं उनका वर्णन हमें यहाँ नहीं करना है और न दूसरे गाँवों का ही। 'करुण कहानी' में ये सभी बातें लिखी हैं। मगर दो एक घटनायें ऐसी हैं जिन्हें यहाँ लिख देना है। कहते हैं कि जीव एक दूसरे को खा के ही कायम रह सकते हैं "जीवो जीवस्य जीवनम्।" अलगाना में टेकारी की जमींदारी के एक पटवारी हमें मिले। वह किसानों के साथ लगान की वसूली में खूब सख्ती करते थे। फिर भी कबूल करने को तैयार न थे। एक दिन बातों बात में वे बोल बैठे कि टेकारी की ही जमींदारी में किसी और मौजे में रहते हैं। बकाया लगान में जमीन नीलाम हो गई, तो यहाँ नौकरी करने लगे। पूछने पर यह बात भी उनने कबूल की कि लगान एक तो ज्यादा था। दूसरे फसल भी मारी गई लगातार। इसीलिये चुकता न कर सके जिससे खेत नीलाम हो गये। मगर अलगाना में वे खुद दूसरों की जमीन नीलाम करवाने में लगे थे और इस तरह अपनी जीविका चलाते थे। असल में जमींदारी की मैशीन के लिये तेल का काम ये उजड़े किसान ही करते हैं। वही इसे चलाते हैं। इसका प्रत्यक्ष दृष्टान्त हमें वे पटवारी साहब मिले। इसीलिये जान-बूझ के किसानों को तबाह किया जाता है।

नहीं तो जमींदार की नौकरी कौन करता, सो भी दस पाँच रुपये महीने की! जमींदारी का पौधा पनपता और फूलता फलता है किसानों के खून से ही!

धनगाँवा में हमें पता चला कि एक तो साग तरकारी के खेतों को सींचने के लिये पुराने जमाने में जमींदार ने जो चार बड़े कुएँ बनवाये थे वे खराब हो गये और उनकी मरम्मत न हुई। दूसरे चुनाव के जमाने में जमींदार के तहसीलदार या सर्किल अफसर उम्मीदवार होते और मुफ्त ही साग तरकारी वोटरों को खिलाने के लिये ले जाते हैं। क्योंकि धनगाँवा जहानाबाद से निकट है। इसलिये हार कर कोइरी लोगों ने साग तरकारी की खेती ही बन्द कर दी। अब सभी केवल धान की खेती करते हैं। वह भी कभी चौपट होती और कभी कुछ सँभलती है। क्योंकि नदी का बाँध खत्म हो जाने से पानी के बिना धान मर जाता है। जमींदार बाँध की मरम्मत करता नहीं और दस पाँच हजार रुपये लगाना किसानों के लिये गैर मुमकिन है।

हमें मक्खियावाँ जाना था। रात में महमदपुर ठहरे थे—वही महमदपुर जहाँ के किसानों ने अपने संगठन और मुस्तैदी से पीछे चलके जमींदारों के नाकों चने चबवा दिये और आखिरकार पूरे अस्सी बीघे नीलाम जमीन जमींदारों ने उन्हें ही जोतने-बोने दी। क्योंकि नीलामी के बाद जो जो काण्ड हुए उनमें जमींदारों को लेने के देने पड़े और काफी घाटा हुआ। जब किसानों ने उनका मद अपनी मुस्तैदी से उतार दिया तो आखिर करते क्या? इसका पूरा वृत्तान्त तो 'किसान कैसे लड़ते हैं' पुस्तक में मिलेगा। रात में खूब पानी पड़ा था और सुबह भी जारी था। मक्खियावाँ आठ नौ मील से कम न था, सो भी बरसात में, यों तो देहाती लोग नजदीक ही कह देते हैं। सवारी का प्रबन्ध एक्का था। पानी में इक्का भी क्या? वहाँ की मिट्टी केवाल या (काली-चिकनी) है। पाँव फिसलते देर नहीं, इतनी नरम होती है। कहीं-कहीं नर्म भी इतनी होती है कि पाँव को छोड़ना ही नहीं जानती। पूरी राह ही फिसलनी है। रास्ते में एक गहरा नाला भी है। मगर हमें तो जोखिम उठा करना

था। सो भी मक्खियावाँ बहुत ही मजलूम है। राजा अमावाँ ने उसे भून डाला है। अभी अभी बकाश्त संघर्ष के बाद कुछ सँभलने लगा है। इसी गाँव ने पं० यदुनन्दन शर्मा को जन्म दिया है। उस समय लाखों रुपये लगान के बाकी थे ऐसा कहा जाता था।

ऐसे गाँव में यदि न जाते तो सारा गुड़ गोबर ही हो जाता। वहाँ जल्दी कोई पहुँचता भी नहीं। वहाँ का रास्ता कुछ ऐसा है। इसलिये हम लोग हिम्मत करके चल पड़े। उछलते कूदते, गिरते पड़ते बढ़ते जाते थे। यात्रा बेशक बड़ी भयंकर थी। हमारी उस दिन अग्नि-परीक्षा थी। यदि फेल होते तो कहीं के न रहते। मक्खियावाँ ने सन् १६३६ ई० की बरसात के समय जो बहादुरी बकाश्त की लड़ाई में दिखाई और विशेषतः वहाँ की स्त्रियाँ जिस मुस्तैदी से लड़ के विजय पाने में समर्थ हुई उसका बीज हमने सन् १६३३ ई० की बरसात में ही उसी जाँच वाली यात्रा में बोया था। वही छे साल के बाद फल फूल के साथ तैयार हो गया। तब तो साफ ही है कि उस दिन चूकने से काम खराब हो जाता। इसलिये हँसी खुशी चल पड़े थे। तारीफ की बात यही थी कि हममें कोई भी हिचकने वाला न दीखा। सभी ने उत्साह के साथ आगे बढ़ना ही पसन्द किया। नहीं तो मजा किरकिरा हो जाता। ऐसे समय में दुविधे से काम बिगड़ता है।

नतीजा यह हुआ कि हम दोपहर के पहले ही मक्खियावाँ ठाकुरबाड़ी पर जा पहुँचे। लोग तो निराश थे कि हम पहुँच न सकेंगे। मगर हमें देख किसानों में बिजली दौड़ गई। जो काम हमारे हजार लेक्चरों और उपदेशों से नहीं होता वही उस दिन की हमारी हिम्मत ने कर दिया। इसे ही कहते हैं मौन या अमली उपदेश। 'कह सुनाऊँ या कर दिखाऊँ' में "कर दिखाऊँ" इसी का नाम है।

मक्खियावाँ के किसानों की जो दरिद्रता हमने पहले पहल देखी वह कभी भूलने की नहीं। जमींदार कितने निर्दय और वज्र हृदय हो सकते हैं। यह चित्र हमारी आँखों के सामने पहले पहल खिंचा वहीं पर। हमने घर घर घूम के उनकी दशा देखी, उस पर खून के आँसू बहाये और जमींदारी को पेट भर के कोसा।

सन् १९३८ ई० की बरसात गुजर चुकी थी। आश्विन या कार्तिक का महीना होगा। अभी तक देहाती सड़कों की मरम्मत न हो सकी थी। किसान रबी की फसल बोने में लगे थे। रास्तों में कीचड़ और पानी की कमी न थी। ठीक उसी समय श्री विश्वनाथ प्रसाद मर्दाना ने बलिया जिले में हमारे दौरे का प्रोग्राम बनाया। हमें युक्तप्रान्त के कई जिलों में दौरा करना था। श्री हर्षदेव मालवीय (इलाहाबाद) ने उसका प्रबन्ध किया था। बदकिस्मती से कहिये या खुश-किस्मती से, बलिया जिले के लिये केवल एक ही दिन का समय मिला था और मर्दाना ने एक ही दिन में एक छोर से दूसरे तक तीन चार मीटिंगों का प्रबन्ध किया था। मोटर से चलना था। पर सड़कें तो न मोटर के बस की थीं और न मर्दाना के ही बस की। उन सड़कों के ही बल पर चार मीटिंगों का इन्तजाम करना खतरे को मोल लेना था। हुआ भी ऐसा ही। मगर मर्दाना तो मर्दाना ही ठहरे। उनमें जोश और हिम्मत काफी है। उम्र थोड़ी होने से खतरे का सोच-विचार जरा कम करते हैं। जो होगा सो देखा जायगा, यही ख्याल रहता है। इसीलिये खतरे के साथ खेलने में उन्हें मजा आता है। हमारे कार्यकर्त्ताओं में आमतौर से जवाबदेही का उतना ख्याल नहीं है जितना होना चाहिये और यह बात आन्दोलन के लिये बहुत बुरी है। देहात की सभाओं के प्रबन्ध के सिलसिले में बहुत बड़े और जवाबदेह कहे जाने वालों की खतरनाक गैर जवाबदेही देख के मुझे फेर में आ जाना पड़ा है, सो भी बार बार। यह हमारी बहुत बड़ी कमी है जो मुझे बहुत बुरी तरह खटकती है।

हाँ, तो बलिया स्टेशन पर आधी रात के बाद ही हम लोग उतरे थे और वेटिंग रूम में ही ठहर गये। सवेरे ही [illegible] के रवाना हो जाने की

तैयारी थी। एक ही मोटर थी। उसी पर जितने लोग लद सके लद के रवाना हो गये। रेवती, सहतवार, बाँसडीह और मनियार इन चार स्थानों में सभायें करके अगले दिन सुबह के पहले ही प्रायः दो ही बजे बेल्थरा रोड स्टेशन पहुँच के बस्ती जाने की ट्रेन पकड़नी थी। जिले के पूर्वी सिरे के करीब पहुँच के पहली मीटिंग थी और उत्तर पच्छिमी किनारे पर पहुँच के रेलगाड़ी पकड़नी थी। सड़कें तो सब की सब कच्ची ही थीं। केवल शुरू में ही थोड़ी सी पक्की मिली। बरसात ने उनकी ऐसी फजीती कर डाली थी कि रास्ते भर मोटर उछाल मारती थी। मुझे तो सबसे ज्यादा ताज्जुब उस मोटर की मजबूती पर था जो टूटी नहीं और अन्त तक काम करती ही गई।

दोपहर के करीब हम लोग रेवती पहुँचे। एक बाग में मीटिंग का प्रबन्ध था। पास में ही एक डिप्टी साहब का खेमा था। शायद तक़ावी या इसी प्रकार का कर्ज वे बाँट रहे थे गरीब किसानों को। मगर उनने कृपा की और हमारी मीटिंग में बाधा नहीं हुई। हमने अपनी बात किसानों को कह सुनाई और बाँसडीह के लिये चल पड़े। रास्ते में ही सहतवार गाँव पड़ा। जाने के समय भी पड़ा था और वहाँ के लोगों ने हमें रोकने का तय कर लिया था। जब लौटे तो मजबूर होना पड़ा। देहात का यह एक अच्छा बाजार है। लोग जमा हो गये। दूसरे गाँवों के भी लोग थे। पेड़ों के बीच एक ऊँची पक्की जगह पर, जो शायद एक मन्दिर की है, हमने उन्हें अपना कर्त्तव्य समझाया और किसानों के लिये क्या करना जरूरी है यह बताया। फिर फौरन ही बाँसडीह का रास्ता लिया।

बाँसडीह में बड़ी तैयारी थी। कोठे पर ठहरे। बहुत लोग वहीं जमा हो गये। उनसे बातें होती रहीं। फिर नीचे काफी भीड़ हुई। हमें मजबूरन कोठे पर ही छत के किनारे से उपदेश देना पड़ा ताकि नीचे और ऊपर के सभी लोग अच्छी तरह सुन सकें। दूसरी जगह जाने में देर होती और हमें अभी मनियर जाना था, जो वहाँ से काफी दूर था। इसीलिये कोठे

पर से ही उपदेश देने का प्रबन्ध किया गया था। हमने वहाँ का काम भी जल्दी-जल्दी में खत्म किया और चटपट मनियर के लिये रवाना हो गये। असल में सबसे बड़ी और तैयारी वाली सभा मनियर में ही थी। खुशी यही थी कि वह सभा रात में होने को थी। यदि दिन में होती तो हम हर्गिज वहाँ पहुँची न सकते। अन्धेरा तो हो गया पहुँचते ही पहुँचते। मर्दाना ने रात में उसका प्रबन्ध करके दूरंदेशी और जवाबदेही का परिचय जरूर दिया था।

बेशक, जैसी आशा थी नहीं वैसी सभा वहाँ हुई। हमने स्थान की तैयारी वगैरह देखी सो तो देखी ही। हमें उस चीज ने आकृष्ट नहीं किया। हाँ, जब देखा कि सैकड़ों किसान-सेवक (वालंटियर) वर्दी पहने और हाथ में लाठी लिये चारों तरफ तैनात थे और भीड़ को कब्जे में रख रहे थे तो हमें बड़ी ही खुशी हुई। मीटिंग का प्रबन्ध, बोलने आदि का तरीका ये सभी बातें सराहनीय थीं। वहाँ पर हम घंटों बोलते रहे और किसानों की समस्याओं को खोल के लोगों के सामने रख दिया। असल में उस दिन की चार मीटिंगों में पहली में हम अच्छी तरह बोल सके थे हालाँकि जल्दी में जरूर थे। मगर मनियर में तो निश्चिन्त होके बोलते रहे। लोग भी ऐसे शान्त थे कि गोया हमारी बातें मस्त होके पीते जाते थे। कांग्रेसी मंत्रिमंडल के युग में भी किसानों की तकलीफें पहले जैसे ही रह गईं यह देख के लोगों में बहुत ही क्षोभ था। लोग अब असलियत समझने लग गये थे। अब तो बातों से नहीं, किन्तु कामों से मंत्री लोगों की जाँच कर रहे थे और साफ देख रहे थे कि उनकी बातें डपोरशंखी निकलीं। इसीलिये मुझसे इसका रहस्य सुनने और समझने में उन्हें मजा आ रहा था। किसान-सभा की जरूरत वे लोग अब समझने लगे थे।

खैर, सभा तो खत्म हुई और हम लोग डेरे पर आये। मैंने दूध पिया और साथियों ने खाना खाया। इतने में रात के दस-ग्यारह बज गये। हम चलने की जल्दी में थे। बस्ती जिले का प्रोग्राम बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था। असल में वहाँ की यह यात्रा पहली ही थी। बलिया में तो कई

बार आ चुके थे। सो भी एक जालिम जमींदारी के किसानों का जमाव था। इसीलिये मुझे बड़ी चिन्ता थी ट्रेन पकड़ने की। मगर मोटर के करते साथी जरा निश्चिन्त थे। फलतः खा-पी के रवाना हो गये। मोटर पच्छिम की ओर चल पड़ी। हाँ, यह कहना तो भूली गया कि सरयू नदी की बाढ़ ने लोगों के घरों और उनकी फसलों को बर्बाद कर दिया था। सड़कें भी उसने चौपट कर दी थीं। रास्ते में बर्बाद गाँवों और घरों को देखते चले जा रहे थे। लोग बाहर निकल-निकल के हमें अभिवादन करते थे। उन्हें हमारी खबर तो थी ही। कुछ लोग सभा से लौटे भी थे। इस प्रकार हम आगे जाई रहे थे कि पता लगा कि आगे सड़क टूटी है। मोटर 'पास' नहीं कर सकती। यदि बगल से जा सकें तो जायँ। मगर पक्का रास्ता बताने वाला कोई न था। बस, मैं तो सन्न हो गया और जान पड़ा कि कोई गड़बड़ी होने वाली है। कलेजा धक् धक् कर रहा था।

मोटर रास्ता छोड़ के खेतों से चली। अन्दाज से ही ड्राइवर चला रहा था। एक तो रात, दूसरे अनजान रास्ता, तीसरे मोटर और खेतों से उसका चलना। यह गजब की बात थी! हम लोग सचमुच ही मौत के साथ उस समय खेल रहे थे। खेतों से घूमती-घामती और बागों से होती मोटर धीरे धीरे इस ढंग से चल रही थी कि आगे फिर सड़क मिल जायगी, जो ठीक होगी। जरूरत होने पर हममें एकाध उतर के आगे रास्ता देख आते। तब मोटर बढ़ती। ऐसा होते-होते एक बार एकाएक हममें एक बोल उठा कि "कुआँ है, कुआँ है।" ड्राइवर ने मोटर फौरन रोक दी। असल में बहुत ही धीमी चाल से चलती थी तभी हम बच सके। नहीं तो मोटर ही कुएँ में जा गिरती। कुआँ बरसात में घास से छिपा था। जब उसके ऐन किनारे में पहुँचे तभी वह नजर आया और हम लोग बाल बाल बचे।

फिर आगे बढ़े। मगर सड़क लापता थी। हालाँकि अपने खयाल से हम लोग उसके नजदीक से ही चल रहे थे। असल में तो हमें रास्ता ही नहीं मिला कि सड़क की ओर बढ़ें। सर्वत्र कीचड़-पानी से ही भेंट होती

रही। इसी तरह आगे बढ़ते और घूम-घुमाव करते जा रहे थे। नतीजा यह हुआ कि हम लोग सड़क से एक तो बहुत दूर हट गये। दूसरे पच्छिम ओर चलते-चलते पूर्व की ओर हो गये। मोटर के चक्कर और घुमाव के करते ही ड्राइवर को भी और हमें भी पता ही न लगा कि किधर से किधर जा रहे हैं। यों ही चलते-चलाते हालत यह हुई कि जोते खेतों से हम गुजरने लगे। यह थी तो हमारी सरासर नादानी। मोटर की सवारी में अन्धेरी रात में ऐसा काम करने की हिम्मत भला कौन करेगा कि रास्ता छोड़ के खेतों से अनजान दिशा में अन्दाज के ही बल चले? मगर "आरत करहिं विचार न काऊ" वाली बात थी। हमें अगले दिन का प्रोग्राम पूरा करना था। और मर्दाना ने पक्का पता सड़क का न लगा के हमें जो यों ही कह दिया कि सड़क ठीक है वह उसी का प्रायश्चित्त हमें किसी प्रकार ठीक समय बेलथरा पहुँचा के करना चाहते थे। इसीलिये उस समय हमें मौत भी भूल गई थी। नहीं तो कुएँ वाली घटना के बाद तो खामखाह रुक जाते।

इतने में एकाएक एक झील के किनारे हमारी मोटर जा पहुँची। जोते हुए खेतों में चलते-चलते हम समझी न सके कि किधर जा रहे हैं। तब तक पानी के किनारे जा पहुँचे। यह भी अन्दाज हुआ कि यह झील लम्बी है। अब हम निराश हो गये और घड़ी देखने लगे। पता चला कि दो से ज्यादा समय हो गया है। अब तक हम इस फिराग में थे कि रेल की सीटी सुनें या ट्रेन की आहट पायें। खयाल था कि स्टेशन निकट है। मगर अब निराश हो गये। जो तकलीफ उस समय हमें हुई कि आज का प्रोग्राम चौपट हुआ उसे कौन समझ सकता था? यदि समझने वाले होते तो अब तक किसान कहाँ से कहाँ चले गये होते! अब सोचा गया कि यहीं रुक जाँय। क्योंकि पता ही न था कि किधर जा रहे हैं। आगे पानी भी तो था। सारी रात जगे थे। पहले दिन चार सभाओं में बोलते बोलते पस्त भी हो चुके थे। सोने का कोई सामान न था। चिन्ता अलग प्राण ले रही थी। इतने में फिर देखा कि तीन से भी ज्यादा बज चुके थे।

लाचार, सोचा गया कि सुबह चलेंगे। मगर नींद कहाँ? वह भी तो तभी आती है। जब आराम और मौज के सामान मौजूद रहते हैं। अकेली तो आना जानती नहीं। लाचार किसी प्रकार कुछ घंटे काटे। फिर खयाल आया कि सारे साज-सामान के साथ चलना है। इसलिये बैलगाड़ी तो जरूर ही चाहिये। उसके लिये दो एक साथी पास के गाँव में गये भी। मगर मेरे साथ तो एक और बला आ लगी। पहले दिन की दौड़-धूप और परीशानी के बाद भी रात में नींद हराम रही। इसलिये मेरी आवाज कतई बन्द हो गई। गला ऐसा रुँधा कि ताज्जुब होता था। मेरी जिन्दगी में गले की यह हालत पहली ही बार हुई और शायद आखिरी बार भी। जरा भी आवाज निकल न सकती थी। मेरी आवाज बड़ी तेज मानी जाती है। मगर वह एकाएक कहाँ—क्यों चली गई—यह कौन बताये सिवाय डाक्टरों और वैद्य-हकीमों के? बुखार भी हो आया।

फिर भी जैसे-तैसे बैलगाड़ी पर बैठ के बेलथरा रोड पहुँचना तो था ही। पहुँच भी गये। उसी समय युक्तप्रान्त के श्री मोहनलाल सक्सेना कांग्रेसी मंत्रिमंडल का दमामा बजाते बेलथरा पहुँचे थे। उनकी सभा थी। लोगों ने बोलने का हठ मुझसे भी किया। हालाँकि सक्सेना चौंकते थे। मगर यहाँ तो आवाज ही बन्द थी। इसलिये बला टली।

स्टेशन पर ही बस्ती वालों को अपनी लाचारी का तार देके सन्तोष करना पड़ा। दूसरा चारा था भी नहीं। फिर तय पाया कि बनारस चल के गला ठीक करें। तब दौरा करेंगे। सभी जगह खबर भेज के प्रोग्राम स्थगित किया गया और हम लोग काशी में बाबू बेनीप्रसाद सिंह के यहाँ पहुँचे। वहीं दो या तीन दिनों में गला ठीक करके फिर दौरा आरंभ किया गया।

ठीक तारीख और साल याद नहीं। बिहार की ही घटना है। सो भी पटना जिले की ही, बिहटा से दक्षिण मसौढ़ा परगने के नामी जालिम जमींदारों की जमींदारी की। भरतपुरा, धरहरा के जमींदारों से कोई भी जमींदार इस बात की तालीम पा सकता है कि जुल्म कितने प्रकार के और कैसे किये जा सकते हैं। खूबी तो यह कि सरकार और उसके कानूनों की एक न चले और किसान की कचूमर भी निकल आये। अब तो किसान-सभा के प्रताप से जमाना बदल गया है और उन्हीं जमींदारों को वहीं के पस्त किसानों ने नाकों चने चबवा दिये हैं। जो जमींदार भावली लगान की नगदी करने में आकाश-पाताल एक कर डालते थे, क्योंकि भावली (दानाबंदी) के चलते उन्हें पूरा फायदा था। उससे किसान तबाह भी हो जाते थे। वही आज झख मार के नगदी करने को उतारू हो गये। किसानों ने थोड़ी सी हिम्मत, समझदारी और दूरंदेशी से काम लिया और वे जीत गये। किसानों की सचाई और ईमानदारी से बेजा फायदा उठा के उन्हें ही तंग करने वाले जमींदारों के साथ कैसा सलूक करना ठीक है यह बात किसानों के समझ में आ गई और काम बन गया। उनने समझ लिया कि सबके साथ युधिष्ठिर और धर्मराज बनना भारी भूल है। इतने ही से पासा पलट गया।

हाँ, तो धरहरा के ही एक जमींदार की कोठी ऐन पक्की सड़क पर ही अछुआ मौजे में बनी है। मौजा उन्हीं हजरत का है। वहाँ के किसान अधिकांश कोइरी हैं। यह एक पक्की किसान जाति है। कोइरी लोग सीधे-सादे, प्रायः अपढ़ और बड़े ही ईमानदार होते हैं। झगड़ा करना तो जानते ही नहीं, सो भी जमींदारों या उनके मामूली अमलों तक के साथ। मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि मनुष्यों में यह जाति गो

है। इतनी परिश्रमी और खून को पानी बना के खेती करने वाली कि कुछ कहिये मत। जेठ की धूप की लपट और धू धू करती दुपहरी के समय मैदान में साग तरकारी के खेतों को ये दिन-रात सींचते रहते हैं। तब कहीं जमींदार का कड़े से कड़ा पावना चुका पाते हैं। धान या रबी की पैदावार से काम नहीं चलता। इसीलिये अपने आपको झुलस डालते हैं। फिर भी जमींदार ऐसा जल्लाद होता है कि हर घड़ी इनके खून का ही प्यासा रहता है। उसका पेट तो कभी भरता नहीं। वह तो कुम्भकर्ण ठहरा। फिर पेट भरे तो कैसे? उसे जितना ही ज्यादा मिलता है उसकी माँगें उतनी ही ज्यादा बढ़ती जाती हैं। इसीलिये स्त्री-पुरुषों, बाल-बच्चों और बूढ़ों तक के बदन को झुलसा के भी जमींदार की माँगों को पूरा करना किसानों के लिये गैर मुमकिन है। इसीसे अछुवा के गरीब कोइरी किसान भी जमींदारी जुल्म के शिकार हो चुके थे।

असल में वहाँ के जमींदार सभी किसानों से, खासकर पिछड़ी जाति वालों से, दिन भर मुफ़्त काम करवाते रहते थे। बहुत तड़के उनके दरवाजे पर किसानो का पहुँच जाना लाजिमी था। फिर रात होने पर घर जाते थे। और तो क्या मिलेगा, दिन में एक बार भोजन तक मुहाल था यदि खुद घर से खाने के लिये साग-सत्तू न लाते। यदि जमींदार ने भूखे और लावारिश कुत्तों के टुकड़ों की तरह कभी दो चार पैसे या पाव-आध सेर दे दिया तो ग़नीमत! फिर भी हिम्मत न थी कि चूँ करें या दूसरी बार काम पर न आयें। चाहे हजार काम बिगड़े तो बिगड़े। मगर जमींदार के यहाँ बेगारी करने जाना ही होगा। एक बार मजबूरन एक किसान नहीं जा सका। इसीके फलस्वरूप न सिर्फ वह, बल्कि सारा गाँव तबाह किया गया। इसीलिये अछुवा वाले थर्र मारते रहते थे। जमींदार के नाम पर उनकी रूह काँपती थी।

जमींदार ने तरीका ऐसा निकाला था कि पारी पारी से हर किसान को उसके यहाँ पहुँचना ही पड़ता था। इसके लिये उसने एक बड़ा ही निराला ढंग निकाला था जिससे किसानों पर खौफ़ भी छा जाये और काम भी

चलता रहे। जमींदार का एक मोटा और लम्बा डंडा एक के बाद दीगरे किसानों के दरवाजे पर शाम को ही पहुँच जाया करता था। जिस किसान के घर पर आज पहुँचा वही कल जमींदार के यहाँ जायेगा। फिर कल शाम को उसके घर वाले बगल के पड़ोसी के द्वार पर चुपके से रख आयेंगे जिससे अगले दिन उसे जाने की खबर मिल जाय। यही रवैया बराबर जारी था। जहाँ डंडा महाराज पधारे कि उसे हजार काम छोड़ के जाना ही होगा। एक बार अचानक किसी किसान के घर कोई बड़ा बूढ़ा डंडा जी के पदार्पण के बाद रात में मर गया। रिवाज के मुताबिक उस घर के सभी लोग मुर्दे को गंगा-किनारे ले गये। फलतः जमींदार के यहाँ कोई जा न सका। जब यह बात उसे मालूम हुई तो आगबबूला हो गया। किसान की पुकार हुई। वह आया। हाथ जोड़ के भरे हुए गले से उसने सारी कहानी सुनाई और लाचारी के लिये माफ़ी चाही। मगर माफ़ी कौन दे? फिर तो जमींदार का भारी गुस्सा उसके सिर उतरा और गाँव के लोग उजाड़े गये। न जाने कितने जाल-फरेब करके किसानों पर तरह तरह के मुकदमें चलाये गये, मार-पीट कराई गई और इस प्रकार उन्हें रुला मारा गया। यह एक ऐतिहासिक घटना है जिसे उस इलाके का बच्चा बच्चा जानता है।

असेम्बली के चुनाव में धरहरा के ही एक चलते-पुर्जे जमींदार, जो डिस्ट्रिक्टबोर्ड के चेयरमैन, पुरानी कौंसिल के लगातार मेम्बर और अन्त में प्रेसिडेन्ट भी रह चुके थे, बुरी तरह हारे। चुनाव में सभी किसानों ने दिल खोल के हमारा साथ दिया था। जिस जमींदार के खिलाफ़ खड़े होने की हिम्मत जल्दी कोई करता न था और करने पर भी बुरी तरह हारता था, यहाँ तक कि एक बार एक कांग्रेसी उम्मीदवार भी स्वराज्य पार्टी के जमाने में अपनी जमानत जब्त करा चुके थे, वही हारा और उसी की जमानत जैसे-तैसे बचते बचते बची। यदि किसान दिल खोल के हमारा साथ न देते तो यह कब हो सकता था? इसीलिये हमारा सिर उनकी इस हिम्मत के सामने झुक गया। जमींदार की सारी खूँखारी और धमकी की पर्वा न करके उनने निराली हिम्मत दिखाई। जमींदार

के खिलाफ वोट देना क्या था गोया म्याऊँ की ठौर पकड़नी थी चूहों को। मगर उनने ऐसा ही करके सबको हैरत में डाल दिया। जो लोग यह कहके किसान-संघर्ष से भागना चाहते हैं कि मौके पर वे साथ न देंगे उनके मुँह में करारा तमाचा वहाँ के किसानों ने लगाया और अमली तौर से यह बात सिद्ध कर दी कि यह इलजाम सरासर झूठा है। मुझे तो उसी बिहटा के इलाके में ऐसे और भी कई मौके मिले हैं जब किसानों ने आशा से हजार गुना ज्यादा कर दिखाया है। इसीलिये मेरा उनमें अटूट विश्वास है। मैं मानता हूँ कि यदि वे कभी हमारा साथ नहीं देते, तो इसमें उनका कसूर न होके हमारा ही रहता है। जब हमीं में उनके बारे में विश्वास नहीं है, तो फिर हो क्या? हम खुद ही जब लड़ना नहीं चाहते और आगे पीछे करते रहते हैं तो किसान क्या करें? तब वे कैसे पूरा पूरा साथ दें? और साथ न देने पर भी वे दोषी क्योंकर बन सकते हैं? और तो और—जिस महाशय को जमींदार के खिलाफ किसानों ने शान से जिताया, उन्हें खुद किसानों पर यकीन न हुआ। इसका सबूत हमें उसके बाद दो मौकों पर साफ़ साफ़ मिला। पीछे उनने स्वयं माना कि उन्हें विश्वास न था। जब मैं विश्वास रखता था। इसीलिये उनने मेरे खयाल को हार कर सही माना। खूबी तो यह कि वह किसानों के क्रांतिकारी नेता माने जाते हैं, या अपने आपको कम से कम ऐसा समझते जरूर हैं। यही है हमारा किसान-नेतृत्व! फिर भी घमंड रखते हैं कि क्रांति करेंगे और किसान-मजदूर राज्य लायेंगे!

हाँ, तो कांग्रेसी मन्त्रिमंडल बन चुकने के बाद शायद सन् १९३८ या ३९ में उसी अछुवा का एक जवान कोइरी किसान बिहटा आश्रम में मेरे पास एक दिन आया। अठारह, बीस साल की उम्र होगी। गठीला जवान, छरहरा, बदन, काला रंग और हँसता चेहरा। उस दिन की घटना कुछ ऐसी थी कि मुझे सारी जिन्दगी भूलेगी नहीं। इसलिये उसका चित्र मेरी आँखों के सामने नाचता है। उसे मैं पहचानता भी न था। मगर वह तो मुझे पहचनता था ही।

वह आया था मेरे पास अपनी दुख-गाथा सुनाने। शायद घर में कोई बड़े बूढ़े न होंगे। पढ़ा-लिखा भी न था। कांग्रेसी मंत्रियों ने लगान कम करवाने और बकाश्त जमीन की वापसी के नाम पर जो अंटाढार किया था और इस तरह कांग्रेस की लुटिया डुबा दी थी, उसीके फलस्वरूप उस गरीब की फर्याद मेरे सामने थी। सारी कोशिश करके वह थक चुका था। मगर जमींदार के पैसे और कानून की पेचीदगी के सामने उसकी एक भी चल न सकी थी। फलतः उसकी आँखें खुल गई थीं। चुनाव के समय कांग्रेस के नाम से जो डंका पिटा था कि लगान काफी घटाया जायगा और बकाश्त जमीनें वापस दिलाई जायँगी, उस पर सीधे सादे किसानों ने पूरा विश्वास किया था। मगर जब मौका पड़ने पर उन्हें असलियत का पता चला और मालूम हुआ कि बरसने वाले बादल तो और ही होते हैं; वे तो सिर्फ गर्जने वाले थे, तो उनके क्रोध का ठिकाना न रहा। एक तो कुछ हुआ भी नहीं! दूसरे जमींदारों और उनके दलालों की धमकियाँ और तानाजनी उन्हें फिर मिलने लगी। इसलिये उनका क्षोभ और क्रोध उचित ही था। वह जवान भी इसी क्षोभ और क्रोध को उतारने के लिये मेरे पास आया था।

सामने आते ही मैंने उससे पूछा कि 'कहो भाई, क्या हुक्म है?' मैं हमेशा नये या आकस्मिक मिलने वालों से 'क्या हुक्म है' ही कहता हूँ। किसानों से खामखाह यही कहता हूँ। मैं मानता हूँ कि उन्हें मुझे हुक्म देने का पूरा हक है। जब मौके पर मेरी बातों पर विश्वास करके वे लोग मेरा कहना मान लेते हैं, तो दूसरे मौके पर मुझे वे हुक्म क्यों न दें? यदि उन्हें यह अधिकार न हो तो फिर मेरी बातें वे क्यों मानने लगें? कोई जोर-जुल्म या दबाव तो है नहीं। यहाँ तो परस्पर समझौता (understanding) ही हो सकता है। यही बात है भी। इसीलिये तो मेरे काम में रुकावट होती नहीं। मैं बराबर माने बैठा हूँ कि किसान मेरा साथ जरूर देगा। क्योंकि मैं उसका साथ जो देता हूँ।

उसने अपनी लम्बी दास्तान सुनाई और कहा कि कैसी कैसी दौड़-धूप

के बाद भी उसकी एक बात भी न चल सकी। जो खेत उसे मिलना चाहिये खामखाह, वह मिल न सका। उसने कई दृष्टान्त इस बात के सुनाये कि न तो बकाश्त जमीनें लोगों को मिलीं और न लगान ही घटा। फिर बोला कि, "सुना था, सब कुछ हो जायगा। वोट भी इसी आशा पर जान पर खेलकर दिया था। मगर यह तो धोखा ही निकला," आदि आदि। उसके मुँह से जो बातें धड़ाके से निकलती थीं मैं उन्हें गौर से सुनता था और उसकी भावभंगी भी देखता जाता था। मालूम होता था किसी बहुत बड़े धोखे से उसकी आँखें खुली हैं और झूठी प्रतिज्ञा करने वालों को—खासकर कांग्रेस मंत्रियों को—कच्चा ही खा जाना चाहता है। गोकि बाहर से उसके इस भयंकर क्रोध का पता नहीं चलता था। मगर भीतर ही भीतर यह आग जल रही थी यह मुझे साफ झलकता था। वह महान् विस्मय में गोते लगा रहा था कि ऐसे लोग भी झूठी बातें करते हैं। उस समय उसका चेहरा देखने ही लायक था। मुझे इसीलिये वह नहीं भूलता है।

उसकी बातें सुनने के बाद मैंने उससे साफ़ साफ़ कबूल कर लिया कि 'हाँ भई, धोखा तो हुआ। यहाँ तो ऊँची दूकान के फीके पकवान ही नजर आये।' इसके बाद मैंने ब्योरे के साथ सारी बातें उसे सुनाईं और समझाया कि बकाश्त की वापसी और लगान की कमी के नाम पर जो कानून अभी बने हैं वे कितने कच्चे हैं और केवल रुपये वाले जमींदार किस प्रकार बाजी मार ले जाते हैं। मैंने उसे खासा लेक्चर ही सुना दिया। क्योंकि मेरा भी दिल जला ही था। उसके सामने मैंने इस बात की बहुतेरी मिसालें भी पेश कीं और कहा कि धोखा तो दिया ही जा रहा है।

इस पर उसने चटपट सुना दिया कि "आप ही ने तो कहा था कि कांग्रेस को वोट दीजिये। हम क्या जानते थे कि कौन क्या है? आपने जैसा कहा हमने वैसा ही किया।" इस पर मैं ठक् सा हो गया। मेरे पास इस बात का तो कोई उत्तर था नहीं। वह बातें तो सरासर सच्ची कह रहा था। किसानों ने तो मेरे ही कहने से अपनी मर्जी के खिलाफ़ कांग्रेस

के नाम पर उन नर-पिशाच जमींदारों तक को वोट दिया था जिनके हाथों किसानों की एक भी गत बाकी न रही थी। मुझे याद है कि वोट देने के पहले उसी धरहरा के इलाके के एक किसान ने एक सभा में लेक्चर सुनने के बाद ही मुझसे धीरे से कहा था कि आपकी बातें तो हम मान लेंगे और वोट देंगे जरूर। मगर जिन्हें वोट देने को आप कहते हैं वह भी जमींदार ही तो नहीं है ? इस पर मैंने उसे समझा-बुझा के ठीक किया था। आज उस कोइरी नौजवान की बातें सुनके वह घटना भी आँखों के सामने नाच गई।

मैंने उससे साफ़ साफ़ स्वीकार किया कि 'हाँ जी, यह तो बात सही है। तुम्हारा इलजाम मैं मानता हूँ। असल में मैं भी धोखे में था। देश की सबसे बड़ी राजनीतिक संस्था की ओर से डंके की चोट जो बातें कही जा रही थीं और जिन्हें बड़े बड़े महात्मा और लीडर बार बार लाखों लोगों के सामने दुहरा रहे थे मैं उन पर विश्वास करता कैसे नहीं ? इसीसे तो धोखा हुआ। मैं किसानों के सामने अपने आपको इस दृष्टि से अपराधी कबूल करता हूँ। मगर इतना कहे देता हूँ कि इस घटना से मैंने बहुत कुछ सीखा है और किसानों को भी सीखना चहिये। हाँ, आगे के लिये यही कह सकता हूँ कि फिर ऐसी बात होने न दूँगा।'

मैंने देखा कि मेरी इन साफ बातों से उसे संतोष हो गया। यदि मैं दलीलें देके अपनी वकालत करने लगता तो उसे शायद ही यह संतोष होता। मगर ईमानदारी से अपनी भूल कबूल कर लेने पर उसने समझ लिया कि गलती तो सभी से होती ही है। स्वामी जी को भी धोखा हो गया था। इनने जान-बूझ के कुछ नहीं किया। वह कोई बड़ा राजनीतिज्ञ तो था नहीं कि मैं उसे राजनीति की पेचीदगियाँ समझाने लगता और कहता कि यदि तुम ऐसा न करते और कांग्रेस को वोट न देते तो जमींदार जीत जाते। फिर तो और भी बुरा होता आदि आदि। इन बारीकियों को भला वह अपढ़ और सीधा सादा किसान क्या समझने लगा ? मेरा तो यह भी खयाल है कि उन लोगों से ये बातें कहने से वे इन्हें समझ तो

पाते नहीं। उल्टे नेताओं को तौलने की जो उनकी सीधी सी कसौटी है कि जो कहें उसे खामखाह पूरा करें उसका भी इस्तेमाल करना वे लोग भूल जा सकते हैं। फलतः इसी राजनीति की ओट में धोखेबाज़ लोग उन्हें बराबर चकमा दे सकते हैं। इसीलिये मैंने सीधी बात की और अपनी गलती मान ली।

मगर इस घटना से मेरे दिल पर इस बात की गहरी छाप पड़ गई कि किसानों ने अपने हित अहित को पहचानना शुरू कर दिया। वे लोग बड़ी बड़ी बातें बनाने वाले नेताओं और वोट के भिखारियों के चकमे में आसानी से नहीं आ सकते, यदि उनका नेतृत्व ठीक ठीक किया जाय। वे भविष्य में वोट माँगने वालों के नाकों दम कर दे सकते हैं यदि किसान-सभा उस मौके से मुनासिब फायदा उठाके उन्हें पहले ही से आगाह कर दे। जो लोग कहा करते हैं कि किसान बुद्धू हैं और वे आसानी से फाँसे जा सकते हैं वे कितने धोखे में हैं यह बात मैंने उस दिन आँखों देख ली। अत्यन्त पिछड़ी भोली भाली जाति का एक अपढ़ युवक अगर यह बात बेखटके बोल सकता है और मुझे भी मीठे मीठे सुना दे सकता है तो औरों का क्या कहना! असल में जनता की मनोवृत्ति का ठीक ठीक पता लगाना सबका काम नहीं है। यह बड़ा ही मुश्किल मसला है। इसका थाह बिरले ही पाते हैं जिन्होंने अपने आपको जनता के बीच खपा दिया है, दिन रात उसके हवाले कर दिया है और जो उसी की नींद जागते और सोते हैं। रूसी किसानों की इसी सम्बन्ध की घटना मुझे याद आ गई।

श्री लांसलाट ओयन (Launcelot A. owen) ने अपनी अंग्रेजी किताब 'दी रशियन पेज़ेन्ट मूवमेन्ट १६०६-१६१७' में रूस के किसानों की सबसे पहली संगठित मीटिंग का जिक्र किया है जो ता० २१-७-१६०५ को एलेग्जेंडर बैकुनिन नामक जमींदार की जमींदारी में तोरजोक जिले में हुई थी। उस मीटिंग की कार्यवाही पूरी होने के बाद जो आपस में बातचीत जारी हुई थी उसमें किसानों ने भाग लिया था। सिर्फ

सत्रह गाँवों के किसान जमा थे। जिले के सरकारी बोर्ड के मेम्बरों को जो यह शक था कि अभी तक किसान उत्तरदायी शासन के लिये तैयार नहीं हैं, अतः उसकी माँग बेकार है, उसका मुँहतोड़ उत्तर वहीं एक किसान ने चट दे दिया कि "नहीं नहीं, यह बात नहीं है। असल बात तो यह है कि किसान उसके लिये जरूरत से ज्यादा योग्य और तैयार हैं। इसीसे सरकार डरती है" "Another (peasant) confuting the Zemstoomen's doubts as to peasant ripeness for responsibility, asserted that the trouble was that they were over ripe."

१६

सन् १६३८-३६ की घटना है। हरिपुरा कांग्रेस के पहले और उसके बाद भी मुझे गुजरात में दौरा करने का मौका किसान-आन्दोलन के सिलसिले में लगा था। हरिपुरा के पहले गुजरात के हमारे प्रमुख किसान कर्मी श्री इन्दुलाल याज्ञिक ने अपने सहकर्मियों की सम्मति से तय किया था कि कांग्रेस के अवसर पर किसानों का एक विराट् जुलूस निकाला जाय और मीटिंग भी हो। फैजपुर के समय से ही यह प्रथा हमने चलाई थी जो अब तक लगातार जारी रही है। हमने भी उनकी राय मानी था। इसीलिये निश्चय किया गया था कि उसके पहले मेरा दोरा हो जाय। क्योंकि वहाँ तो अभी किसान-आन्दोलन को जन्म देना था। अब तक तो वह वहाँ पनप पाया न था। गांधी जी का वह प्रान्त जो ठहरा। सो भी टेठ बारदोली के पड़ोस में ही कांग्रेस हो जाने जा रही थी। सरदार बल्लभ भाई का तो हम पर प्रचंड कोप भी था। यह भी खबर अखबारों में छप चुकी थी कि कांग्रेस के अवसर पर ही अखिल भारतीय खेत मजदूर सम्मेलन श्री बल्लभ भाई की अध्यक्षता में होगा। यह खेत मजदूर आन्दोलन किसान-सभा का विरोधी बनाया जा रहा था। बिहार तथा आन्ध्र आदि प्रान्तों में इस बात की खुली कोशिश पहले ही की जा रही थी कि खेत मजदूरों को उभाड़ कर या कम से कम उनके नाम पर ही कोई आन्दोलन खड़ा करके बढ़ते हुए किसान-आन्दोलन को दबाया जाय। खुलेआम जमींदारों के आदमियों और पैसे के द्वारा यह बात की जा रही थी। हमें इसका पता था।

मगर हमें इसकी पर्वा जरा भी न थी। हम बखूबी जानते थे कि ये बातें टिक नहीं सकती हैं। फिर भी सजग होके किसानों का खासा जमावड़ा हरिपुरा में करना जरूरी हो गया। इसीलिये दौरे की जरूरत

विशेष रूप से थी। आखिर किसानों को यह पैगाम तो सुनाना ही था कि किसान-सभा की क्यों जरूरत है जब कि कांग्रेस मौजूद ही है। साधारण पढ़े-लिखों से लेकर ऊपर के प्रायः सभी लोग वहाँ किसान-सभा को देख भी न सकते थे। ऐसी ऐसी दलीलें करते थे कि सुनके दंग हो जाना पड़ता था। बारदोली वाली जो किसानों के नाम को लड़ाई पहले लड़ी जा चुकी थी उसके करते यह गलतफ़हमी और भी ज्यादा बढ़ गई थी कि कांग्रेस ही किसान-सभा है और श्री वल्लभ भाई किसानों के असली नेता हैं। श्री इन्दुलाल जी की बातों से हमें तो कुछ पता चल गया कि वह लड़ाई असली किसानों की न होके उनके शोषकों की ही थी जो असली किसानों को हटा के उनकी जगह जा बैठे हैं और जिनकी संख्या मुट्ठी भर ही है। मगर इस बात की पूरी जानकारी तभी हो सकती थी जब वहाँ खुद घूमा जाय। इसीलिये हम बड़े चाव के साथ उस दौरे के लिये रवाना हुए थे। वहाँ जाके हमने खुद अनुभव किया। किसानों की जमीनें क़रीब क़रीब मुफ़्त में ही हथिया लेने वाले जो दस-पन्द्रह फीसदी बनिये पारसी या पटेल वग़ैरह हैं वही किसान कहे जाते हैं। वे काफी मालदार हैं और उनके पास बहुत जमीनें हैं। पहले के किसान उन्हींके हलवाहे और गुलाम होके नर्क की जिन्दगी गुजारते हैं। उन्हीं दस-पन्द्रह फीसदी लोगों की मालगुजारी घटाने के लिये बारदोली में लड़ाई लड़ी गई थी, ताकि असली किसानों की छिनी जमीनें उन्हें वापस दिलाने या कम से कम उनकी गुलामी मिटाने के लिये।

भुसावल से हमने ताप्ती वैली रेलवे को पकड़ी और रवाना हो गये। यह रेलवे बहुत ही धीमी और दुःखद है। पर, मजबूरी थी। मढ़ी स्टेशन, जहाँ से हरिपुरा जाना था, के बहुत पहले ही सोनगढ़ के इलाके में हमें पहली मीटिंग करनी थी और यह सोनगढ़ उसी ताप्ती वैली रेलवे में पड़ता है। बड़ौदा का राज्य है। किसान बहुत ही मजलूम और दुखिया हैं। वहीं से श्रीगणेश करने का विचार था। मगर बड़ौदा राज्य के हाकिमों को यह बात बर्दाश्त न हो सकी और वे लोग इस फिक्र में लगे कि किसी प्रकार हमारी

सभा होने न दी जाय। उनने इस बारे में अपना काफी दिमाग लगाया। साफ साफ नोटिस देके हमारी सभा रोकने में उन्हें शायद खतरा नजर आया। इसलिये एक चाल चली गई। ठीक सभा के दिन बहुत ही सवेरे उस इलाके के सभी गाँवों के पटेलों और मुखियों को राज्य की कचहरी पर पहुँच जाने की खबर ऐन मौके पर दी गई जब हमारे आदमी सभा की तारीख बदल न सकते थे। पटेल और मुखिया लोग होते हैं एक तरह के राज्य के नौकर। इसलिये उसका कचहरी में पहुँच जाना जरूरी हो गया, और जब सभी गाँवों के मुखिया ही चले गये तो फिर सभा में आता कौन? अभी तक किसान-सभा वहाँ जमी तो थी नहीं। सीधे-सादे खेडूत (किसान) उसका महत्त्व क्या जानने गये? और अगर इतने पर भी गाँव के प्रमुख लोग सभा में चलते, तो दूसरे भी आते। मगर वह तो कचहरी चले गये। फलतः सभा की कोई संभावना रही न गई। इस प्रकार बड़ौदा राज्य का यत्न सफल हो गया।

जब हम स्टेशन पर पहुँचे तो इन्दुलाल जी ने सब बातें कहीं। फिर तय पाया कि रात में पास के ही एक गाँव में ठहरना होगा। ठहरने का प्रबन्ध पहले से ही था। उस इलाके में रानीपरज के नाम से प्रसिद्ध जाति के लोग ज्यादातर बसते हैं। वही वहाँ के असली किसान हैं। उनके नेता श्री जीवनभाई हमारे साथ थे। वे अब कहीं बाहर कारबार करके गुजर करते हैं। मगर हमारी सहायता के लिये आ गये थे। उन्हींके साथ हम सभी उस गाँव में गये। जब हमने रानीपरज की दशा पूछी तो उनने सारी दास्तान कह सुनाई। यह भी बताया कि "रानीपरज प्रगति-मंडल" के नाम से एक संस्था खुली है जो उन लोगों की उन्नति का यत्न करती है। स्कूल आदि के जरिये उन्हें कुछ पढ़ाया लिखाया जाता है। चरखा भी सिखाया जाता है। सरदार वल्लभ भाई वग़ैरह उसमें मदद करते हैं। 'रानी परज' या किसी ऐसे ही नाम का कोई पत्र भी निकलता है। सारांश, वह "प्रगति-मंडल" समाज-सुधार की संस्था है। इसीलिये शराब वग़ैरह पीने से लोगों को रोकती है।

मुझे आश्चर्य जरूर हुआ कि यहीं पास में बारदोली में किसानों की लड़ाई हुई ऐसा सभी जानते सुनते हैं। फिर भी रानीपरज के लोग आज बिना जमीन के हैं और दूसरों की गुलामी करते हैं। दुबला के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्हें जमीन दिलाने या उनकी गुलामी मिटाने की लड़ाई लड़ी न जाकर यह समाज-सुधार (social reform) का काम एक निराली बात है। गोया ये लोग जरायम पेशा कौम हैं, जो Criminal Tribes हैं। जैसे जरायम पेशा लोगों को धर्म के नाम पर सुधारने की कोशिश की जाती है और शराब बन्दी का प्रचार होता है ठीक वही हालत यहाँ है। मैंने समझ लिया कि असली काम न करके यह बाहर मरहमपट्टी लोगों की आँख में धूल झोंकने के ही लिये की जा रही है। जंगल में रहने वाली बहादुर कौम पेट के लिये मुफ्तखोरों और लुटेरों की गुलामी करे और नेता लोग इसके भीतर समाज-सुधार का प्रचार करें! यह निराली बात निकली। ब्याह-शादी वग़ैरह के समय बनिये साहुकार या शराब बेंचने वाले इन सीधे किसानों को चढ़ाके कर्ज देते दिलाते और शराब पिलवाते हैं, और पीछे उसी कर्ज में न सिर्फ इनकी जमीनें ले लेते बल्कि पुश्त दरपुश्त इन्हें गुलाम बना डालते हैं। इस लूट और धोखेबाजी के खिलाफ इनमें बगावत का प्रचार किया जाना चाहता था। इन्हें बताना था कि उस बनावटी कर्ज को माफ कर दें और सुना दें कि अब हम गुलाम किसी के भी नहीं हैं। यही तो इस मर्ज की असली दवा है। मगर नकली नेता लोग दूसरी ही बात करते हैं। असल में इसी बात में उनका भी स्वार्थ है। वह भी या तो सहुकार आदि हैं, या उनके दोस्त और दलाल।

वहाँ से हम अगले दिन सूरत जाना था। रेल पकड़ के सूरत पहुँचे भी और वहाँ शाम को एक मीटिंग भी की। फिर सीधे पंचमहाल जिले के दाहोद शहर के लिये फ्रांटियर मेल से रवाना होके अगले दिन सवेरे रात रहते ही पहुँचे। वहाँ एक तो म्युनिसिपैलिटी की ओर से हमें मान-पत्र मिलना था। दूसरे एक सार्वजनिक सभा में भाषण करना था। बाम्बे बड़ौदा और सेन्ट्रल इन्डिया रेलवे का वहाँ एक बड़ा कारखाना होने से

मजदूरों की सभा में बोलना था। मगर सबसे सुन्दर चीज थी दाहोद से दूर देहात में भीलों की एक बड़ी सभा। म्युनिसिपैलिटी के अध्यक्ष थे एक बहोरा मुसलमान सज्जन। मगर जो अभिनन्दन पत्र उनने गुजराती में पढ़ा और जो संक्षिप्त भाषण दिया वह मार्के का था। मैंने भी उचित उत्तर दिया। संन्यासी होके किसानों के काम में मैं क्यों पड़ा इस बात का स्पष्टीकरण वहाँ मैंने निराले ढंग से किया। असल में शहरों के लोगों का पेट जैसे तैसे भरी जाता है। इसलिये उन्हें धर्म की पर्वा ज्यादा रहती है। मैंने भी धर्म की ही दृष्टि से उन्हें समझाया। मैंने कहा कि यद्यपि भगवान सभी जगह है, फिर भी उसे विशेषरूप से शोषितों में ही पाता हूँ और वहीं ढूँढ़ने से वह मिलता है। जिस प्रकार फोड़े वाले के सारे शरीर में दवा न लगाके दर्द की ही जगह दवा लगाने से उसे विशेष आनन्द मिलता है, क्योंकि उसका मन वहीं केन्द्रीभूत है। उसका मन, उसकी आत्मा वहीं मिलती है, पकड़ी जाती है हालाँकि वह है दर असल सारे शरीर में। वही हालत भगवान की है।

जब हम लोग दूसरे दिन भीलों की मीटिंग में गये तो हमें बड़ा मजा आया। स्थान का नाम भूलता हूँ। मैदान में सभा थी। खासी भीड़ थी। चारों ओर आदमी ही आदमी थे। मर्द भी थे, औरतें भी थीं। थे तो दूसरे लोग भी। मगर भीलों की ही प्रधानता वहाँ थी। बचपन में सुना करता था कि द्वारका की यात्रा करने वाले यात्री लोग जब डाकोर की ओर चलते हैं तो दाउद गुहरा (दाहोद-गोधा) की झाड़ियाँ मिलती हैं। यानी दाहोद और गोधा के बीच में लगातार झाड़ियाँ हैं, जंगल हैं जहाँ भील लोग तीर चलाते हैं और यात्री को मार के लूट लेते हैं। मैं समझता था कि बड़े ही खूँखार और भयंकर होंगे। मगर जब उन्हें देखा कि भले आदमियों की सी सूरत-शकल वाले हैं तो आश्चर्य हुआ। हाँ, अधिकांश के हाथ में धनुष और तीरों के गुच्छे जरूर देखे। इनसे उन्हें अपार प्रेम है। इसीलिये साथ में रखते हैं। उनने कहा कि रास्ते में कहीं चोर-बदमाशों या जंगली जानवरों का खतरा हो तो यही तीर धनुष काम आते

हैं। जंगली प्रदेश तो हई। यह दृश्य मैंने पहले पहल देखा। मगर यह भी देखा कि वे मेरी बातें मस्त होके सुनते और झूमते थे। मेरी भाषा तो उनकी न थी। फिर भी मैं इस तरह बोलता था कि वे समझ जावें। बातें तो उन्हींके दिल की बोलता था। फिर झूमें क्यों नहीं ?

हमें वहीं पर यह भी पता चला कि उसी इलाके में बहुत पहले से "भील सेवा-मंडल" काम कर रहा है। वहाँ जाने का तो हमें मौका न लग सका। क्योंकि शाम तक दाहोद वापस आना जरूरी था। रेलवे मजदूरों की सभा में बोलना जो था। मगर लौटते समय रास्ते में ही हमें दूर से "सेवा-मंडल" के मकान दिखाये गये। सेवा-मंडल का काम भीलों के विकास से ताल्लुक रखता था। मंडल के कार्यकर्त्ताओं में अच्छे से अच्छे त्यागी लोग रहे हैं। हमारे साथी श्री इन्दुलाल जी का भी उसमें हाथ रहा है। यह काम उस समय शुरू हुआ जब हमारे देश में राजनीतिक चेतना नाम-मात्र को ही थी। इसीलिये समाज सेवा के नाम पर यह मंडल खुला। मगर आज जब राजनीतिक चेतना की एक बड़ी बाढ़ हमारे देश में आ गई है और उसीके साथ उसका आर्थिक पहलू स्पष्ट हो गया है, तब ऐसे संस्थाओं का खास महत्त्व है या नहीं, यही प्रश्न पैदा होता है। यदि महत्त्व हो भी तो क्या उनके काम का तरीका वही रहे या बदला जाय, यह दूसरा सवाल भी खड़ा होता है। भीलों की वह असभ्यता तो जाती रही। समय ने पलटा खाया और वह सभ्यता की वायु में साँस लेने को बाध्य है। इस झकोरे से वे बच नहीं सकते, यदि हजार चाहें। ऐसी हालत में आर्थिक प्रोग्राम के आधार पर ही उनमें अब काम क्यों न किया जाय ? मेरा तो विश्वास है कि असभ्य और जरायम पेशा कही जाने वाली जातियों में अब भी मर्दानगी औरों से कहीं ज्यादा है। फिर तो आर्थिक प्रोग्राम की बिना पर ज्योंही उनमें काम शुरू हुआ और इसका महत्त्व उनने समझ लिया कि हक की लड़ाई में जूझने के लिये सबसे आगे वही लोग मिलेंगे।

खैर, शाम तक उस सभा से हम लोग लौटे और मजदूरों की मीटिंग में गये। मीटिंग खासी अच्छी थी। सफेद पोश बाबुओं की एक अच्छी

तादाद वहाँ हाजिर थी। मैले और काले कपड़े वाले भी थे ही। श्रमिकों के क्या हक हैं और उनकी प्राप्ति के लिये उन्हें क्या करना होगा यही बात मैंने उन्हें बताई। सभा के बाद हम अपने स्थान पर वापिस आये।

दूसरे दिन गोधा के नजदीक, उसके बाद वाले वैजलपुर स्टेशन से उत्तर जीतपुरा में हमारी मीटिंग थी। यह खासी देहात की सभा थी! दूर दूर के किसान उसमें हाजिर थे। बहुत ही उत्साह और उमंग से हमें वे लोग वहाँ ले गये। बाजे गाजे और तैयारी की कमी न थी। सभा भी पूर्ण सफल हुई। जिस जमीन में सभा हुई उसे किसान ने किसान-आश्रम बनाने के लिये दे दिया। आगे के स्थायी काम के लिये इस प्रकार वहाँ नींव डाली गई, यही उसकी सबसे बड़ी विशेषता थी। मुझे इस बात से अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि मेरी हिन्दी भाषा वहाँ के खेड़ूत भी बखूबी समझ लेते थे। बेशक मेरी कुछ ऐसी आदत हो गई है कि किसानों के ही समझने योग्य भाषा बोलता हूँ, सो भी धीरे धीरे। असल में बातें तो उनके दिल की ही बोलता हूँ। इसीलिये उन्हें समझने में आसानी होती है। हाँ, तो जीतपुरा से लौट के हमने रात में गाड़ी पकड़ी और मढ़ी चल पड़े। मढ़ी से ही हरिपुरा जाना था।

मढ़ी और हरिपुरा के बीच में ही हमारी एक और भी सभा थी खासी देहात में। हमने वह सभा की तीसरे पहर। कांग्रेसी मंत्रिमंडल तो बनी चुका था। पहले पहल हमने उसी सभा में एक बात कही जिसे हम पीछे चल के कई जगह दुहराते रहे। दरअसल गुजरात और महाराष्ट्र में कर्ज और साहुकारों के जुल्म का ही प्रश्न सबसे पेचीदा और महत्त्वपूर्ण है। कहा जाता है कि वहाँ जमींदारी-प्रथा नहीं है। वहाँ के किसानों का सरकार के साथ सीधा सम्बन्ध है। इसे रैयतवारी कहते हैं। मगर बनियों और साहुकारों ने सूद दर सूद के जाल में फाँस के किसानों की प्रायः सारी जमीनें ले ली हैं और वे खुद जमींदार बन बैठे हैं। अर्द्धभाग या बँटाई पर फिर उन्हीं किसानों को वही जमीनें ये साहुकार जोतने को देते हैं। और अगर फसल मारी जाय तो खामखाह नगद मालगुजारी ही वसूल कर लेते हैं।

डरा और दबा किसान चूँ भी नहीं करता है। बँटाई की हालत यह है कि मूँगफली जैसी कीमती और किराना चीजों की पैदावार का भी आधा हिस्सा ले लेते हैं। किसानों की गुलामी भी इसीके करते है।

इसीलिये उनकी खुशी का ठिकाना नहीं रहता अगर इस कर्ज के असह्य भार को उनके सिर से उठा फेंकने की बात की जाय। यदि उनकी छाती से यह चट्टान हटे तो जरा साँस लें। मुझे यह बात मालूम तो थी ही। इसीलिये मैंने कहा कि पड़ोस में ही कांग्रेस हो रही है। उसका दावा भी है कि वह गरीबों और सताये गये लोगों की ही संस्था है। श्री वल्लभ भाई अपने को किसानों का नेता कहते भी हैं। और आज तो इस बम्बई प्रान्त में कांग्रेस के ही मंत्री शासन चला रहे हैं, ऐसा माना जाता है। उन्हीं की मर्जी से कानून बनते हैं। इसलिये हरिपुरा में लाखों की तादाद में किसान जमा होके साफ साफ कह दें कि इस मनहूस कर्ज ने हमारी रीढ़ तोड़ डाली। हमने एक के दस अदा किये। फिर भी साहुकार की बही (चौपड़ी) में बीस बाकी पड़े हैं। हमारी जमीन और इज्जत इसीके चलते चली गई। हम गुलाम भी बन गये। यहाँ एक नये प्रकार के "साहुकार जमींदार" पैदा हो गये। इसलिये कांग्रेस के मंत्री लोग कृपा करके इन साहुकारों के सभी कागज-पत्र अपने पास मँगवा लें। फिर या तो उन्हें बम्बई के पास के ही समुद्र में डुबा दें, या नहीं तो होली जला दें। और अगर हुक्म दें तो हमीं लोग उन्हें लेके ताती नदी में ही डुबा दें। नहीं तो हमारा जो जीवन भार बन गया है वह खत्म हो जायगा।

हमने देखा कि इन शब्दों के सुनते ही किसानों के चेहरे खिल उठे। उसके बाद सभा का काम पूरा करके हमने हरिपुरा पहुँचने की सोची। खयाल आया कि मोटर लारियाँ तो बराबर दौड़ रही हैं। हम लोग पल मारते पहुँच जांयगे। फिर वहाँ से सड़क पर आये और लारियों की इन्तजार करने लगे। घंटों योंही बीता। बीच में बीसियों लारियाँ आईं और चली गईं। हमने हजार कोशिश की कि रुकें, मगर एक भी न

रुकी। लाचार जीवन भाई के साथ पैदल ही आगे बढ़े। उनने कहा कि आगे कुछ दूरी पर जो गाँव पक्की सड़क से हट के पड़ता है वहीं से एक बैलगाड़ी लेके उसी पर हरिपुरा चलेंगे। बस, गाँव की ओर चल पड़े। दो-तीन मील चलने पर गाँव आया।

गाँव पहुँचने के पहले ही हमने जीवन भाई से रानीपरज तथा और किसानों की हालत पूछी। वे भी रानीपरज बिरादरी के ही थे। इसीलिये उनकी दशा ठीक ठीक बता सकते थे। ऊपर से जान पड़ता था कि गांधी जी और सरदार वल्लभ भाई के बड़े भक्त थे। पहले कांग्रेस में उनने काफी काम भी किया था, मगर उनने जो हृदय विद्रावक वर्णन अपने भाइयों के कष्टों का किया उससे हमारा तो खून उबल पड़ा। उनकी भी भावभंगी अजीब हो गई थी। उनने कहा कि यदि किसी रानीपरज के के पास काफी जमीन हो और अपने गरीब भाई से खेती का काम वह कराये तो काम करने वाले के परिवार को अपने ही मकान के एक भाग में रखके अपने ही परिवार में उस परिवार को शामिल कर लेगा। मगर, अगर साहुकार, पारसी या पटेल वही काम गरीब रानीपरज से कराये तो दिन में ज्वार की रोटी और कोई साग उसे खाने को देगा जिसमें मसाले के नाम पर सिर्फ लाल मिर्च के बीज पड़े होंगे, न कि लाल मिर्च। असल में गुजरात में उन बीजो को निकाल के फेंक देते हैं। खाते नहीं। इसीलिये साहुकार उन बेकार चीजों को उन गरीबों के साग में डाल देते हैं। शाम को दो सेर ज्वार या एक डेढ़ आने पैसे दे देते हैं।

इसके बाद जो कुछ उनने कहा या कहना चाहा वह बड़ा ही बीभत्स था। उनकी आँखें डबडबा आईं। आखिर अपनी ही बिरादरी की प्रतिष्ठा की बात जो ठहरी। उनने कहा कि हमारे जो भाई साहुकारों के ऋण में फँसे हैं उनकी जवान लड़कियों और पुत्र-वधुओं को भी ये राक्षस कभी कभी जबर्दस्ती काम करवाने के लिये बुलवा लेते हैं। अब आप ही सोच सकते हैं कि उनका धर्म कैसे बचने पाता होगा, आदि आदि। उनने इस बात

पर बहुत ही जोर दिया और कहा कि दुबला के नाम से प्रसिद्ध गरीब किसानों और उनकी बहू-बेटियों की इज्जत की खैरियत नहीं है।

इस पर हमने कहा कि "लेकिन हम जो यह किसान-सभा कर रहे हैं उसे सरदार वल्लभ भाई तो पसन्द नहीं करते। हालाँकि उन्हें चाहिये तो यह था कि वह खुद दुबला लोगों के लिये यह काम करते और गांधी जी भी उन्हें इस बात का आदेश देते। यह क्या बात है कि गांधी जी इस बात पर मौन हैं ? क्या उन्हें भी यह बात पसन्द है ?" तब उनने कहा कि "इसमें गांधी जी का दोष नहीं है। असल में लीडर लोग गड़बड़ी करते हैं।" हमने फिर कहा कि "मगर गांधी जी भी हमारी किसान-सभा को पसन्द नहीं करते, यह पक्की बात है। तब हम कैसे मानें कि केवल लीडरों की ही भूल है, उनकी नहीं ? और अगर ऐसी हालत में आप किसान-सभा में पड़ेंगे, तो गांधी जी जरूर आप पर रंज होंगे।" अब क्या था, अब तो वे साफ खुल गये और कहने लगे कि "गाधी जी अपना काम करते हैं और हम अपना। हमें किसान-सभा में ही किसानों का उद्धार दीखता है। कांग्रेस से कुछ होने जाने का नहीं। इसलिये यदि गांधी जी हम पर बिगड़ें तो हम क्या करें ? हम तो यह काम करेंगे ही।" बस, मैंने समझ लिया कि किसान-सभा गुजरात में भी जीती-जागती संस्था बनके ही रहेगी, जब कि शुरू में ही जीवन भाई जैसे किसान इसकी जरूरत और महत्ता को यों ही समझने लगे हैं। क्योंकि सभा का काम तो उनने अभी देखा भी नहीं। इससे स्पष्ट है कि परिस्थिति (Objective conditions) उसके अनुकूल है। सिर्फ पथदर्शकों और सच्चे कार्यकर्त्ता (Subjective conditions) की कमी है।

इतने ही में हम उस गाँव में जा पहुँचे और एक किसान के दरवाजे पर ठहरे। बैलगाड़ी का प्रबन्ध होने लगा। शाम भी होई रही थी। थोड़ी देर में गाड़ी तैयार होके आ गई और हम लोग उस पर बैठ के रवाना हो गये। रास्ते में हमने गाड़ी हाँकने वाले किसान से हरिपुरा की बात चलाई और पूछा कि वहाँ विट्ठल नगर में काम करने के लिये

यहाँ के लोग जाते हैं या नहीं, और अगर जाते हैं तो क्या मजदूरी उन्हें प्रतिदिन मिलती है ? इस पर उसने कहा कि रेलवे या सड़क वग़ैरह में काम करने वालों को दस आने पैसे मिलते हैं। कांग्रेस में भी पहले कुछ कम पैसे मिलते थे। मगर पीछे जब ज्यादा तादाद में काम करने वाले जाने लगे तो छे आने ही दिये जाने लगे ! इसके लिये हो। हल्ला भी हुआ। मगर सुनता कौन है ? शायद तूफ़ान मचने पर सुनवाई हो। मगर मजदूर तो भूखे हैं। इसलिये जोई मिलता है उसी पर सन्तोष कर लेते हैं। उसने इसी तरह की और भी बातें सुनाईं। मुझे यह सुनके ताज्जुब तो हुआ नहीं। क्योंकि मैं तो कांग्रेसी लीडरों की मनोवृत्ति जानता था। मगर उनकी इस हिम्मत, वेशर्मी और हृदय-हीनता पर क्रोध जरूर हुआ। मैंने दिल में सोचा कि यही लोग गरीबों को स्वराज्य दिलायेंगे। यही देहात की कांग्रेस है जिसमें देहातियों को उतनी भी मजदूरी नहीं मिलती जितनी सरकारी ठेकेदार देते हैं। इसी बूते पर यह दावा गांधी जी तक कर डालते हैं कि किसानों की सबसे अच्छी संस्था कांग्रेस ही है—"The Congress is the Kisan organisation parexcellence !" मुझे खुशी इस बात की थी कि न सिर्फ वह गाड़ी हाँकने वाला, बल्कि उस देहात के सभी लोग इस पोल को बखूबी समझ रहे थे जैसा कि उसकी बातों से साफ झलकता था।

रात में हम विठ्ठल नगर पहुँचे और वहीं ठहरे। पूरे अठारह रुपयेमें हमने एक झोपड़ा लिया जिसमें सिर्फ तीन चारपाइयाँ पड़ सकती थीं। यही है गरीबों की कांग्रेस ! वहाँ एक रुपये से कम में तो एक दिन में एक आदमी का पेट भरी नहीं सकता था। चीजें इतनी महँगी कि कुछ कहिये मत। जल्लाद की तरह वेमुरव्वती से तो दूकानदारों से सख्त किराया लिया जाता है। देहात में होने वाली सभी कांग्रेसों की यही हालत होती है। दिन-ब-दिन चीजें महँगी ही मिलती हैं।

खैर, हरिपुरा में हमें तो अपना काम करना था। वहाँ किसानों का लम्बा जुलूस निकालना था। मीटिंग भी करनी थी। मगर पता चला कि

किसान-रैली, हरिपुरा, गुजरात

सरदार वल्लभ भाई का सख्त हुक्म है कि बिना उनकी आज्ञा के विट्ठल नगर के भीतर कोई भी मीटिंग या प्रदर्शन होने न पाये। हमें यह चीज बुरी लगी। हमने कहा कि सरदार साहब या उनकी स्वागत समिति को यह हक हर्गिज नहीं है कि आम सड़क पर जलूस रोक दें। जब तक पुलिस या मजिस्ट्रेट की ऐसी मुनादी न हो तब तक तो हमें कोई रोक सकता नहीं। हाँ, मुनादी हो जाने पर कानून तोड़ने की नौबत आयेगी। मगर सरदार या उनके साथियों को न तो पुलिस का अधिकार प्राप्त है और न मजिस्ट्रेट का ही। फिर उनकी नादिरशाही के सामने हम क्यों सिर झुकायें?

नतीजा यह हुआ कि हम और हमारे साथी श्री इन्दुलाल याज्ञिक वगैरह किसी से भी पूछने न गये और जलूस निकला खूब ठाट के साथ। पचीस तीस हजार से कम लोगों का जलूस नहीं था। साहुकारों से त्राण दिलाने और हाली प्रथा मिटाने आदि के नारे मुख्य थे। हाली और दुबला या गुलाम ये सब एक ही हैं। मीटिंग भी बहुत ही जम के हुई। मैं ही अध्यक्ष था। मेरे सिवाय याज्ञिक, डाक्टर सुमन्त मेहता आदि अनेक सज्जन बोले।

सरदार वल्लभ भाई यह बात देख के भीतर ही भीतर आगबबूला हो गये सही। मगर मजबूर थे। इसीलिये किसी न किसी बहाने से अपने दिल का बुखार निकालते रहे। रह रह के बिना मौके के ही हम लोगों पर तानाजनी करते रहे। एक बार तो वहाँ पली गायों के बारे में यों ही लेक्चर देते हुए बोल बैठे कि हम तो इन गायों को पसन्द करते हैं जो न तो प्रस्ताव करती हैं और न उनमें सुधार पेश करती हैं। ये तो क्रान्ति और जमींदारी या पूँजीवाद मिटाने की भी बातें नहीं करती हैं। किन्तु दूध दिये चली जाती हैं। जिससे हमारा काम चलता है। इसी तरह के अनेक मौके आये।

एक बार तो खास विषय समिति में ही बिना वजह और बिना किसी प्रसंग के ही विशेषत: मुझे और साधारणतः सभी वामपक्षियों को लक्ष्य करके न जाने वह क्या क्या बक गये। यहाँ तक हो गया कि सभी लोग

जल के खाक हो गये। फलतः हमने बहुत ही शोर किया और सभापति श्री सुभाष बाबू पर जोर दिया कि उन्हें रोकें। पहले तो सभापति जी हिचकते रहे और सरदार साहब भी लापर्वाह होके बकते जाते थे। मगर जब परिस्थिति बेढब हो गई और शोर बहुत बढ़ा तो उनने रोका, जिससे वे एकाएक अपना सा मुँह लेके बैठ गये। इस प्रकार बारदोली की भूमि में ही उनकी नाक कट गई सिंह अपनी माँद में ही सर हो गया।

हरिपुरा के पीछे कुछ महीने गुजर जाने पर फिर गुजरात में दौरा करने का मौका आया। इस बार श्री इन्दुलाल याज्ञिक और उनके साथियों ने संगठित किसानों की सभायें प्रायः गुजरात के हर जिले में की। अहमदाबाद शहर में ही नहीं, किन्तु देहात में भी एक सभा हुई। हरिपुरा के बाद किसानों की कई संगठित लड़ाइयाँ भी हो चुकी थीं और विशेष-रूप से बड़ौदा राज्य के घोर दमन का शिकार उन्हें तथा हमारे प्रमुख किसान सेवकों को होना पड़ा था। उनकी कितनी ही मीटिंगें दफा १४४ की नोटिस और पुलिस की मुस्तैदी के करते रोकी गई। फिर भी लड़ाई चलती रही। यद्यपि बड़ौदा सरकार का कानून है कि किसान से नगद लगान ही लेना होगा, न कि बँटाई। फिर भी साहुकार जमींदार यह बात मानते न थे। खूबी तो यह कि यदि साल में दो फसलें हों तो दोनों में ही आधा हिस्सा लेते थे। फलतः किसानों ने बँटाई देने से इनकार कर दिया। सरकार को इस पर उनका और किसान-सभा का कृतज्ञ होना चाहता था। मगर उलटे दमन चक्र चालू हो गया। असल में सरकारें तो मालदारों की ही होती हैं। इसलिये उनका फर्ज हर हालत में यही होता है कि धनियों की रक्षा करें। वे कानून तोड़ते हैं तो बला से। शोषित जनता को सिर उठाने नहीं देते। असली चीज कानून नहीं है, किन्तु कमाने वाली, पर लुटी जाने वाली, जनता को चाहे जैसे हो सके दबा रखना ही असल चीज है। कानून भी इसी गर्ज से बनाये जाते हैं। मगर अगर कहीं कानून की पाबन्दी के चलते ही जनता सिर उठा ले तो उसकी पाबन्दी से बढ़के भूल और क्या हो सकती है? यही कारण है कि जमींदारों और मालदारों

के कानून तोड़ने पर भी सरकार तरह दे जाती है। उनके रुपये और प्रभाव के चलते इसके लिये बहाने तो सरकार को मिल जाते हैं। पुलिस उसकी रिपोर्ट करती ही नहीं। फिर सरकार क्या करे? और अगर कहीं एक दो जगह किसान सिर उठाने पाये तो फिर गजब हो जाने का डर जो रहता है। क्योंकि "बुढ़िया के मरने का उतना डर नहीं, जितना यम का रास्ता खुल जाने का रहता है!" बड़ौदा राज्य में किसानों की उन लड़ाइयों ने यह बात साफ कर दी।

अहमदाबाद की सभा के बाद हमारा दौरा था खेड़ा जिले में—उसी खेड़ा जिले में जो न सिर्फ श्री इन्दुलाल जी का जिला है, बल्कि सरदार बल्लभ भाई का भी जन्म उसी जिले में हुआ है। हमारी मीटिंगें ठेठ देहातों में थीं। स्टेशन से उतर के हमें कई दिन देहात देहात ही घूमते रहने और इस तरह डाकोर के पास रेलवे लाइन पकड़ने का मौका मिला। कुछ दूर लारी से और बाकी ज्यादा जगहें बैलगाड़ी से ही तय करनी पड़ीं। इस बार हम ऐसे इलाके में गये जहाँ आज तक कांग्रेस का कोई खास असर होई न पाया है। इसलिये हमें इस बात से बड़ी प्रसन्नता हुई। अनुभव भी बहुत ही मजेदार हुए।

असल में खेड़ा जिले के बहुत बड़े हिस्से में क्षत्रियों की एक बहादुर कौम बसती है जिसे धाराला कहते हैं। ये लोग अहमदाबाद जिले में भी खासी तादाद में पाये जाते हैं। हमें इस बात से बड़ी तकलीफ हुई कि सरकार ने इस दिलेर कौम को जरायम पेशा करार दे रखा है। असल में विदेशी सरकारों तो सदा से यही नीति रही है कि लोगों में मर्दानगी का माद्दा रहने ही न दिया जाय। पर अफसोस है कि कांग्रेसी मंत्रियों ने भी इस कलंक को मिटाने की कोशिश न की, जिससे धाराला लोग अब भी वैसे ही माने जाते हैं। पहले गांधी जी के 'नवजीवन' और 'यंग इंडिया' में पढ़ के हमें भी इनके बारे में यही गलत धारणा थी। परन्तु दौरा करने पर हमें पता चला कि सारी बातें गलत हैं। ये लोग अपने पास लम्बे लम्बे दाव लाठी में लगाके रखते हैं जिसे धारिया कहते हैं। धाराला नाम इसी

धारिया के रखने से पड़ा है। जंगल में लकड़ी वग़ैरह काटने में इससे बड़ी आसानी होती है। हमें इस बात से खुशी हुई कि इन लोगों ने, जो सदा कांग्रेस के विरोधी रहे, न सिर्फ हमारी किसान-सभा को अपनाया, बल्कि इस काम में बड़ी मुस्तैदी दिखाई। उनने इसे अपनी चीज मान ली। इसका प्रमाण हमें उसी यात्रा में प्रत्यक्ष मिला। साहुकारों ने जो उन्हें आज तक बेखटके लूटा था उससे बचने का रास्ता उन्हें किसान-सभा में ही दीखा। क्योंकि सभा की नीति इस मामले में साफ है। यही कारण है कि वे इस ओर झुके, गो कांग्रेस से अलग रहे। उसकी नीति गोल-मोल जो ठहरी।

खेड़ा जिले के गाँवों में घूमते-घामते हम डाकोर से सात ही आठ मील के फासले वाले रेलवे स्टेशन कालोल पहुँचे। यह एक अच्छा शहर है। यहाँ व्यापारी और साहुकार बहुत ज्यादा बसते हैं। हमारे दौरे से इनके भीतर एक प्रकार की हड़कम्प मच चुकी थी, गोकि हमें इसका पूरा पता न था। सरदार बल्लभ भाई के गण लोग भी चुपचाप बैठे न थे। हम उनके गढ़ पर ही धावा जो बोल रहे थे। जो गुजरात आज तक गांधीवाद का किला माना जाता था वहीं किसान-सभा की प्रखर प्रगति उन नेताओं को बुरी तरह खल रही थी। इसीलिये हमारे खिलाफ अंट-संट प्रचार करके और हमें कांग्रेस-विरोधी करार देके उनके गण मध्यम वर्गीय लोगों को हमारे विरुद्ध खूब ही उभाड़ रहे थे। और कालोल शहर तो मध्य वर्गीय लोगों का अड्डा ही ठहरा।

एक बात और भी हो गई थी। उसके पूर्व देहातों में जो हमारे कई लेक्चर हो चुके थे उनमें साहुकारों और सूदखोरों की लूट का हमने खासा भंडाफोड़ किया था। हमने कहा था कि किसानों के सभी कर्ज मंसूख कर दिये जायँ। इससे साहुकारों में खलबली मचना स्वाभाविक था। उनने समझा कि यह तो हमारा भारी दुश्मन खड़ा हो गया। वे मानते थे कि यदि ऐसे लेक्चर किसानों में होने लग जाय तो वे हमारी एक न सुनेंगे, निडर हो जायँगे और हमारा दिवाला ही बुलवा देंगे। पंचमहाल जिले के गुसर मौजे में पीछे चलके श्री जवेर भाई नामक किसान ने ऐसा किया भी।

और जगह भी ऐसी घटनायें हुईं। इसलिये उनका डरना और सतर्क होना जरूरी था।

जिस दिन हम कालोल पहुँचे उसके ठीक पहले दिन एक गाँव में एक साहुकार से कुछ बातें भी ऐसी हो गईं कि वह चौंक पड़ा, और बहुत संभव है कि उसने भी कालोल में सनसनी पैदा की हो। बात यों हुई कि उसने किसानों की फजूलखर्ची की शिकायत करते हुए यह कह डाला कि ये लोग शहरों जाके सैलूनों में बाल कटवाया करते हैं। सैलून अंग्रेजी ढंग की जगहें होती हैं जहाँ बाबु आनी ढंग से नाऊ लोग हजामत बनाते और ज्यादा पैसे मजदूरी में लेते हैं। साहुकार को खटकता था कि ये लोग मेरा कर्ज और सूद चुकता न करके फिजूल पैसे खर्च डालते हैं। इसीसे उसने मुझसे उनकी शिकायत की।

मगर मैंने मल्लाके कहा कि क्या ऐसा बराबर होता है या कभी कभी? उसने उत्तर दिया कि केवल कभी कभी। इस पर मैंने उसे डाँटा कि यही चीज तुम्हें चुभ गई? आखिर किसान लोग पत्थर तो हैं नहीं। ये भी मनुष्य हैं। इन्हें भी अभिलाषायें और वासनायें हैं। इसीलिये कभी कभी उन्हें पूरा कर लेते हैं। जो लोग इन्हीं की कमाई के पैसे सूद, कर्ज, लगान आदि के रूप में लूट के बराबर ही सैलूनों में जाते और गुलछर्रे उड़ाते हैं उन्हें शर्म होनी चाहिये, न कि इन किसानों को। ये तो अपने ही कमाई के पैसे से कभी कभी ऐसा करते हैं और यह अनिवार्य है। मगर आपको अमीरों की बात नहीं खटक के इनकी ही क्यों खटकती है? ये किसे लूट के सैलून में जाते हैं? इस पर वह साहुकार हक्का-बक्का हो गया। उसे यह आशा न थी कि मैं ऐसा कहूँगा। वह तो मुझे गांधीवादियों की तरह समाज-सुधारक समझता था। फलतः मेरी बात सुनके उसे अचम्भा हुआ। शायद उसीने कालोल में ज्यादा सनसनी फैलाई।

हाँ, तो कालोल में पहुँचने पर शहर से बाहर एक बाग में जो रेलवे स्टेशन के पास ही है, हम जा ठहरे। हमारे ठहरने का प्रबन्ध पहले से ही वहीं था। बाग में पहले एक कारखाना था जो तहस-नहस की हालत में

की हालत में पड़ा रो रहा था। शहर के दो एक प्रतिष्ठित और पढ़े-लिखे लोग हमसे वहाँ मिलने आये। यह भी पता चला कि उन्हीं लोगों ने हमारी सभा का भी प्रबन्ध किया है। श्री इन्दुलाल जी से उनका पुराना परिचय था। हमें खुशी इस बात की थी कि मध्यम वर्गीय पढ़े-लिखे लोग हमारे भी साथ हैं। उन्हींके नाम से सभा की नोटिसें भी बँटी थीं। सभा का समय शाम होने पर था जब कि चिराग जल जाँय। हम भी निश्चिंत थे। क्योंकि भीतरी सनसनी और हमारे खिलाफ की गई तैयारी का हमें पता न था। दूसरों को भी शायद न था। नहीं तो हमें बता तो देते ताकि हम पहले से ही सजग हो जायँ। मगर विरोधियों ने गुपचुप अपनी तैयारी कर ली थी जरूर।

जब शाम होने के बाद हम सभा में चले तो शहर के बीच में जाना पड़ा। हमें ताज्जुब हुआ कि यह क्या बात है? घने मकानों के बीच कहाँ जा रहे हैं यह समझना असंभव था। इतने में हम ऐसी जगह जा पहुँचे जो चारों ओर ऊँचे मकानों से घिरी थी। बीच में जो जगह खाली थी वहीं देखा कि बहुत से सफेद-पोश लोग जमा हैं। सब के सब खड़े थे। बैठने के लिये कोई दरी-बरी या बिछावन भी वहाँ न दीखा। हमने समझा कि यों ही किसी काम से ये लोग खड़े हैं और आगे चलने लगे। लेकिन हमें बताया गया कि यही सभा स्थान है। हमें ताज्जुब हुआ कि शहर की सभा और उसकी ऐसी तैयारी! हम समझी न सके कि क्या बात है। इतने में किसीने इशारा कर दिया कि यही स्वामी जी हैं। इशारे का पता हमें तो न लगा। मगर विरोधियों की तैयारी ऐसी थी कि वे किसी के इशारे से समझ जा सकते थे।

बस, फिर कुछ कहिये मत। हमें कोई बैठने को भी कहने वाला न दीखा। यहाँ तक कि किसी ने बात भी न की और चारों ओर से एक अजीब 'सी सी' की आवाज आने लगी। वह आवाज हमें पहले ही पहल सुनने को मिली। हमने हजारों किसान-सभाएँ कीं। विरोधियों के मजमे में हमने व्याख्यान दिये यहाँ तक कि हरिपुरा के पहले सूरत जिले में निलिमोड़ा स्टेशन

से एक दूर बसे शहर में भी हमारी सभा हुई जिसमें गांधीवादी भरे पड़े थे। मगर ऐसी हालत वहाँ न देखी। उनने सभ्यता से आदरपूर्वक हमसे सवाल जरूर किये जिनके उत्तर हमने दिये। मगर ऐसा न किया। यहाँ तो कोई सुनने वाला ही न था। मालूम होता था कि यों ही 'सी सी' और 'हू हू' करके या ताने मार के हमें ये लोग भगा देने पर तुले बैठे थे। तानेजनी की बातें भी बोली जा रही थीं। कोई कोई हमें संन्यासी का धर्म सिखा रहे थे। मगर अप्रत्यक्ष रूप से जैसा कि हुआ करता है।

पहले तो हम और याज्ञिक दोनों ही अकचका गये। मगर पीछे खयाल किया कि यहाँ तो जैसे हो निपटना ही होगा। हम मार भले ही खा जायँ। मगर सभा तो करके ही हटेंगे। इतने में एक दीवार के बगल वाले चबूतरे पर हम दोनों जा खड़े हुए और याज्ञिक ने बोलने की कोशिश की। पहले तो वे लोग सुनने को रवादार थे ही नहीं। इसलिये उनकी सिसकारी चलती रही। मगर हम या याज्ञिक भी बच्चे या थकने वाले तो थे नहीं। इसलिये याज्ञिक ने बोलने की कोशिश बराबर जारी रखी। नतीजा यह हुआ कि बाधा डालने वाले थक के सुनने को बाध्य हुए। आखिर कब तक ऐसा करते रहते? उनका थकना जरूरी था। हमारा तो एक पवित्र लक्ष्य है जिसमें मस्त होने से हम थकना क्या जानें? वह लक्ष्य भी महान है। शोषितों एवं पीड़ितों का उद्धार ही हमारा लक्ष्य है। उसमें हमारा अटल विश्वास भी है। फिर हम क्यों थकते? बल्कि ऐसी बाधाओं से तो उल्टे हमारी हिम्मत और भी बढ़ती है। मगर उन लोगों का तो कोई महान् और पवित्र लक्ष्य था नहीं। फिर थकते क्यों नहीं?

जब वे चुप हो गये तो हमें और भी हिम्मत हुई। फिर तो श्री इन्दुलाल ने अपना लेक्चर तेज किया और धीरे धीरे उन लोगों को ऐसा बनाया कि कुछ कहिये मत। आखिर वह भी उसी खेड़ा जिले के ही रहने वाले ठहरे। कालोल के बहुतेरे लोग उनके त्याग और उनकी जन-सेवा को खूब ही जानते हैं। वे गांधी जी के प्राइवेट सेक्रेटरी बहुत दिनों तक रह

की सेवा के लिये समर्पित किया। यहाँ तक कि शादी भी न की। यह बात खेड़ा वालों से ही छिपी रहे यह कब संभव था! यही वजह थी कि उनने विरोधियों की मीठे मीठे खूब ही मरम्मत की।

फिर मेरा मौका आया। मैं खड़ा हुआ और भाषण का प्रवाह चला। मैंने देखा कि इन्हें कांग्रेस के ही मन्तव्यों और प्रस्तावों के द्वारा पानी पानी करना ठीक होगा। इसलिये कांग्रेस की चुनाव घोषणा, फैजपुर के प्रस्ताव और लखनऊ के प्रस्ताव का उल्लेख करके मैंने उन्हें बताया कि यदि वे कांग्रेस के भक्त हैं तो फौरन ही किसानों को कर्ज से और जमींदारों के जुल्मों तथा बढ़े हुए लगान के बोझ से मुक्त करना होगा। वे बेचारे क्या जानने गये कि प्रस्ताव क्या हैं और लीडर लोग कांग्रेस के मन्तव्यों के ही विरुद्ध काम कर रहे हैं? उन्हें तो जैसा समझाया गया वैसा ही उनने मान के मुझे कांग्रेस का बागी करार दे दिया! मैंने उनसे कहा कि गुनाह कोई करे और अपराधी कोई बने? मैंने उन्हें ललकारा कि मेरी एक बात का भी उत्तर दे दें तो मैं हार जाने को तैयार हूँ। मैं तो घंटों बोलता रहा और वहाँ ऐसी शांति रही कि कुछ पूछिये मत। अब तो कोई चूँ भी नहीं करता था। मेरे बाद स्थानीय एक सज्जन भी बोले और सभा बर्खास्त की गई।

पीछे तो 'सी सी' करने वालों को खूब ही पता चला कि वे धोखे में थे। जब मैंने न सिर्फ उनकी बल्कि उनके बड़े से बड़े लीडरों की भी खासी खबर ली तो आखिर वे करते भी क्या? दरअसल मध्यम वर्गीय लोगों को तो यों ही भटका के गुरुघंटाल लोग अपना उल्लू सीधा करते हैं। वहीं मैंने प्रत्यक्ष देखा कि मध्यम वर्गीय लोग कितने खतरनाक और किस तरह वे पेंदी के लोटे की तरह इधर से उधर ढुलकते हैं। पहले तो मेरे दुश्मन थे। मगर पीछे ऐसे सरके कि कुछ कहिये मत। चाहे जो हो पर उनके करते हमारी किसान-सभा की धाक खूब ही जमी।

लखनऊ की कांग्रेस के बाद ही सन् १९३६ ई० में बिहार प्रान्तीय वर्किंग कमिटी की मीटिंग थी। मैं भी मौजूद था। लखनऊ में कांग्रेस ने जो प्रस्ताव किसानों की हालत की जाँच के लिये पास किया था और प्रान्तीय कमिटियों से जाँच की यह रिपोर्ट माँगी थी कि विभिन्न प्रान्तों में किसानों के लिये किन किन सुधारों की जरूरत है जिससे उनकी तकलीफें घटें और उन्हें आराम मिले, उसी सम्बन्ध में यह खास मीटिंग हुई थी। उसी मीटिंग में किसान जाँच कमिटी बनानी थी। वह बनाई भी गई। बहुत देर तक विचार और बहस-मुबाहसा होता रहा। समस्या ठहरी पेचीदा। इसीलिये कमिटी का काम आसान न था। अन्त में तय पाया कि नौ मेम्बरों की कमिटी बने और जाँच का काम फौरन शुरू कर दे। तभी फैजपुर कांग्रेस के पहले ही दिसम्बर आते आते रिपोर्ट तैयार हो सकेगी।

अब सवाल पैदा हुआ कि मेम्बर हों कौन कौन से ? यह तो जरूरी था कि बिहार के सभी प्रमुख लीडर जो वर्किंग कमिटी में थे उसके मेम्बर बन जाते। हुआ भी ऐसा ही। मगर एक दिक्कत पेश हुई। मैं भी वर्किंग कमिटी का सदस्य था। साथ ही, किसानों के सम्बन्ध में मुझसे ज्यादा जानकारी किसी और को थी भी नहीं। जाँच कमिटी में रहके किसानों से ऐसी बातें तो मैं ही पूछ सकता था जिनसे जमींदारों के ऐसे अत्याचारों पर भी प्रकाश पड़ता जो अब तक छिपे थे। कहाँ क्या सवाल किया जाय और कब किया जाय इस बात की जानकारी सबसे ज्यादा मुझी को थी। इतना ही नहीं। रिपोर्ट तैयार करने के समय मैं उसे किसानों के पक्ष में प्रभावित कर सकता था। मेरे न रहने पर तो शेष लोग या तो जमींदारों के ही तरफदार होते, या ज्यादे से ज्यादा दो भागिये हो सकते थे। मगर

किसानों की यदि कुछ भी भलाई करनी थी तो कुल नौ मेम्बरों में एक का ऐसा होना अनिवार्य था जो किसानों की बातें ठीक ठीक जानता और उनकी सभी समस्याएँ समझता हो। कोई वजह भी न थी कि मैं जाँच कमिटी में न रहूँ। यह हिम्मत भी किसे हो सकती थी कि मुझे रहने से रोके? आखीर चुनाव में जो अगले साल शुरू में ही होने को था, किसान-सभा की सहायता भी तो कांग्रेस के लिये जरूरी थी। इसलिये भी मुझे रखना ही पड़ता।

मगर मुझे क्या मालूम कि खुद बा० राजेन्द्र प्रसाद धर्मसंकट में पड़े डूबते उतराते थे। मैं तो समझता था, और दूसरे भी समझते थे, कि मुझे जाँच कमिटी में रहना ही है। दूसरी बात होई न सकती थी। लेकिन जब राजेन्द्र बाबू ने दबी जबान से कहा कि स्वामी जी के रहने पर जमींदार और सरकार दोनों ही कहेंगे कि जाँच कमिटी की रिपोर्ट तो दरअसल किसान-सभा की रिपोर्ट है, न कि कांग्रेस की। कहने के लिये भले ही उसकी हो, तो मुझे ताज्जुब हुआ कि यह क्या बोल रहे है। मगर उनने और भी कह डाला कि हम नहीं चाहते कि किसी को ऐसा कहने का मौका मिले। हम चाहते हैं कि सभी की नजरों में हमारी रिपोर्ट की कीमत और अहमियत हो। अब तो मैं और भी हैरान हुआ और उनसे पूछा कि आप क्या दलील दे रहे हैं? नौ में मैं ही अकेला किसान-सभा का ठहरा। बाकी तो खांटी कांग्रेसी हैं, जमींदार और जमींदारों के दोस्त हैं। फिर यह कैसे होगा कि उनकी कीमत न हो और अकेले मेरे ही करते आपकी रिपोर्ट किसान-सभा की बन जाय? खुद राजेन्द्र बाबू भी उसमें होंगे। तो क्या मेरे सामने उनकी भी कोई कीमत न होगी। क्या किसान-सभा का या मेरा इतना महत्त्व सरकार और जमींदारों की नजरों में बढ़ गया? मैं तो यह सुन के हैरान हूँ।

मेरी इन बातों का उत्तर वे लोग क्या देते? आखिर कोई बात भी तो हो। और अगर किसान-सभा की या मेरी अहमियत इतनी मान लें, तो फिर कांग्रेस को क्या कहें? उसे तो उन्हें सबके ऊपर रखना था। फिर

दलीलों का जवाब देते हो क्या ? इसलिये यह कहना शुरू किया कि आपके रहने से रिपोर्ट सर्व सम्मत (unanimous) न होगी और उसकी कीमत पूरी पूरी होने के लिये उसका सर्व सम्मत होना जरूरी है। इस पर मैं बोल बैठा कि आपने अभी से यह कैसे मान लिया कि रिपोर्ट ऐसी न होगी और उसमें मेरा मतभेद खामखाह होगा ? मैं तो बहुत दिनों से वर्किंग कमिटी का मेम्बर हूँ और उसके सामने बहुत से पेचीदा प्रश्न आते ही रहे हैं। किसानों के भी कितने ही सवाल जब न तब आये हैं। मगर आप लोग क्या एक भी ऐसा मौका बता सकते हैं जब मेरा मतभेद रहा हो ? या जब मैंने अन्त में अलग राय दी हो ? यह दूसरी बात है कि बहस मुबाहसे होते रहे हैं। तो भी अन्त में फैसला तो हमने एक राय से ही किया है। फिर भी यदि आप लोग अभी से यह माने बैठे हैं कि जाँच कमिटी की रिपोर्ट में मेरा रिपोर्ट खामखाह होगा, तो माफ़ कीजिये, मुझे कुछ दूसरी ही बात दीखती है। मैं हैरत में हूँ कि यह क्या बातें सुन रहा हूँ।

एक बात और है। मान लीजिये कि मेरा मतभेद बाकी मेम्बरों से होगा ही। तो इससे क्या ? यह तो बराबर होता ही है। क्या सभी कमिटियों की रिपोर्टें एक राय से ही लिखी जाती हैं ? शायद निन्नानवे फीसदी तो कभी एक मत नहीं होती है। मुश्किल से सौ में एक रिपोर्ट ऐसी होती होगी। तो क्या कभी ऐसा भी होता है कि शुरू में ही ऐसे लोग मेम्बर बनाये जाँय जिनके विचार एक से ही हों ? उलटे हमने देखा है, हम बराबर देखते हैं कि ऐसी कमिटियों में खासकर अनेक खयाल के लोग ही रखे जाते हैं। बल्कि उनकी रिपोर्टों की ज्यादा कीमत, ज्यादा अहमियत इसीसे होती है कि अनेक मत के लोग उनमें थे। फिर भी आप लोग उल्टी ही बात बोल रहे हैं। आखिर आपकी यह जाँच कमिटी कोई निराली चीज तो है नहीं। फिर मैं यह क्या सुनता हूँ कि रिपोर्ट एक मत न होगी ?

अब तो किसी के बोलने के लिये और भी गुंजाइश न थी। सभी चुप थे। और लोगों की भवाभंगी से और खासकर राजेन्द्र बाबू के चेहरे से मुझे साफ साफ झलका कि उन लोगों पर कोई भारी आफत आ गई है।

वे नहीं चाहते कि मैं जाँच कमिटी में रहूँ। मगर उसीके साथ उनकी दिक्कत यह है कि मुझे रखने के लिये मजबूर हो रहे हैं, जब तक कि मैं खुद रहने से इनकार न कर दूँ। मैं समझने में लाचार था कि ऐसा क्यों हो रहा है। मुझे क्या पता था कि उन लोगों के भीतर पाप भरा था कि न रिपोर्ट तैयार होगी और न छपेगी। सिर्फ चुनाव के पहले जाँच का ढकोसला खड़ा करके वे लोग किसानों को केवल ठगना चाहते थे कि वोट दें। यह भंडाफोड़ पीछे हुआ जब कि उनने रिपोर्ट का नाम ही लेना बन्द कर दिया। बल्कि जब मैंने पीछे उनकी यह हालत देख के फैजपुर में आल इंडिया कांग्रेस कमिटी में यह सवाल उठाया तो वे लोग बुरी तरह बिगड़ बैठे। मैंने वहाँ भी उन्हें फटकारा और ऐसा सुनाया कि बोलती ही बन्द थी।

हाँ, तो यह हालत देखके मैंने खुद कहा कि यदि आप लोगों की यही मर्जी है तो लीजिये मैं खुद रहने से इनकार करता हूँ। क्योंकि देखता हूँ कि यदि ऐसा नहीं करता तो जाँच कमिटी ही न बनेगी और पीछे सब लोग मुझी को इसके लिये कसूरवार ठहराके खुद पाक बनने की कोशिश करेंगें। मगर मैं ऐसा नहीं होने दूँगा। इसलिये खुद हट जाता हूँ। लेकिन यह कैसे होगा कि आप लोग जोई रिपोर्ट चाहेगें छाप देगें और मैं मान लूँगा? मुझे रिपोर्ट की तैयारी के पहले और छपने के पहले भी पूरा मौका तो मिलना ही चाहिये कि बहस करके सम्भव हो तो उसे कुछ दूसरा रूप दिला सकूँ। इस पर सभी एकाएक बोल बैठे कि यह तो होगा ही। जाँच के समय भी आप रह सकते हैं। मगर जाँच का काम पूरा होने और रिपोर्ट लिखने के पहले एक बार कमिटी आपसे सभी बातों पर काफी विचार कर लेगी और आपको पूरा मौका देगी कि उसे प्रभावित करें। फिर जब रिपोर्ट तैयार होगी तो छपने के पहले आपके पास उसकी एक कापी जरूर भेजी जायगी और यदि आप चाहेंगे तो कमिटी से फिर बहस करके उसमें रद्द-बदल करवा सकेंगे। इस पर मैंने कह दिया कि धन्यवाद! मैं इतने से ही संतोष कर लेता हूँ। तब कहीं जाकर रजेन्द्र बाबू और दूसरों का धर्मसंकट टला।

अब एक दूसरा सवाल पैदा हुआ। जितने मेम्बर चुने गये उनमें पटना और शाहाबाद जिलों के एक भी न थे और किसानों के प्रश्नों के खयाल से ये जिले बहुत ही महत्त्व रखते हैं। सच बात तो यह है कि मैं इस सवाल को न तो उसी समय समझ सका और न अब तक समझ पाया हूँ। यदि सभी जिलों के मेम्बर न होंगे तो उससे क्या? मैं तो अच्छी तरह जानता हूँ कि अपने जिले की किसान समस्याओं की पूरी जानकारी शायद किसी को आज तक भी हो। जानकारी तो उन्हें हो जो उसमें दिलचस्पी रखते हों और उसकी टटोल में बराबर रहते हों। इधर किसी को न तो इसकी पर्वा है और न इसके लिये फुर्सत। फिर इस सवाल से क्या मतलब? बिहार के कुल सोलह जिलों को मिलाकर जब सिर्फ नौ मेम्बरों की ही जाँच कमिटी बनी तो यह सवाल उठता ही कैसे कि फला जिले का कोई नहीं है? हाँ, किसी का नाम कमिटी के मेम्बरों में होने से अखबारों में छपे और वह इस प्रकर नामवरी हासिल करे यह बात जुदा है और अगर इस दृष्टि से पटना शाहाबाद से किसी को देना हो तो हो।

खैर, कुछ देर के बाद किसी ने कहा कि बाबू गंगाशरण सिंह पटने के ही हैं। उन्हें क्यों न दिया जाय? इस पर प्रायः सभी बोल बैठे कि ठीक है, ठीक है। अन्त में तय भी पा गया कि वह भी एक मेम्बर रहें और वह तथा बाबू कृष्णबल्लभ सहाय—दोनों ही—जाँच कमिटी के मंत्री हों। मैं चुपचाप बैठा आश्चर्य में डूब रहा था। बाबू गंगाशरण सिंह न सिर्फ बिहार प्रान्तीय किसान कौंसिल के मेम्बर थे, बल्कि बिहार प्रान्तीय कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की कौंसिल ऑफ ऐक्शन के भी सदस्य और पक्के सोशलिस्ट माने जाते हैं। मैं तो जाँच कमिटी में इसलिये खतरनाक माना गया कि किसान सभावादी हूँ। मगर सोशलिस्ट लोग तो ठेठ क्रांति तक पहुँच जाने वाले माने जाते हैं। वह तो क्रांति से नीचे की बात करते ही नहीं। फिर भी गंगा बाबू, बाबू राजेन्द्र प्रसाद और उनके साथियों को न सिर्फ कबूल थे, बल्कि उन लोगों ने खुद उनका नाम पेश किया। यह एक निराली बात थी

कि सोशलिस्ट तो कबूल हो, मगर मेरे जैसा आदमी, जो सोशलिस्ट बनने का दावा कभी नहीं करता, कबूल न हो। यह मेरा आश्चर्य आज तक बराबर बना है। इतना ही नहीं जब मैंने सोशलिस्ट नेता जयप्रकाश बाबू से यह चर्चा की तो उनने खुद कहा कि गंगा बाबू तो सोशलिस्ट भी हैं, तब कैसे कबूल हो गये? इसीलिये यह सावल आज भी ज्यों का त्यों बना है और कौन कहे कि कब तक बना रहेगा?

२१

हजारीबाग जेल में इस बार हमें जो घटनायें मिलीं वह भी काफी मजेदार हैं। हमें कुछ ऐसे गांधीवादी यहाँ मिले जो हिटलर की जीत से केवल इसलिये खुश होते थे कि वह हिन्दुस्तान पर चला आयेगा और इस प्रकार किसान-सभा और मजदूर-सभा का गला घोंट देगा। सोवियत रूस पर होने वाले उसके आक्रमण से तो वे लोग और भी ज्यादा खुश थे। वह यहाँ तक बढ़ गये थे कि सोवियत की हार अब हुई, तब हुई ऐसा कहने लगे थे। भारत में हिटलर के पदार्पण से उनकी क्या हालत होगी यह बात भी शायद वह सोचते हों, मगर क्या सोचते थे यह हमने न जाना। किसान आन्दोलन खत्म हो जायगा, उन्हें इसी की खुशी थी। यदि वे खुद भी उसीके साथ खत्म हो जाँय तो भी उन्हें पर्वा न थी। फिक्र उन्हें अगर कोई दिखी तो यही कि किसान-सभा कैसे मिटेगी। बेशक उनमें कुछ लोग तो ऐसे भी थे जो स्वराज्य लेना नहीं चाहते थे, किन्तु उन्हें चिन्ता थी उसके बचाने की। उनके जानते उनका अपना स्वराज्य तो हई। जमींदारी बड़ी है और रुपये पैसे भी काफी जमा हैं। ठाठ-बाट और शान-बान भी पूरी है। किसानों पर रोब भी खूब डाँटते हैं। फिर और स्वराज्य कहते हैं किसे? उनने तो स्वराज्य का यही मतलब समझा है। उन्हें भय है कि उनका यह स्वराज्य कहीं किसान और पीड़ित लोग छीन न लें, इसीलिये कांग्रेस और गांधी जी की दुम पकड़ के वे इस बला से पार होने के लिये यहाँ पधारे थे। क्योंकि उन्हें विश्वास है कि यहाँ आ जाने पर उनके स्वराज्य की रक्षा गांधी जी और कांग्रेस—दोनों ही—ठीक वैसे ही करेंगे जैसे हिन्दुओं की गाय की दुम उन्हें वैतरणी में डूबने से बचाती है।

मगर उनमें जो जमींदार या मालदार न थे उनको इस मनोवृत्ति पर हमें तर्स आया और हँसी भी आई। हिटलर के पदार्पण से उन्हें अपना

स्वराज्य कैसे मिलेगा यह समझ में न आया। शायद उन्हें अपने स्वराज्य की पर्वा कतई थी नहीं। कदाचित् जेल आये थे वे इसीलिये कि उनकी लीडरी खतरे में थी—छिन जाती। अगर उसे उनने बचा लिया तो यही क्या कम है ? उसीसे कमा खायेंगे। आज लीडरी भी एक पेशा जो बन गई है। मगर, अगर हिटलर के आ जाने से वह लीडरी भी छिन जाय, तो छिन जाय बला से। उसीके साथ किसान-सभा भी तो खत्म होगी। बस, इतने से ही उन्हें सन्तोष था। इसे ही कहते हैं "आप गये अरु घालहिं आनहि" या "दुश्मन की दोनों आँखें फोड़ने के लिये अपनी एक फोड़ लेना !" हमें तो साफ ही मालूम हुआ कि कांग्रेस एक अजायबघर या चिड़ियाखाना। (Museum or zoo) है जिसमें रंग-बिरंगे जीव पाये जाते हैं! गुलाम भारत की विकट परिस्थिति के चलते ही उसकी स्थिति है। क्योंकि राष्ट्रीय संस्था के अलावे और कोई भी संस्था अंग्रेजों का मुँहतोड़ दे नहीं सकती, उनसे सफलतापूर्वक लोहा ले नहीं सकती। इसी-लिये कांग्रेस को हर हालत में मजबूत बनाना हर विचारशील मानवीय का फर्ज हो जाता है। अंग्रेजी सरकार की मनोवृत्ति और सलूक उसे लड़ने को विवश भी करते हैं। यही है परिस्थिति वश कांग्रेस की विलक्षणता और मान्यता। मगर उसमें रंग-बिरंगे जीव तो हई।

हजारीबाग जेल में रोजाना दस आना मिलता है खुराक के लिये। कपड़े-लत्ते टूथ-ब्रश, पाउडर, साबुन वगैरह अलग ही मिलते हैं। इतने पर भी एक 'टुटपुँजिये' जमींदार महोदय को तमक के कहते पाया कि "कष्ट भोगने के लिये तो हम जमींदार लोग हैं और स्वराज्य लेने या जमींदारी मिटाने की बात किसान करते हैं। देखिये न, यह कितनी अन्धेर है !" क्या खूब! वे हजरत इतने कष्ट में थे कि कुछ कहिये मत। दस आने हजम करने में क्या कम कष्ट है ? और ये पाउडर, ब्रश आदि ? इनका प्रयोग तो उन्हें बाहर शायद ही कभी मुअस्सर हुआ हो। इसलिये इससे भी उन्हें काफी कष्ट था। प्रतिदिन दस आना खामखाह हजम करना यह तो आफत ही थी। यदि कभी कम-बेश होता तो एक बात थी। मगर रोज

ही पूरे दस आने ! यही तो गजब था ! पता नहीं, छूटने के दिन वे ३०—४० पौंड वजन में बढ़े हुए गये या कि कुछ कम ! उनके बारे में हमें केवल इतना ही कहना है कि किसानों ने उन्हें कभी नहीं कहा था कि जेल के ये कष्ट वे भोगें। वे तो खुद आये थे। फिर किसान उनके साथ क्यों रिआयत करेंगे, यही समझ में न आया। दरअसल बात तो कुछ दूसरी ही थी। वह तो पहले समझते थे कि स्वराज्य होगा किसानों और जमींदारों के साझे का, और बँटवारे के समय हम किसानों को ग्वाले के छोटे भाई की तरह ठग लेंगे। मगर किसान-सभा ने इस बात का पर्दाफ़ाश कर दिया और कह दिया है कि साझे का स्वराज्य होई नहीं सकता। बस, इसीसे उन्हें क्रोध था।

कहते हैं कि किसी गाँव में दो भाई ग्वाले साथ ही रहते और कमाते खाते थे। बड़ा भाई था काफी चालाक। कमाता वह था नहीं। कमाते कमाते मरता था छोटा भाई ही। मगर खान-पान में बड़ा आगे ही रहता था। फिर भी छोटे को पर्वा न थी। मगर यह बात आखिर चलती कब तक ? अन्ततोगत्वा एक दिन छोटे को भी गुस्सा आया और उसने कहा कि हमें जुदा कर दो, साथ न रहेंगे। बड़े ने पहले तो काफी कोशिश की कि यह बात न हो। मगर छोटे को जिद थी। इसलिये लाचार सभी चीजों का बँटवारा करना ही पड़ा। और चीजों में तो कोई दिक़त न थी। मगर दस-पन्द्रह सेर दूध देने वाली ताजी व्याई एक भैंस थी। उसका बँटवारा कैसे हो, यह बात उठी। लोटा-थाली हो तो एक एक बाँट लें। अन्न और पैसे आदि में भी यही बात थी। मगर भैंस तो एक ही थी। दो होतीं तो और बात थी। अब क्या हो ? दोनों को कुछ सूझता न था। अक़्ल के पूरे तो थे ही बड़े हजरत। उनने रास्ता सुझाया। भैंस का आधा भाग तुम्हारा और आधा हमारा रहे, जैसे घर में आधा आधा दोनों ने लिया है। छोटे ने मान लिया। अब सवाल उठा कि भैंस का कौन हिस्सा किसे मिले ?

यहाँ पर बड़े भाई ने चालाकी की और छोटे से कहा कि देखो भाई, तुम्हें मैं बहुत मानता हूँ। इसीलिये चाहता हूँ कि यहाँ भी तुम्हें अच्छा

का हिस्सा दूँ। यह तो जानते ही हो कि भैंस का मुँह कितना सुन्दर है, किस प्रकार पगुरी करती है। उसकी सींगें कितनी चमकीली और मुड़ी हुई हैं, कान, आँख वगैरह भी देखते ही बनते हैं। विपरीत इसके चूतड़ का हिस्सा कितना गन्दा है। उस पर बराबर गोबर-मूत लगा रहता है जिसे रोज धोना पड़ता है। भैंस बार बार गोबर-मूत निकालती ही रहती है। अगर एक दिन उसे उठाके न फेंकें तो रहने की जगह नर्क ही हो जाय! लेकिन तुम्हारे करते मैं लाचार होके उसका पिछला हिस्सा ही लूँगा और गोबर-मूत फेकूँगा। तुम्हें अगला भाग देता हूँ। बस, बँटवारा हो गया। खुश हो न? छोटे ने हामी भर दी।

अब तो ऐसा हुआ कि छोटा भाई रोज भैंस को खूब खिलाता पिलाता और बड़ा धीरे से दोनों समय उसका दूध निकालता और मजा करता। यह बात कुछ दिन चलती रही। छोटे को इस बीच दही, दूध कुछ भी देखने तक को न मिला। कभी कभी वह घबराता था जरूर। मगर सीधा तो था ही। अतः संतोष कर लेता कि क्या किया जाय? बँटवारा जो हो गया है! बस, फिर काम में लग जाता था। इस प्रकार मिहनत करते करते मरता था वह और मजा मारता था बड़ा। कितना सुन्दर न्याय था! कैसा सुन्दर प्रेम बड़े ने छोटे भाई के प्रति दिखाया! उसके सीधेपन से उसने कैसा बेजा नफा उठाया! मगर यह अन्धेर टिक न सकी। टिकती भी क्यों?

एक दिन छोटे भाई का परिचित कोई सयाना आदमी उसके घर आया। छोटे ने उसका आदर-सत्कार किया। भोजन भी अच्छा खिलाया। मगर दही-दूध नदारद! आगन्तुक को ताज्जुब हुआ कि हाल की ब्याई सुन्दर भैंस दरवाजे पर बँधी है। दूध भी काफी देती होगी। यह शख्स मेरा सच्चा दोस्त भी है। फिर भी मुझे इसने न दूध दिया और न दही! मैंने गौर करके देखा तो इसके घर में ये चीज़ें नजर भी न आईं। यह क्या बात है? उसने छोटे से यही सवाल किया भी। उसने उत्तर दिया कि वो तो नहीं है। भैंस तो है। मगर बँटवारे में मेरे पहले उसका अगला

हिस्सा जो पड़ा है पिछला तो भैया का है। फिर मैं दूध पाता तो कैसे ? हाँ, सींग वग़ैरह की सुन्दरता से सन्तोष करता हूँ। गोबर-मूत से भी बचता हूँ। यही क्या कम है ? भैया ने बड़ी कृपा करके मुझे अगला भाग ही दिया है। भाई हो तो ऐसा हो। इतने से ही आगन्तुक ने समझ लिया कि इसमें चाल क्या है।

उसने छोटे भाई से कहा कि तो फिर बड़ा भाई भी दूध क्यों निकाल लेता है ? यदि तुम अगले हिस्से को खिलाते-पिलाते हो तो वह भी पिछले हिस्से का गोबर-मूत फेंके। यह क्या बात है कि तुम तो कमाते कमाते और खिलाते खिलाते मरो और वह मजा चखे ? जब एक काम तुम करते हो तो वह भी एक ही करे। भैंस के दुह लेने का दूसरा काम वह क्यों करता है ? उसे जाके रोकते क्यों नहीं हो ? आखिर दोनों को पूरा पूरा काम करना होगा। क्योंकि हिस्सा तो बराबर ही है न ! उसका यह कहना था कि उस सीधे भाई के समझ में बात आ गई। आगन्तुक ने इसके पहले जो दूध के बँटवारे आदि की बातें कही थीं वह उसके दिमाग में नहीं धँसी और नहीं धँसीं। हालाँकि बातें थों सही। हमने देखा है कि किसान हो जोत-बो के फसल पैदा करते हैं। मगर जब तक जमींदार हुक्म न दे एक दाना भी नहीं छूते और पशुओं को तथा बाल-बच्चों को भी भूखों मारते हैं। यदि उनसे कहिये कि ऐसा क्यों करते हो ? खाते-पीते क्यों नहीं हो ? तो बोल बैठते हैं कि राम राम, ऐसा कैसे होगा ? ऐसा करने से पाप होगा। जमींदार का उसमें हिस्सा जो है। चाहे हजार माथापच्ची कीजिये कि जमींदार तो कुछ करता-धरता नहीं। जमीन भी उसकी बनाई न होके भगवान या प्रकृति की है। इस पर न जाने कितने मालिक बने और गये। जोई बली होता है वही जमीन पर दखल करता है—"वीर भोग्या वसुन्धरा।" मगर उनके दिमाग में एक भी बात घुसती नहीं और यह धर्म, पाप और हिस्से का भूत उन्हें सताता ही रहता है। यही हालत छोटे भाई की भी थी। और जैसे सीधी बात उसके दिल में धँस गई उसी तरह सीधी बात किसानों को भी जँच जाती है।

फिर तो वह दौड़ा दौड़ाया बड़े भाई के पास फौरन गया और ऐन भैंस दुहने के समय उससे कहने लगा कि आप यह ज्यादा काम करते हैं। एक काम मेरा है भैंस के खिलाने का। एक ही आपका होना चाहिये उसके गोबर-मूत को साफ करने का। फिर यह दूसरा काम आप क्यों कर रहे हैं? पहले मैं यह समझ न सका था। अभी अभी यह बात मैंने जानी है। इसलिये आपको यह काम करने न दूँगा। नहीं तो मुझे एक काम इसके बदले में दीजिये।

इस पर बड़ा भाई घबराया सही। लेकिन सोच के बोला कि पिछला आधा भाग मेरा है और अगला आधा तुम्हारा। अपने अपने भाग में जिसे जो करना है करे। इसमें रोक-टोक का क्या सवाल? काम का बँटवारा तो नहीं है। यहाँ तो भैंस का बँटवारा है और उसके दो हिस्से किये हैं। यदि तुम खामखाह काम ही चाहते हो तो भैंस के मुँह और आँखों पर तेल-बेल लगाया करो और सींगों पर भी। या जब मैं इसे दुहता हूँ तो इसके मुँह पर से मक्खियाँ और मच्छर वगैरह हाँका करो। बस, और ज्यादा चाहिये क्या?

इस पर छोटा भाई निरुत्तर होके चला गया और आगन्तुक से सारी बात उसने कह सुनाई। इस पर आगन्तुक ने कहा कि घबराओ मत। अभी काम हुआ जाता है। अगले हिस्से के लिये जो काम उसने बताया है वह तो उसीके फायदे का है। इससे तो दूध निकालने में उसे और भी आसानी होगी। लेकिन जब उसने भैंस को दुहने का काम शुरू किया था तो तुमने पूछा तो था नहीं कि वह काम करूँ या न करूँ। पिछला भाग उसी का होने के कारण उसने उस पर जो काम चाहा किया। दुहने से उसे फायदा होता है। इसलिये वही काम करता है। ठीक उसी प्रकार तुम भी अपने फायदे का काम आगे के भाग में करो। उससे पूछने की क्या बात?

इस पर छोटे ने पूछा कि अच्छा आप ही बताइये कि किस काम के करने से मेरा फायदा होगा? उसने उत्तर दिया कि ज्योंही वह हजरत दुहने बैठें त्योंही भैंस के मुँह पर धड़ाधड़ लाठियाँ लगाने लगो। इससे भैंस

भड़क के भाग जायगी और वे हज़रत दूध निकला न सकेंगे। यह बात छोटे को पसन्द आई और उसने फौरन 'अच्छा' कह दिया। इसके बाद भैंस दूहने के समय घर लाठी लिये तैयार बैठा रहा और ज्योंही बड़े भैया दूहने की तैयारी करने लगे कि उसने दौड़ के उसके मुँह पर तड़ातड़ लाठियाँ बरसानी शुरू की। बड़े साहब हैरत में थे और जब तक "हैं, हैं" करके उसे रोकने की कोशिश करें तब तक भैंस जाने कहाँ भाग गई। बड़े भैया को इसके रहस्य का पता न लगा। उनने छोटे से पूछा तो उत्तर मिला कि मुँह तो मेरे हिस्से का है न ? फिर उस पर मैंने जो चाहा किया, जैसा आपने अपने हिस्से पर मन चाहा अब तक किया है। फिर 'हैं हैं' करने या बिगड़ने का क्या सवाल ? बड़े भाई ने समझा कि यह सनक तो नहीं गया है। उसने छोटे को समझा बुझा के तथा हिंसा करने और भैंस को कष्ट देने को अनुचित बता के उसे ठंडा किया। उसने समझा कि अब आगे ऐसा न करेगा। मगर दूसरे समय ज्योंही दुहना शुरू हुआ कि उसने फिर वही लाठीकांड शुरू किया। पूछने पर जवाब भी वही दिया।

अब तो बड़े भैया की पिलही चमकी। उनने सोचा कि हो न हो दाल में काला अवश्य है। इसे कोई गहरा गुरू मिल गया है। नहीं तो यह तो भोला-भाला आदमी है। खुद ऐसा कभी नहीं करता। और जब उसने अच्छी तरह पता लगाया तो मालूम हो गया कि छोटे भाई का कोई काइयाँ दोस्त आया है जिसने उसे यह बात सुझा दी है। अब वह बिना आधा दूध लिये नहीं मानने का। अब मेरी दाल हर्गिज न गलेगी। इसलिये हार कर उसने छोटे भाई से कहा कि क्यों तूफान करते हो ? भैंस भी खराब हो रही है और दूध भी किसी को मिल नहीं रहा है—न तुम्हें और न मुझे। जाओ आज से जितना दूध होगा उसका आधा तुम्हें जरूर बाँट दिया करूँगा। तुमने मुझसे यही बात पहले ही क्यों न कह दी कि आधा दूध चहते हो ? मैं उसी समय तुम्हारी बात मान लेता।

इस पर छोटा भाई खुशी खुशी अपने मित्र के पास गया और उससे उसने कह सुनाया कि आपका बताया उपाय सही निकला। अब हमें रोज

आधा दूध दुहने के बाद ही मिल जाया करेगा। आपका उपाय तो बहुत ही सुन्दर और आसान निकला। यह सुन के मित्र को भी खुशी हुई कि उस बेचारे का लुटा-लुटाया हक मिल गया।

किसान-सभा ने भी ठीक इसी तरह आसान उपाय किसानों को बता दिया है जिससे अपनी कमाई को पा सकें और अपने परिवार का भरण-पोषण कर सकें। जमींदार इसीलिये सभा से घबराते हैं और उसे कोसा करते हैं। वह तो साझे वाली भैंस की तरह "साझे का स्वराज्य चाहते थे, जिसमें पीछे चल के किसानों को वैसे ही ठग सकें जैसे छोटे भाई को बड़े ने मीठी मीठी बातों से ठग लिया था। किसान-सभा ने इसी ठगी से किसनों को पहले ही से आगाह कर दिया है। उसने कह दिया है साफ साफ, कि साझे का स्वराज्य धोखे की चीज होगी। खबरदार, किसान और जमींदार का स्वराज्य साझे का या एक नहीं हो सकता है। वह तो जुदा जुदा होगा। जो किसान का होगा वह जमींदार का नहीं और ज जमींदार का होगा उससे किसान कत्ल हो जायँगे, जैसा कि भैंस के बारे में साफ देखा गया है।

जमींदारों और उनके दोस्तों को इस बात का मलाल है कि किसान अब चेत गये हैं। वे यह बात मानने को तैयार नहीं कि जमींदारों और उनके दोस्तों की मदद से किसानों को स्वराज्य मिलेगा। वह तो मानते हैं कि अपने ही त्याग और परिश्रम से किसान-राज्य कायम होगा। यही कारण है कि जेल में पड़े पड़े वह टुटपुँजिये जमींदार साहब उन पर कुढ़ते थे।

२२

जेल में हमें और भी कई मजेदार बातें देखने को मिलीं। किसान-सभा-वादियों की तो यह पक्की धारणा है कि किसानों की आर्थिक लड़ाई के जरिये ही उनके हक उन्हें दिलाये जा सकते हैं। उनका स्वराज्य भी इसी तरह आयेगा। वह यह भी मानते हैं कि किसानों के बीच जहाँ धर्म-वर्म का नाम लिया कि सारा गुड़ गोबर हो गया। धर्म के मामले में जिसे जो करना होगा करेगा, या नहीं करेगा। यह तो हरेक आदमी की व्यक्तिगत बात है कि धर्म माने या न माने और माने तो कौन सा धर्म और किस प्रकार माने। मन्दिर, मस्जिद या गिर्जे में जायगा या कि न जायगा यह फैसला हरेक आदमी को अपने लिये खुद करना होगा। किसान-सभा इस मामले में हर्गिज न पड़ेगी। वह इससे कोसों दूर रहेगी। नहीं तो सारा गुड़ गोबर हो जायगा। हम किसानों और मजदूरों या दूसरे शोषितों की लड़ाई में पंडित, मौलवी और पादरी की गुंजाइश रहने देना नहीं चाहते। हमें ऐसा मौका देना ही नहीं है जिसमें वे लोग किसानों की बातों में "दाल-भात में मूसरचन्द" बनें। नहीं तो बना बनाया काम बिगड़ जायगा। क्योंकि धर्म की बात आते ही किसान-सभा वालों को बोलने का हक रही न जायगा और पंडित, मौलवी आ टपकेंगे। धर्म उन्हीं के अधिकार की चीज जो है। वहाँ दूसरों की सुनेगा भी कौन ?

इस बात का करारा अनुभव हमें इस बार जेल में हुआ। जो लोग गांधी जी के नाम पर ही जेल आये थे और अपने आप को पक्के गांधीवादी मानते थे उन्हीं की हरकतों ने हमें साफ सुझा दिया कि आजादी के मामले में लड़ाई लड़ने वाले लोगों के सामने हर बात को धर्म के रूप में बार बार लाके गांधी जी मुल्क का कितना बड़ा अहित कर रहे हैं। राजनीति में धर्म का चाहे किसी भी ऊँचे से ऊँचे और आदर्श रूप में भी मिला देने से कितना अनर्थ हो

संकता है यह हमने साफ देखा। राजनीति या रोटी के प्रश्न का कोरी दुनियावी चीज मानना कितनी अच्छी चीज है यह हम बखूबी देख पाये।

चम्पारण जिले के मेहसी थाने के एक मुसलमान सज्जन सत्याग्रही के रूप में ही जेल पधारे थे। नीचे से ऊपर तक खादीमय दिखे। सीधे सादे आदमी थे देखने से मालूम होता था कोई पक्का देहाती है। धोती और कुर्ते के साथ गांधी टोपी बराबर ही नजर आती थी। हमने पाँच छे महीने के दर्म्यान उनका सर गांधी टोपी से सूना कभी न देखा। एक बार तो यहाँ तक सुना कि उनने जेल के कपड़े लेने से इनकार कर दिया। सिर्फ इसीलिये कि वे खादी के न थे। हालाँकि गांधी जी का हुक्म है कि जेल में खादी का आग्रह न करके जो कपड़े मिलें उन्हीं को कबूल करना होगा। जब चम्पारन के प्रमुख गांधी वादी नेता ने उन्हें यह बात समझाई तो उनने उत्तर दिया कि आप और गांधी जी समर्थ हैं। इसलिये चाहे जो कपड़े पहने मगर मैं तो ना चीज हूँ। फिर मुझसे कैसी ऐसी उम्मीद करते हैं? पीछे उनने जेल के कपड़े मजबूरन लिये सही। मगर वे कितने पक्के गांधी भक्त हैं इसका पूरा सबूत इससे मिल जाता है। नमाजी तो वे पक्के हैं यह सबने देखा है। गांधी जी तो धर्म पर जोर देते ही हैं। फिर वे ऐसे होते क्यों नहीं? मगर धर्म की बात कैसी अंधी है इसका भी प्रमाण इसीसे मिल जाता है कि जब उनने धर्म बुद्धि से एक बार खादी पहन ली, तो फिर गांधी जी का हजार दुहाई देने पर भी वे दूसरा कपड़ा लेने को तब तक राजी न हुए जब तक मजबूर न हो गये। राजनीति में धर्म को घुसेड़ने वाले गांधी जी को भी इससे सीखना चाहिये कि वह उनकी बात भी मानने को तैयार न थे। उनने एक ऐसा अस्त्र धर्म के नाम पर अपने अनुयायियों को दे दिया है कि खुद उनकी बातें भी वे लोग नहीं मानते और दलील देते हैं धर्म की ही। यह दुधारी तलवार दोनों ओर चलती है यह गांधी जी याद रखें। उन हजरत की तो मोटी दलील यही थी कि जब एक बार खादी को पहनना धर्म हो गया तो फिर उसका त्याग कैसे उचित होगा। गांधी जी को यह भी न भूलना चाहिये कि आम लोग ऐसे ही होते हैं गांधी जी की बुद्धि सब को तो होती नहीं कि धर्म की पेचीदगियाँ

समझ सकें। इसलिये यह बड़ी खतरनाक चीज है, खासकर दुनियावी और राजनीतिक मामलों में।

अच्छा आगे चलिये। वे हजरत ज्योंही हजारीबाग जेल में आये उसके एकी दो दिनों बाद एक मुसलमान सज्जन ने उनके बारे में मुझसे आके कहा कि एक मुसलमान आये हैं। उनने गोदाम में मुझे देखते ही आतुर भाव से कहा है कि भई, मुझे भी मुसलमान के हाथ का पकाया खाना खिलाओ। इतने दिनों तक तो मैं फल फूल खाते खाते घबरा गया हूँ। सभी लोग ता हिन्दू ही मिले। फिर उनके हाथ की पकाई चीजें खाता तो कैसे खाता ? तुम मुसलमान हो और अपना खाना अलग पकवाते हो। इसलिये मुझे भी उसी में शामिल करलो तो मैं बहुत ही उपकार मानूँगा, आदि आदि। जिस मुसलमान ने मुझसे ये बातें कहीं वह भी उनकी बातें सुनके हैरत में था। हैरत की बात भी थी। यह बात आमतौर से यहाँ देखी गई है कि कुछेक को छोड़ सभी हिंदुओं को मुसलमानों के हाथों पकी चीजें खाने में कोई उज्र नजर नहीं हुआ। कइयों ने तो खामखाह मुसलमान पकाने वाले रखे हैं। इसलिये उनकी बातों से चौंकने का पूरा मका था। मगर मैं सुनके हँसा और फौरन समझ गया कि हो न हो यह धर्म महाराज की महिमा है। खैर, वह मुसलिम सज्जन उस मुसलमान के चौके में ही कई साथियों के साथ बहुत दिनों तक खाते रहे यह मैंने अपनी आँखों देखा।

अब एक दूसरी ऐसी ही घटना सुनिये। बड़ी असेम्बली के एक हिन्दू जमींदार मेम्बर भी इसी जेल में थे। पहले तो मुझे कुछ पता न चला। मगर पीछे कई बातों के सिलसिले में पता चला कि यदि मुसलमान उनकी खाने पीने की चीजों के पास चला जाय या छू दे तो वह उन्हें खाते नहीं थे। वे अपना खाना एक आदमी के साथ अलग ही पकवाते थे। कहने के लिये कट्टर गांधीवादी। गांधी जी के विरुद्ध एक शब्द भी सुनने को तैयार नहीं। किसान-सभा या समाजवाद के भी ऐसे दुश्मन कि कुछ कहिये मत। मगर धर्म के भक्त ऐसे कि मुसलमान के स्पर्श से हिचक ! मुसलमान की छाया

से उनका खाना अपवित्र हो गया। मेरे लिये यह समझना गैरमुमकिन था। मैं भी खुद बना के खाता हूँ और छूआ-छूत से परहेज करता हूँ खाने पीने में। मगर इसका यह अर्थ नहीं कि किसी मुसलमान, ईसाई या अस्पृश्य कहे जाने वाले के स्पर्श से 'खाद्य पदार्थों' को अखाद्य मान लेता हूँ। मेरी छूआ-छूत का धर्म से कोई ताल्लुक नहीं है। यदि कभी कोई मुसलिम या अछूत मेरी रोटी, मेरा भात छूदे तो भी मैं उसे खा लूँगा। मगर सदा ऐसा नहीं करता। वह इसलिये कि आमतौर से लोगों की भीतरी और बाहरी शुद्धि के बारे में कहाँ ज्ञान रहता कि कौन कैसा है? किसने घृणिततम काम किया है या नहीं कौन कैसी संक्रामक बीमारी में फँसा है या नहीं यह जाना नहीं जा सकता। इसीलिये साधारणतः मैं किसी का छूआ हुआ नहीं खाता हूँ, जिसे बखूबी नहीं जानता। यही मेरी छूआ-छूत का रहस्य है।

मगर उन गांधीवादी महोदय को मैं खूब जानता हूँ। वह इस तरह की छूआ-छूत नहीं मानते हैं। उनके लिये ऐसा मानना असंभव भी है। उनकी छूआ-छूत तो वैसी ही है जैसी आम हिन्दुओं की। जब एक मुसलिम सज्जन ने मौलवी ने जो मेरी इस बात को अच्छी तरह जानते हैं उन्हें पकड़ा तो वे हजरत मेरा दृष्टांत देके ही पार हो जाना चाहते थे। मगर मौलवी ने उनकी एक न चलने दी और आखिर निरुत्तर कर दिया।

एक तीसरी घटना भी सुनने योग्य ही है। जेल में कुछ प्रमुख लोग श्रीकृष्ण जन्माष्टमी को धार्मिक ढंग से मनाने की तैयारी कर रहे थे। उसमें शामिल तो सभी थे एक मुझको छोड़ के। क्योंकि मैं कृष्ण को धर्म की कट्टरता से कहीं परे और बाहर मानता हूँ। मेरे जानते वह एक बड़े भारी जन-सुधारक और नायक थे। उन्हें या उनकी गीता को धार्मिक जामा पहनाना उनकी महत्ता को कम करना है। वह और उनकी गीता सार्वभौम पदार्थ हैं। इसीलिये मैं उन्हें धार्मिक रूप देने में साथी बनना नहीं चाहता। इसीसे उस उत्सव से अलग रहा। कोई दूसरा कारण न था। मगर और लोग तो शरीक थे ही।

जिन मौलवी साहब का ज़िक्र अभी किया है उन्हीं को दो एक प्रमुख

लोगों ने उस उत्सव में निमंत्रित किया कि कृष्ण के बारे में उनका कुछ प्रवचन हो। मौलवी साहब ने कबूल भी कर लिया। कुछी दिन पहले जब हजरत मुहम्मद साहब का जन्मोत्सव मुसलमानों ने मनाया था तो उनने सभी हिन्दुओं को बुलाया था। कइयों ने उनके जीवन पर कुछ प्रवचन किया भी था। इसलिये इस बार मौलवी साहब का बुलाया जाना और उनका कबूल करना इस खयाल से भी मुनासिब ही था। लोग कहते हैं कि दोनों के धार्मिक उत्सवों में अगर दोनों ही योग दें या दिल से शरीक हों तो धार्मिक झगड़े खुद मिट जायँ। बात चाहे कुछ भी हो। लेकिन कांग्रेसी लोग ऐसा जरूर मानते हैं। इसीलिये तो जन्माष्टमी में मौलवी साहब का शामिल होना गौरव की बात थी, खुशी की चीज थी।

मगर इस बात में कई सत्याग्रही हिन्दू सख्त विरोधी हो गये। उनमें एकाध तो निहायत सीधे और अनजान थे। मगर दो एक तो ऐसे थे कि दिन रात गांधी जी की ही दुहाई देते रहते हैं। सबसे मजे की बात यह थी कि जिन जमींदार गांधीवादी की बात खाने-पीने के बारे में अभी कह चुके हैं वह इस बात के सख्त विरोधी थे कि मौलवी साहब उसमें शामिल हों या कुछ भी बोलें। कृष्ण के बारे में मौलवी साहब को बोलने देना वे हर्गिज नहीं चाहते थे और इस बात पर उनने घुमा-फिरा के चालाकी से बहुत जोर दिया। साफ तो बोलते न थे कि धर्म की बात है। क्योंकि इसमें बदनाम जो हो जाते। इसलिये घुमा-फिरा के बराबर कहते फिरते थे। उन्हें बड़ी तकलीफ हुई। जब उन्हें पता लगा कि मौलवी गये और बोले भी। उनने पीछे उलाहने के तौर पर कहा कि आखिर आप गये और बोले भी? माना नहीं? एकाध को तो यहाँ तक साफ ही कहते सुना कि धर्म ही चौपट हो गया।

मगर ये सभी घटनायें वाजिब हुईं, इस मानी में कि जब धर्म की ही छाप हमारे सारे राजनीतिक और आर्थिक कामों पर लगी हुई है तो दूसरी बात होई कैसे सकती है? गांधी जी चाहे धर्म की हजार व्याख्या करें और उसे बिल्कुल ही नया जामा पहना डालें जो राजनीति में आके

भी उसे आदर्श बनाये रखे, उसे विकृत होनें न दे, जैसा कि ऊपर की घटनाओं से स्पष्ट होता है। फिर भी जन-साधारण के दिल में हजारों वर्षों से धर्म के सम्बन्ध में जो धारणा है वह बदल नहीं सकती। उसका बदलना करीब करीब गैर मुमकिन है। धर्म के नाम पर होने वाली खराबियों और बुराइयों को दूर करने के लिये कितने ही धर्म-सुधारक आये और चले गये। मगर वे ज्यों की त्यों पड़ी हैं। नहीं, नहीं, वह तो और भी बढ़ती गई हैं। सुधारकों ने सुधार के बदले एक और भी नया सम्प्रदाय पैदा कर दिया जो गुत्थियों को और ज्यादा उलझाने का ही काम करने लगा। गांधी जी के नाम पर तो एक ऐसा ही सम्प्रदाय पैदा हो चुका है जो दूसरों की बातें सुनने तक को रवादार नहीं। असल में धर्म की तो खासियत ही है अन्धपरम्परा पैदा करना और उसे प्रश्रय देना। तर्क दलील की गुंजाइश वहाँ हई नहीं। और अगर कोई यह बात न माने तो उसे मान लेना होगा कि जहाँ तर्क दलील और अक्ल की गुंजाइश हो वह यदि धर्म हो भी तो किसी खास व्यक्ति या कुछ चुने लोगों के ही लिए हो सकता है। ज्योंही उसे आपने सार्वजनिक रूप देने की कोशिश की कि अक्ल के लिये मनाही का सख्त आर्डर जारी हुआ और अन्धपरम्परा आ घुसी। धर्मों और धार्मिक आन्दोलनों के इतिहास से यह बात साफ-साफ जाहिर है। गांधी जी इस बात को न मान कर और राजनीति पर धर्म की छाप लगाकर यह बड़ी भारी भूल कर रहे हैं, जिसका नतीजा आने वाली पीढ़ियों को सूद के साथ भुगतना नहीं होगा।

इस तरह हम देखते हैं कि ज्योंही किसी बात में धर्म का नाम आया कि धर्म के नाम पर ही गुजर करने वाले और उसके सर्व जन-सम्मत ठेकेदार पंडित और मौलवी आ घुसे। उस बात में टाँग अड़ाने का मौका तो उन्हें तभी तक नहीं मिलता जब तक वे बातें शुद्ध राजनीतिक या आर्थिक हैं और उन पर धर्म मजहब की मुहर नहीं लगी है। जब तक ये लोग मजबूरन दूर रहते हैं और ताक में रहते हैं कि हमारे घुसने का मौका कब आयेगा। इसलिये धर्म का नाम लेते ही कूद पड़ते हैं। उन्हें इस बात

से क्या गर्ज कि आपने धर्म का नाम किस मानी में लिया है ? उनके लिये धर्म का ज़िक्र ही काफी है। उसका अर्थ तो वे खुद लगाते हैं और उनका यह भी दावा है कि उनके सिवाय दूसरा न तो धर्म का मतलब समझ सकता है और न समझने का हक़ ही रखता है। खूबी तो यह कि उनके इस दावे का समर्थन, इसकी ताईद, जन-साधारण भी करते हैं, इसीलिये उन्हीं की बात मानी जाती है और दूसरों की हवा में मिल जाती है चाहे वे कितने ही बड़े महात्मा और पैगम्बर क्यों न कहे जायँ।

और जब पण्डित और मौलवी उस मामले में आ घुसे तो फिर लोगों को अपने ही रास्ते पर ले जायँगे। वे जो कहेंगे आमतौर से वही बात मान्य होगी। यही कारण है कि खान-पान आदि के मामले में उन्हीं की बात चलती है और ऊपर लिखी घटनायें होती हैं, होती रहेंगी। लेकिन अगर कुछ लोग ऐसा नहीं करते तो यह स्पष्ट है कि गांधी जी के हजार चिल्लाने पर भी उनके दिल में धार्मिक भाव है नहीं, उनने धर्म को कभी समझा या माना है नहीं। तब आज क्यों मानने लगे ? यदि धर्म की बात बोलते हैं तो सिर्फ जबान से ही। चाहे गांधी जी इसे मानें या न मानें। मगर यह कटु सत्य है।

२३

हमने जो कुछ पूर्व प्रसंग के अन्त में कहा है उसका स्पष्टीकरण एक दूसरी घटना से हो जाता है। एक दिन जेल के भीतर ही हमें आश्चर्य में डूबने के साथ ही बहुत तकलीफ हुई जब हमने कुछ हिन्दुओं को एक मौलवी साहब की आलोचना करते सुना। उनके बोलते बोलते कृष्ण जी को 'हजरत' कह दिया था। यही उनका महान् अपराध था। हम तो समझी न सके कि माजरा क्या है। मगर पीछे बहुत सी बातें याद आईं। उसके पहले एक सज्जन ने बोलने में जब 'दृष्टिकोण' शब्द का प्रयोग किया था तो एक मुसलमान साहब ने पूछा कि इसका मतलब क्या है? जब उनने मतलब समझाया तो मुसलमान बोले कि बोलने में भी ऐसा ही क्यों नहीं बोलते ताकि सभी लोग समझ सकें। उनका इतना कहना था कि वह हिन्दू सज्जन आपे से बाहर हो गये और तमक के कहने लगे कि हम आपके लिये या हिन्दू-मुसलिम मेल के, हिन्दुओं की संस्कृत और उनके साहित्य को चौपट न करेंगे। इस पर मामला बढ़ गया। मगर हमें उससे यहाँ मतलब नहीं है। हमें इतना कह देना है कि सचमुच ही 'दृष्टिकोण' का अर्थ आसानी से न तो आम हिन्दू जनता ही समझ सकती है और न मुसलिम लोग ही जान सकते हैं। और अगर कोई इस पर इतराज करता है तो गांधीवाद की माला जपने वाले साहित्य और हिन्दू संस्कृति के नाश का हौवा खड़ा करते हैं। हालाँकि किसानों और गरीबों की भलाई के ही लिये वे जेल आये हैं ऐसी दुहाई देते रहते हैं। मगर जरा भी नहीं सोचते कि उनकी यह भाषा कितने प्रतिशत किसान समझ सकते हैं। और जब बात ही न समझेंगे तो साथ कहाँ तक देंगे।

लेकिन अगर 'हजरत' शब्द को देखा जाय तो उस पर इसलिये उज्र नहीं हुआ कि लोग समझ न सके। हम तो देखते हैं कि बराबर ही

'आइये हजरत, हजरत की हरकत तो देखिये' आदि बोला करते हैं। यह तो मामूली बोल-चाल का शब्द हिन्दी भाषा में हो गया है। इसलिये अगर उस पर इतराज हुआ तो सिर्फ इसलिये कि कृष्ण को उनने हजरत कह दिया। यह तो गजब हो गया। वही मुसलमान अपने बड़े से बड़े *नेता को, पैगम्बर साहब को हजरत कहता है और हम लोग सुनते रहते* हैं। फिर भी जिन्हें हिन्दू अवतार मानते हैं उन्हें वही मुसलमान हजरत कहे तो आफ़त हो गई। इस बात का इससे सबूत मिलता है कि हम लोग असल में कितने गहरे पानी में हैं। इसी प्रकार 'सीता को बेगम और राम को बादशाह' कहने का भी विरोध करते हमने जेल में सुना। बाहर तो सुनते ही थे। अगर अंग्रेजी में क्वीन (Queen) और किंग (King) कहा जाय तो हमें जरा भी दर्द नहीं होता। हालाँकि इन शब्दों का मतलब वही है जो बेगम और बादशाह का। हमने यह नजारा देखा और अफ़सोस किया।

आजकल हिन्दी पढ़ने का शौक बढ़ गया है। इसीलिये जो जेल में भी यह बात देखने को मिली ज्यादातर गांधीवादी लोग ही ऐसे दिखे। यों तो तथाकथित वामपक्षी और क्रांतिकारी लोग भी इस तरह के पाये गये। हिन्दी और हिन्दुस्तानी पर विचार विमर्श भी होता रहा। कुछ लोगों ने जो अपने को राजनीतिक नेता मानते हैं, यह तय किया कि मिडिल क्लास के ऊपर तो हिन्दुस्तानी की किताबें पढ़ाई जायँ। मगर नीचे की कक्षाओं में वही 'दृष्टिकोण' वाली हिन्दी ही पढ़ाई जाय। शायद इसमें उनने एक ही तीर से दोनों शिकार मारे। हिन्दी साहित्य और हिन्दू संस्कृति भी बचा ली गई और हिन्दू-मुसलिम एकता के जरिये राजनीति की भी रक्षा हो गई। मगर वे यह समझ न सके कि यह रक्षा नकली है। इससे काम नहीं चलने का।

मैंने ऐसे एकाध दोस्तों से पूछा कि जो लोग मिडिल से आगे नहीं जा सकते उनकी राजनीति कैसे बचेगी? उनका हिन्दू-मुसलिम मेल क्यों-कर हो सकेगा? और भी तो सोचने की बात है कि अधिकांश तो मिडिल

तक ही रुक जाते हैं। बहुतेरे तो लोअर और अपर तक ही इति श्री कर लेते हैं। प्रायः नब्बे फीसदी तो पढ़ने का नाम ही नहीं जानते हैं। एक बात यह भी है कि जो जवान और बूढ़े हो चुके हैं वह यों ही रह जायँगे। उन्हें तो "काला अक्षर भैंस बराबर" है। तो फिर उनके लिये आपकी हिन्दी या हिन्दुस्तानी किस काम की ? वे लोग संस्कृति और साहित्य की रक्षा कैसे कर पायेंगे ? मगर वे चुप्प रहे। उत्तर देई न सके। विचारे देते भी क्या ?

असल बात दूसरी ही है। जहाँ मैं या मेरे जैसे कुछ लोग हर बात को 'जनता' (mass) की नजर से देखते और सोचते हैं, न कि संस्कृति और साहित्य की दृष्टि से। क्योंकि जनता को तो सबसे पहले रोटी, कपड़े, दवा आदि से मतलब है। हाँ, जब पेट भरेगा तो ये बातें सूझेंगी मगर अभी तो उनका मौका ही नहीं है। तहाँ साधारण कांग्रेसवादी—फिर चाहे वह गान्धीवादी हों या तथाकथित क्रांतिकारी और वामपक्षी—सबसे पहले साहित्य और संस्कृति की ही ओर नजर दौड़ाते हैं। और याद रहे कि इन दोनों के पीछे धर्म छिपा हुआ है। खुल के आने की या उसे लाने की हिम्मत नहीं है। इसीलिये साहित्य और संस्कृति का ढकोसला खड़ा किया जाता है। असल में न सिर्फ वे लोग मध्यम वर्गीय हैं, किन्तु उनकी मनोवृत्ति भी वैसी ही है। इसलिये मध्यम वर्ग की ही नजर से हर बात को वे लोग स्वभावतः देखते और तौलते हैं। मध्यम वर्ग का पेट तो भरता ही है। कपड़ा और दवा-दारू भी अप्राप्य नहीं हैं। फिर उन्हें साहित्य और संस्कृति न सूझे तो सूझे क्या खाक ?

मगर वे यह नहीं सोचते कि साहित्य की अगर कोई जरूरत है तो जनसमूह के लिये ही। आम लोगों को जगाना और तैयार करना ही साहित्य का काम होना चाहिये, खासकर गुलाम देश में। बिना जगे और पूरी तरह तैयार हुए जन-साधारण आजादी की लड़ाई में भाग क्योंकर ले सकते हैं ? और आजाद हो जाने पर भी उन्हें ही ऊपर उठाना और आगे ले चलना जरूरी है। नहीं तो दुनिया की घुड़दौड़ में हमारा मुल्क पीछे

पड़ जायगा। जब तक समूचे देश के बाशिन्दों की शारीरिक और मानसिक उन्नति नहीं हो जाय तब तक देश पिछड़ा का पिछड़ा ही रह जायगा। इसलिये उस समय भी साहित्य का निर्माण आम लोगों की ही दृष्टि से होना चाहिये। मुट्ठी भर मध्यवर्गीय लोग साहित्य पढ़-पढ़ाके क्या कर लेंगे? उनसे तो कुछ होने जाने का नहीं, जब तक किसान, मजदूर और अन्य श्रमजीवी उनका साथ न दें। इसीलिये हर हालत में साहित्य की असली उपयोगिता शोषित जनता के ही लिये है। मगर "दिवस का अवसान समीप था, गगन था कुछ लोहित हो चला। तरुशिखा पर थी तब राजती, कमलिनी कुल वल्लभ की प्रभा", या "पूर्वजों की चरित चिंता की तरंगों में बहो" जैसे साहित्य को, जिस पर मध्यम वर्गीय बाबुओं को नाज है और जिसके ही लिये हिन्दी हिन्दुस्तानी की कलह खड़ा करके आकाश-पाताल एक कर रहे हैं, कितने किसान या मजदूर समझ सकते हैं? यही हालत है "नहीं मिन्नतकशे तावे शुनीदन दास्ताँ मेरी। खमोशी गुफ़्तगू है वे ज़बानी है ज़बां मेरी" की भी। दोनों ही साहित्य, जिनके लिये हिन्दू और मुसलिम के नाम पर माथाफुड़ौवल हो रही है, किसानों और मज़दूरों से, कमाने वालों से, आम जनता से लाख कोस दूर हैं।

मगर इससे क्या? मुट्ठी भर मध्यवर्गीय लोग तो इन्हें समझते ही हैं। बाकियों की फिक्र उन्हें हुई कहाँ? असल में साहित्य की ओट में संस्कृति छिपी है और उसकी आड़ में धर्म बैठा है, जिनका उपयोग आम जनता को उभाड़ने में किया जाकर मुट्ठी भर बाबुओं और सफेदपोशों का उल्लू सीधा किया जाता है। जब तक संस्कृति और धर्म, तमद्दुन और मजहब के नाश का हौवा ये मध्यम वर्गीय लोग खड़ा न करें किसान मजदूर उनके चकमे में आ नहीं सकते और बिना इसके काम बनने का नहीं। आखिर आम हिन्दुओं और मुसलमानों के नाम पर ही तो इन्हें नौकरियाँ लेना, सीटों का बँटवारा करना और पैक्ट या समझौता करना है। सीधे लोगों की धार्मिक भावनाओं को उत्तेजित करके, उन्हें उभाड़ कर ही ये काइयाँ लोग अपना काम बना लेते हैं, हालाँकि ऊपर से पक्के बगुला भगत बने

रहते हैं। गरीबों के नाम पर ऐसा आँसू बहाते हैं कि कुछ पूछिये मत।

जैसा कि कह चुके हैं, साहित्य का काम है आम लोगों को जाग्रत करना, तैयार करना और उनकी मानसिक उन्नति करना, जिससे सच्चे नागरिक बन सकें। साहित्य का दूसरा काम है नहीं। थोड़े से लोगों का मनोरंजन करना या उन्हें काल्पनिक संसार में विचरण करने का मौका देना यह काम साहित्य का नहीं है। पुराने साहित्यकारों ने उसका लक्षण करते हुए साफ ही कहा है कि दिमाग पर ज्यादा दबाव न डाल कर और इसीलिये सुकुमार मस्तिष्क वालों के लिये भी बातें सुगम बनाने वाला ही ठीक साहित्य है। इसीलिये पढ़ते या सुनते जाइये और बिना दिक्कत मतलब समझते जाइये। जहाँ समझने में विशेष दिक्कत हुई कि वह दूषित साहित्य हो गया। बातें जो सरस बना के कही जाती हैं उसका मतलब यही है कि वे आसानी से हृदयंगम हो जायें।

इस दृष्टि से तो जन-साधारण के लिये सुलभ और सुगम साहित्य तैयार करने के दो ही रास्ते हैं। या तो वह ऐसी भाषा में लिखा जाय जो बचपन से हम बोलते और सुनते हैं, जिसे मातायें और बहनें बोलती आ रही हैं। या अगर यह न हो सके या इसमें बड़ी कठिनाई हो तो ऐसी खड़ी बरेली वाली भाषा तैयार की जाय जिसे सभी देहाती—हिन्दू-मुसलमान बेखटके समझ सकें। "इस दृष्टि बिन्दु को सम्मुख रखके यदि हम पर्यावेक्षण करते हैं तो मर्मान्तिक वेदना होती है", या "पहाड़ों की चोटियाँ गोशे सहाब से सरगोशियाँ कर रही हैं", को कौन सी आम जनता समझती है, समझ सकती है? हिन्दी और उर्दू के नामी लिक्खाड़ चाहे खुद कुछ समझें। मगर उनकी बातें आम लोगों के लिये वैसी ही हैं जैसा बन में पका बेल बन्दरों के लिये। न तो उनकी हिन्दी समझ सकती है हिन्दू जनता और न उर्दू मुसलिम जनता। फिर हिन्दी को मुसलिम या उर्दू को हिन्दू जन समूह क्योंकर समझ पायेगा? या तो सिर्फ "लिखें ईसा, पढ़ें मूसा" जैसी कुछ बात है। वे लोग खुद लिखते और खुद ही समझते हैं, या ज्यादे से ज्यादा उन्हीं जैसे कुछ इने-गिने लोग। मगर वह लोग

जनता नहीं है। वह तो निराले ही हैं यह याद रहे।

इसीलिये अगर बिहार में हम ऐसा साहित्य बनाना चाहते हैं, तो या तो भोजपुरी, मगही, मैथिली, बंगाली, संथाली और उरांव आदि भाषाओं में ही जुदे जुदे इलाकों के लिये अलग अलग साहित्य रचें या हिन्दी और उर्दू मिलाके एक ऐसी सरल भाषा बना दें जो सभी समझ सकें। हिन्दी-उर्दू मिलाने से हमारा मतलब है संस्कृत शब्दों की भरमार वाली हिन्दी और अरबी-फ़ारसी के शब्दों से लदी उर्दू की जगह सरल और सबके समझने लायक़ भाषा तैयार करने से। दृष्टान्त के लिये 'अज़ीज़म्' या 'अज़ीज़मन' और 'प्रियवर' या 'प्रिय मित्र' की जगह "मेरे प्यारे दोस्त" या "मेरे प्यारे भाई" वग़ैरह लिखें तो कितना सुन्दर हो और काम चले। जरूरत होने से नये नये शब्दों को भी या तो गढ़ के या दूसरी तरह से प्रचार करते जायँगे।

जो लोग 'हजरत' आदि शब्दों को देख-सुन के चिहुँकते हैं उन्हें याद रखना चाहिये कि हमने, हमारी हिन्दी ने और हमारी जनता ने अरबी-फ़ारसी के हजारों शब्दों को हजम करके अपने को मजबूत बनाया है। इतने पर भी अभी यह भाषा अधूरी सी लगती है। अगर हजारों शब्दों को अपने में मिलाये न होती तो न जानें इसकी क्या हालत होती। हाज़िरी, मतलब, हिफ़ाजत, हाल, हालत, फ़ुर्सत, क़सूर, दावा, मुद्दई, अर्ज़, गर्ज़, तक़दीर, असर, ज़रूरत, फसल, रबी, खरीफ, क़ायदा, कानून, अदालत, इन्साफ़, तरह, सदर, दिमाग़, ज़मीन, वग़ैरह शब्दों को नमूने की तरह देखें तो पता चलेगा कि ये और इनके जैसे हजारों शब्द ठेठ अरबी और फ़ारसी के हैं। मगर इन्हें बोलते और समझते हैं न सिर्फ हिन्दी साहित्य वाले, बल्कि बिल्कुल देहात में रहने और पलने वाले गँवार किसान और मज़दूर भी। समय समय पर इनने और हमने इन्हें हजम करके अपने को मजबूत और बड़ा बनाया है। इससे हमारी संस्कृति बिगड़ने के बजाय सुधरी है, बनी है। वह कोई छुईमुई नहीं है कि हजरत, बेगम और बादशाह वग़ैरह बोलने से ही खत्म हो जायगी। यह भी हमारी

नादानी है कि सीता को बेगम और राम को बादशाह कहने से नाक-भौं सकोड़ते हैं। तुलसीदास तो श्रीराम जी को अवतार मानते थे। वह उनके और जानकी जी के अनन्य भक्त थे। मगर अपनी रामायण में उनने "राजा राम जानकी रानी" लिखा है। ये हिन्दी के श्रेष्ठ साहित्यकार माने जाते हैं। उन्हें राजा और रानी कहने में तो जरा भी हिचक न हुई। आज तक हमारे हिन्दी-साहित्य-सेवियों ने भी इस बारे में अपनी जबान न हिलाई। मगर राजा की जगह बादशाह और रानी की जगह बेगम कहते ही तूफ़ान सा आ गया। क्या इसका यह मतलब है कि अब हिन्दी की भी शुद्धि होगी? उसमें से पूर्व बताये हजारों शब्दों को गर्दनियाँ देके निकाला जायगा क्या? अगर ऐसा है तो "खुदा हाफ़िज़।"

बात तो साफ साफ कहना चहिये। असल में राष्ट्रवादी लोग अधिकांश मध्यम श्रेणी के ही हैं। उनमें भी जो आज खांटी कांग्रेसी या गांधीवादी कहे जाते हैं वह तो गिन गिन के मध्यम वर्गीय हैं, मिडिल क्लास के हैं। वे चाहे अपने को हजार बार कहें कि वे न तो हिन्दू हैं और न मुसलमान, किन्तु हिन्दुस्थानी, पहले हिन्दुस्थानी और पीछे हिन्दू या मुसलमान। मगर दरअसल हैं वे पहले हिन्दू या मुस्लिम और पीछे हिन्दुस्थानी या राष्ट्रवादी। इसका प्रमाण उनकी सँभली सँभलाई बातों से न मिलके उनके कामों और अचानक की बातों से मिल जाता है। यह हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्थानी का झगड़ा इस बात का जबर्दस्त सबूत है। जब वह लेक्चर देने बैठते हैं तो उनकी तकरीर इस बात की गवाही देती है कि वे क्या हैं। उनकी बातें आम लोग समझते हैं या नहीं इसकी उन्हें जरा भी फिक्र नहीं रहती है। वे तो धड़ल्ले से बोलते चले जाते हैं, गोया उनकी बातें सुनने वाले सभी लोग या तो पण्डित या मौलवी हैं। उनने आलिम-फाजिल या साहित्य-सम्मेलन की परीक्षायें पास कर ली हैं। यदि वे ऐसा नहीं मानते तो लच्छेदार संस्कृत या फ़ारसी के शब्दों को क्यों उगलते जाते?

अगर हिन्दुस्थानी कमिटी अपनी किताबों में कुछ उर्दू 'फ़ारसी के

शब्द नये सिरे से डालती है या पंजाब के हिन्दू लोग उर्दू में संस्कृत के शब्द घुसेड़ते हैं तो उनका कलेजा कहने लगता है कि हाय हिन्दी चौपट हुई, उर्दू बर्बाद हुई! साहित्य चौपट हुआ! संस्कृति मटियामेट हो गई! मालूम होता है अब हिन्दी को अजीर्ण हो गया है, या उसकी पाचन-शक्ति ही जाती रही है। यही हालत उर्दू की भी है। हमें आश्चर्य तो इस बात का है कि यही लोग मुल्क को आजाद करने का बीड़ा उठाये हुए हैं। हिन्दू-मुसलिम मेल की हाय-तोबा भी यही सज्जन बराबर मचाते रहते हैं। अगर कहीं हिन्दू-मुसलिम दंगा हो गया तो हिन्दू-मुसलिम जनता को भर पेट कोसने में थकते भी नहीं। लेकिन कभी भी नहीं सोचते, सोचने का कष्ट उठाते कि इन सब अनर्थों की जड़ उनकी ही दूषित मनोवृत्ति है। 'मुख पर आन, मन में आन' वाला जो उनका रवैया है उसीके चलते ये सारी चीज़ें होती हैं। सभी बातों में भीतरी दिल से हिन्दूपन और मुसलिमपन की छाप लगाने की जो उनकी वाहियात आदत है उसीके चलते ये सारी बातें होती हैं। अपने को चाहे वह हजार छिपायें। फिर भी उनका जो यह हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्थानी का झमेला है वही उनकी असलियत को जाहिर कर देने के लिये काफी है।

इस कहने से मेरा यह मतलब हर्गिज नहीं कि मैं हिन्दुस्थानी कमिटी की या दूसरों की सारी बातों का समर्थन करता हूँ। मैं कृत्रिम या बनावटी भाषा का सख्त दुश्मन हूँ और मुझे डर है कि हिन्दुस्थानी कमेटी कहीं ऐसी ही भाषा न गढ़ डाले। असलियत तो यह है कि मुझे उनकी किताबें वग़ैरह पढ़ने का मौका ही नहीं मिलता। हाँ, कभी कभी कुछ बातें सामने खामखाह आई जाती हैं। इसलिये उनकी जानकारी निहायत जरूरी हो जाती है। मगर अखबारों में जो बातें इस सिलसिले में बराबर निकलती रहती हैं और कुछ दोस्तों से भी जो कुछ सुनता रहता हूँ उसीके आधार पर मैंने यह निश्चय किया है। मैंने देखा है कि इन झगड़ों के पीछे दूसरी ही मनोवृत्ति काम कर रही है। इसलिये हमें सभी जगह और ही चीज़ें दीखती हैं। अगर मनोवृत्ति ठीक हो जाय तो हिन्दी हिन्दुस्थानी के

झगड़े फौरन मिट जायँ या कम से कम उनके मिटने का रास्ता तो जरूर ही साफ हो जाय।

मगर इस हिन्दी और हिन्दुस्थानी के झमेले में हमें बड़ा खतरा नजर आ रहा है। अभी तो यह सिर्फ सफेदपोश बाबुओं के ही बीच होने के कारण उन्हीं की चीज है। मगर अन्देशा है कि वे लोग किसानों और मजदूरों के भीतर इसे फैलायेंगे। शिक्षा का सम्बन्ध ज्यादातर इन्हीं के हाथ में है। फलतः वे इसी साँचे में सबों को ढालना चाहेंगे ही। वैसी ही किताबें, वैसे ही लेख, वैसे ही अखबार तैयार होंगे जनता को पढ़ाने के लिये। अधिक कोशिश इस बात की होगी कि यह जहर देहातों में और मजदूरों के इलाकों में फैले। जो जिस चीज को पसन्द करता है वह उसे ही सर्वप्रिय बनाना चाहता है। इसलिये इसका नतीजा सीधे धार्मिक झगड़ों के मुकाबिले में और भी बुरा होगा। क्योंकि यह जहर राजनीति की गोली के साथ लोगों के भीतर घुसेगा। आज तो राजनीति हमारे जीवन का प्रधान अंग बन गई है। और अगर उसीके साथ यह झगड़ा हमारे किसानों तथा मजदूरों के भीतर घुसा, तो गज़ब हो जायगा। क्योंकि धार्मिक अन्धता को घुसाने का नया तरीका और नया रूप यही हो जायगा। फिर तो हम हमेशा कट मरेंगे। अतएव हमें अभी से इसके लिये सजग हो जाना होगा, ताकि इस साँचे में हमारी जनता का भावी जीवन ढलने न पाये।

हमें ताज्जुब है कि यह बात क्यों हो रही है। भाषा का विकाश तो नदी के विस्तार की तरह होता है। जैसे नदी खुद ही आगे बढ़ती जाती है। वह अपना रास्ता खुद बना लेती है। हम हजार चाहें, मगर वह हमारी मर्जी के मुताबिक कभी नहीं चलती। तभी उसका फैलाव काफी होता है। भाषा की भी यही हालत होती है। आज अंग्रेजों के संसर्ग से हम अपनी भाषा में कितने ही शब्दों को घुसाते जा रहे हैं। प्रोग्राम, कमिटी, कान्फ्रेंस आदि शब्द हमने अपना लिये हैं। कांग्रेस और मिनिस्ट्री शब्द हमारी जबान पर हमेशा ही मौके ब मौके पाये जाते हैं। देहाती लोग भी

इन्हें समझते और बोलते हैं। लालटेन और रेल शब्द गोया हिन्दी भाषा के ही हों ऐसे मालूम पड़ते हैं। हमें पता ही न चला कि हम इन्हें हजम कर रहे हैं। सभा की जगह मीटिंग कहना हमें अच्छा लगता है। ठीक इसी प्रकार मुसलमानों के जमाने में हमने फ़ारसी और अरबी शब्दों से अपनी भाषा का खजाना भरा है। तब आज हिचक कैसी?

आज जिस खड़ी बोली में साहित्य तैयार करने पर हम तुले बैठे हैं आखिर वह भी तो यों ही धीरे धीरे बनी है, बनती जा रही है। संस्कृत, पाली या प्रकृत को यह रूप धीरे धीरे मिला है हजारों साल के बाद। इसी तरह अरबी या फ़ारसी को उदू की शकल मिली है। विकास तो संसार का नियम ही है। हिन्दी और उदू के सम्मिश्रण से जो नई भाषा तैयार होगी वही हमारी जरूरत को पूरा कर सकेगी। उसीके सहारे यह मुल्क आगे बढ़ेगा। हम हजार चिल्लायें और छाती पीटें। मगर यह बात होके रहेगी। फिर समय रहते ही हम क्यों न चेत जाँय और इसी काम में मददगार बन जायें। यह जो नाहक का बवन्डर हम खड़ा कर रहे हैं उससे हाथ तो खिंच जाय। भाषा हमारे लिये है, न कि हमीं भाषा के लिये हैं। लेकिन हमारी आपसी तू तू, मैं मैं, में कहीं हमीं पिछड़ न जायँ, मिट न जायँ, यह सोचने की बात है।

आज तो पशु-पक्षियों और पेड़-पौदों में सम्मिश्रण के जरिये नई नई नसलें पैदा की जा रही हैं जो हमारी बढ़ती हुई जरूरतों को पूरा कर रही हैं। पुराने पशु-पक्षी और पेड़-पौदे इस बात के लिये नाकाबिल सिद्ध हो चुके हैं कि अब हमारी जरूरतों को पूरा कर सकें। इसीलिये इस युग को 'क्रासब्रीड्स' (cross-breeds) का युग कहते हैं। यही बात हमारी भाषा के बारे में क्यों न लागू हो? आज हजार यत्न करके भी लैटिन को प्रचलित नहीं कर सकते हैं। वह पुरानी पड़ गई है। इसी प्रकार संस्कृत, अरबी और फारसी की माया आम जनता के लिये हमें छोड़ देना होगा। सो भी आधे मन से नहीं, सच्चे दिल से। खामखाह संस्कृत और अरबी-फारसी के नये नये शब्दों को ढूँढ़ या गढ़ के सार्वजनिक भाषा की

तोंद फुलाना उसके लिये बलगम का काम करेगा। हमारा दिमाग उसके बजाय ऐसे शब्दों के ढूँढ़ने में और बनाने में लगना चाहिये जिन्हें सभी जाति और धर्म के जन-साधारण आसानी से समझ सकें। इस प्रकार जो साहित्य तैयार होगा वही हमारा उद्धार करेगा, वही हमारे असली काम का होगा। नहीं तो मध्यम वर्गीय मनोवृत्ति हमें जाने कहाँ उठा फेंकेगी। मगर इसीके साथ हमें याद रखना होगा कि भाषा का स्वाभाविक विकास हो और उसमें कृत्रिमता आने न पावे। नदी के प्रवाह का दृष्टान्त देही चुके हैं। जैसे शरीर में मांस वृद्धि होती है वैसे ही बाहरी शब्द भाषा में लटके रहें यह बुरा है। अन्न-पानी को जैसे शरीर हजम करता है वैसे ही शब्दों को भाषा खुद हजम कर ले तभी ठीक होगा।

कांग्रेसी मंत्रि-मंडल के जमाने की बात है। भरसक सन् १९३८-३९ की दास्तान है। युक्तप्रान्त में पन्त जी की मिनिस्ट्री थी। गांधी जी अहिंसा की बात बार बार कहते हैं। अब तो और भी ज्यादा जोर देने लगे हैं। कांग्रेस ने अहिंसा को ही अपना सिद्धान्त रखा है यह बात भी वह कहते ही जाते हैं। मगर कांग्रेसी वजारतों के जमाने में बम्बई और कानपुर में मजदूरों पर जो गोलियाँ चली, लाठीचार्ज हुए और बम्बई में तो आँसू बहाने वाले बम भी चलाये गये, न जाने अहिंसा की परिभाषा के भीतर ये बातें कैसे समा जाती हैं। नागपुर में जब श्री मंचेरशाह अवारी अस्त्र ग्रहण के लिये सत्याग्रह कर रहे थे तो गांधी जी ने यह कहके उसका विरोध किया था कि सशस्त्र सत्याग्रह कैसा? जब शस्त्र लेके चलियेगा तो अहिंसा मूलक सत्याग्रह संभव नहीं। सत्याग्रह और शस्त्र ग्रहण ये दोनों परस्पर विरोधी बातें हैं। इसलिये यह चीज बन्द होनी चाहिये। हमारे दिमाग में तो उनकी यह दलील उस समय भी समा न सकी थी। इस समय तो और भी नहीं समाती। सिर्फ शस्त्र लेकर चलने से हिंसा कैसे होगी? जब उसे नहीं चलाने का प्रण कर लिया तो फिर हिंसा का क्या सवाल? नहीं तो फिर अकाली सिख कभी सत्याग्रही होई नहीं सकते। क्योंकि वे तो कृपाण के बिना एक मिनट रही नहीं सकते। मगर गांधी जी ने उन्हें भी बार बार सत्याग्रह में भर्त्ती किया है। लेकिन जब यह बात है तो फिर लाठी, गोली और बम चलवाके भी कांग्रेसी मंत्रिगण अहिंसक कैसे रह गये? और अगर नहीं रहे तो गांधी जी ने उनका विरोध न करके समर्थन क्यों किया? उनके इन कामों पर उनने मुहर क्यों लगा दी? इसीलिये हमें तो उनकी अहिंसा अजीब घपला मालूम होती है।

यही कारण है कि उनके अहिंसक अनुयायी उन्हें खूब ही ठगते हैं।

मजा तो यह है कि गांधी जी यह बात न तो समझते और न मानते हैं। मुझे तो उनके और उनके प्राइवेट सेक्रेटरी श्री महादेव देसाई के क्रोध और डाट-फटकार का शिकार केवल इसीलिये बनना पड़ा है कि मैं यह बातें साफ बोलता हूँ और काम भी वही करता हूँ जो बाहर-भीतर एक रस हो। किसानों को भी यही सिखाता हूँ कि जाब्ता फौजदारी के अनुसार अपनी और अपनी जायदाद वगैरह की हिफाजत के लिये उतनी हिंसा भी कर सकते हो जितनी जरूरी हो जाय। मैं किसानों या आप लोगों को पहले से ही मिला यह कानूनी हक छोड़ने और छुड़वाने के लिये किसी भी हालत में तैयार नहीं हूँ। इसीलिये सन् १६३८ वाली हरिपुरा की कांग्रेस से पहले हरिजन में श्री महादेव देसाई ने मेरे खिलाफ लम्बा लेख भी लिखा था जिसका उत्तर मुझे देना पड़ा। मगर यह जान के मुझे निहायत ताज्जुब हुआ जब कि ठीक उसी समय हरिपुरा जाते हुए मध्य प्रान्त में दौरे के लिये वर्धा जाने पर और अहिंसा के अवतार श्री विनोबा भावे से बातें करने पर पता चला कि किसान-सभा के बारे में हिंसा का निश्चय करने के पहले उन लोगों ने सारी बातें जानने की कोशिश तक न की थी।

उन्हीं के आश्रम में श्री विनोबा जी से मेरी घंटों बातें होती रहीं। हरिजन में वह लेख ताजा ही निकला था। इसलिये बातचीत का विषय वही बात थी। वे लोग वास्तविक दुनिया से कितने कोरे हैं इसकी जानकारी मुझे वहीं हुई। किसान-सभा के किसी कार्य-कर्त्ता ने कोई बात हिंसा-अहिंसा के बारे में कही या न कही। मगर गांधी जी के भक्तों ने उनके पास रिपोर्ट पहुँचा दी और उनने उसे ध्रुव सत्य मान लिया। दूसरों को तो हजार बार कहते हैं कि पूरी जाँच के बाद ही बातें मानो। सचाई का पता लगाओ। मगर मेरे बारे में यह इलजाम लगाने के पहले उनने मुझसे एक बार पूछना तक उचित न समझा। किसान-सभा पर भी यही दोषारोपण किया गया। लेकिन सभा को सफाई देने का मौका तक न दिया गया। यह है गांधी जी का न्याय! यह है उनका सत्य! न सिर्फ़ उनने निश्चय कर लिया बल्कि अपने संगी-साथियों के दिमाग में इसे भर दिया।

जब मुझसे श्री विनोबा जी ने ये बातें पूछीं तो मैंने ऐसा जवाब दिया कि वे अवाक् हो गये। मैंने सबूत में पक्का प्रमाण पेश करने को भी कह दिया कि इलजाम निराधार हैं। मैंने कहा, कि मैंने जिस हिंसा का आश्रय लिया है वह न सिर्फ कानून के भीतर है, प्रत्युत गांधी जी ने भी वैसी हिंसा का उपदेश बराबर किया है। फिर मैंने देसाई के आक्षेप का लिखित उत्तर भी उन्हें दिखाया। और भी बातें होती रहीं। अन्त में उनने यही कहा कि इस बारे में क्या गांधी जी से आपकी बातें हुई हैं? मैंने उत्तर दिया कि नहीं। तब उनने कहा कि बातें जरूर करें। मगर मैंने यही कहके टाल दिया कि मौका मिलेगा तो देखूँगा। मैंने वह भी कह दिया कि जो लोग यों ही एकतरफा बातों से निश्चय कर लेते हैं उनसे बातें करके होगा ही क्या? फिर भी बातें करने पर उनने बहुत जोर दिया। मगर मुझे मौका ही कहाँ था? मुझे तो शाम को वर्धा के सोशलिस्ट चौक में एक अच्छी मीटिंग करके आगे बढ़ना था।

लेकिन यहाँ पर मुझे गांधीवादी नेताओं की अहिंसा के दो सुन्दर नमूने पेश करने हैं। पन्त मिनिस्ट्री के समय इलाहाबाद में बड़ा सा दंगा हो गया था। बड़ी सनसनी थी। तूफान भी काफी मचा था। उस समय गांधी जी के सिद्धान्त के अनुसार कांग्रेस के प्रमुख लोगों का यह फर्ज था कि अपनी जान को जोखिम में डाल के भी दंगे को शान्त कर, ठीक उसी तरह जिस तरह सन् १९३१ ई० वाले कानपुर के दंगे में स्वर्गीय श्री गणेशशंकर विद्यार्थी ने किया था। ऐसे ही मौके गांधी जी और कांग्रेस की अहिंसा की परीक्षा करते हैं। गांधी जी का जोर भी यही रहता है कि ऐसे समय कांग्रेसी नेता निडर होके हिन्दू-मुसलिम महल्लों में जायँ और उन्हें ठंडा करें। नियमानुसार इलाहाबाद का दंगा उन नेताओं की बाट देख रहा था। खुशकिस्मती से वहीं पर स्वराज्य-भवन में आलइंडिया कांग्रेस कमिटी का आफिस भी था। अब भी है। उसके जेनरल सेक्रेटरी आचार्य कृपलानी वहीं मौजूद थे, दूसरे बड़े लोग भी।

मगर उनने क्या किया? मेरे दो मुसलिम साथी जो किसान-सभा

और मजदूर आन्दोलन में खासी दिलचस्पी लेते हैं और जो अच्छे पढ़े-लिखे हैं, वहां थे। जब दंगा शुरू हो गया तो वे स्वराज्य-भवन में फौरन गये और बड़े नेताओं से कहने लगे कि आइये चलें और शहर में घूम के लोगों को समझावें बुझावें, उन्हें ठंढा करें। चाहे वे ठंढा हों या न हों। मगर हम लोग कोशिश तो करें। हमारे एक मुसलिम दोस्त टाउन कांग्रेस कमिटी के सभापति थे। इसलिये उन्हें अपना फर्ज भी अदा करना था। मगर उन नेताओं में एक सबसे बड़े नेता ने, जिनका नाम लेना मैं उचित नहीं समझता, मगर जो अखिल भारतीय नेता हैं और गांधी जी का ढोल आज भी मुल्क में घूम घूम के पीटते हैं, चटपट यह कह डाला कि "ऐं, घूमने चलें ? यह क्या बात है ? यह नादानी कौन करे ? क्या बिगड़े दिमाग लोग हमें पाने पर सोचेंगे कि नेता हैं ? हमें वहीं खत्म न कर देंगे ? मैं तो हर्गिज नहीं जाता। आप लोग भी मत जायें।" और फौरन पन्त जी के पास लखनऊ फोन करने लगे कि मिलिटरी भेजें। नहीं तो खैरियत नहीं। हमारे मुसलिम जवान साथी को उनकी इस बात पर ताज्जुब हुआ। हैरत भी हुई। मगर वे तो अपना फर्ज अदा करने चली पड़े। भला वे नेता की बात क्यों सुनते ? जो कुछ उनसे बन सका घूम-घूम के किया भी। हिन्दू-मुसलिम सभी महल्लों में निडर होके घूमते रहे।

पीछे मुलाकात होने पर उनने अहिंसा की ही चर्चा के सिलसिले में यह अजीब दास्तान मुझे सुनाई। वे गांधीवादियों की अहिंसा पर हँसते थे। मैं भी हँसता था। हम किसान-सभा वाले तो गांधी जी के दर्बार में काफी बदनाम हैं कि कांग्रेस के वसूलों की पाबन्दी नहीं करते। साथ ही, जो नेता साहब और उनके साथी न सिर्फ दुम दबा के ऐन मौके पर सटक रहे, बल्कि हथियारबन्द पुलिस और फौज की गोलियों और संगीनों से दंगे को शान्त करने के लिये श्री पन्त जी पर बार बार जोर देते रहे, उन्हें गांधी जी का ऐसा दवामी सर्टिफिकेट अहिंसा के बारे में मिल चुका है कि कुछ पूछिये मत। अगर ऐसी ही टूटी नाव पर चढ़के न सिर्फ गांधी जी खुद पार होना चाहते हैं, बल्कि सारे मुल्क को भी पार ले जाना चाहते हैं तो उन्हें

मुबारक हो। किसान-सभा वाले अगर गांधी जी की अहिंसा को नहीं मानते तो उन्हें साफ कह तो देते हैं। मौके पर अमली तौर से धोखा तो नहीं देते। बल्कि ईमानदारी से जहाँ तक होता है उसके अनुसार काम करते हैं।

इसी सम्बन्ध की एक दूसरी घटना बिहार की है। बिहार पर और खासकर उसकी अहिंसा पर गांधी जी को नाज़ है। अकसर वे इस बात को लिखते और कहते रहते हैं। मगर बिहार के नामी-गरामी नेता लोग कहाँ तक अहिंसा को मानते और गांधी जी को कितना धोखा देते हैं इसका ताजा नमूना हाल के बिहार शरीफ वाले दंगे में मिला है। इसका पता हमें जेल में ही लगा है जब कि पटना जिले के एक कांग्रेसी साथी जेल में हाल में ही आये हैं। उनने आप बीती हमें एक दिन सुनाई। उनका और जिन नेताओं से उन्हें साबका पड़ा उनका नाम लेना ठीक नहीं।

बिहार शरीफ में हिन्दू-मुसलिम दंगा शुरू हो जाने के बाद सदाकत आश्रम के दो बड़े नेता, जो न सिर्फ प्रान्तीय कांग्रेस के ऑफिस के चलाने के लिये बहुत पुराने जवाबदेह आदमी माने जाते हैं, बल्कि खांटी गांधी-वादी भी हैं, मोटर पर चढ़के बिहार शरीफ जाने के लिये तैयार हुए। उनमें एक हिन्दू है और एक मुसलमान। उनने सोचा कि पटना जिले के किसी हिन्दू कार्यकर्त्ता को भी साथ ले लें तो ठीक हो। संयोग से हमारे वे कांग्रेसी साथी वहीं थे। बस, हुक्म हुआ कि साथ चलना होगा। साथी को सारी बातें मालूम थीं। उनने कहा कि मेरे पास रिवाल्वर तो है नहीं। मैं कैसे चलूंगा? याद रहे कि हमारे साथी सत्याग्रह करके जेल आये हैं। उनने फिर कहा कि अगर मुझे भी आप लोग एक रिवाल्वर दें तो साथ चलने को तैयार हूँ। इस पर लीडरों ने कहा कि आप हम दोनों के बीच में हमारी ही मोटर पर बैठ के चलिये। हम जो अलग मोटर पर पीछे पीछे चलने को कहते थे वह इसीलिये कि आपके पास रिवाल्वर है नहीं। मगर अगर आप इसके लिये तैयार नहीं हैं तो हमारे बीच में बैठ के हमारी ही मोटर पर चलिये। मगर इस पर भी साथी तैयार न हुए। तब उनसे कहा गया

कि आपके घरवालों के पास बन्दूक तो हई। उसे ही लेकर चलिये। इस पर साथी ने उत्तर दिया कि बन्दूक लेके चलना तो और भी बुरा है। मैं ऐसा न करूँगा।

इस पर हार मान के दोनों नेता रवाना हो गये। साथी ने कहा कि मुझे तो मालूम था ही कि उन दोनों के पास एक एक रिवाल्वर था। दोनों रिवाल्वर किसी नवाब साहब के यहाँ से उनने मँगाये थे। मैं उनमें से एक माँगता था। मगर वे लोग इसके लिये तैयार न थे। उनने साफ कह भी दिया कि दोई तो रिवाल्वर हैं और हम दो खुद्दी जा रहे हैं। फिर आपको कैसे दें? खूबी यह कि रिवाल्वर लेके जाने पर भी वे लोग बिहार शरीफ में घुस न सके। जहाँ कांग्रेसियों का गिरोह था वहीं गये और दल के साथ ही इधर-उधर आये गये।

कितना सुन्दर नमूना गांधी जी की अहिंसा का है। आज तो जगह जगह कांग्रेसी नेता शान्तिदल बना रहे हैं जिसका काम ही है कि हिंसा करने वालों के बीच जाके उन्हें समझाना और शान्त करना। उन्हें न तो हथियार रखना होगा और न जान की पर्वा करनी होगी। इस बात की प्रतिज्ञा शान्तिदल वाले करते हैं। मगर जब उनके नेताओं की यही दशा है तो बाकियों का क्या कहना? पाकेट में रिवाल्वर लेके शान्तिदल का काम करना अजीब चीज है। फिर भी इस पाखंड को गांधी जी समझें तब न? यदि मैं रहता तो जरूर बन्दूक लेके चलता और धीरे से लोगों को इशारा कर देता कि देखिये हमारी अहिंसा!

२५

सन् १९३७ ई० की जनवरी का महीना था। फैजपुर कांग्रेस से हम ताज़े ताज़े वापिस आये थे। असेम्बली-चुनाव की तारीखें सर पर थीं। जल्दी जल्दी एक बार पटना जिले का दौरा ऐन चुनाव से पहले कर लेना था। मेरे साथ कांग्रेस के दूसरे भी नेता उस दौरे में शरीक थे। बख़्तियारपुर में एक मिटिंग करके बिहार शरीफ जाना था। शाम को वहीं मिटिंग थी। इस दर्म्यान हरनौत थाने वालों का हठ था कि रास्ते में ही यह जगह है और ऐन सड़क पर ही। इसलिये यहाँ भी एक सभा जरूर हो ले। हमने इसकी मंजूरी दे दी थी। लोगों ने मीटिंग की तैयारी खासी कर ली थी। मगर हमारे विरोधी भी चुप न थे। वह इलाका ज्यादातर उन लोगों का है जिन्हें कुर्मी, कुर्मवंशी आदि कहते हैं। और जातियों की अपेक्षा कुर्मी लोग उधर ज्यादा बसते हैं। चुनाव के जमाने में बदकिस्मती से जाति-पाँति की बातें खूब चलती हैं। मगर वहाँ तो एक और भी वजह थी जिससे ये बातें तेज हो गईं।

बख़्तियारपुर बाढ़ सब-डिविजन में पड़ता है और उससे दक्षिण बिहार सब-डिविजन है। कांग्रेस के भीतर ही बाढ़ और बिहार की सीटों को लेकर तनातनी चलती रही। बाढ़ के ही एक कुर्मी सज्जन, जो वकील हैं, चुने जाने के लिये बहुत ही लालायित थे। मगर कांग्रेसी नेताओं ने जब किसी कारण से उन्हें बिहार के लिये नामजद करना चाहा था तो वे तैयार न हुए और भीतर ही भीतर उनने गुटबन्दी ऐसी कर ली थी कि बिहार से एक गैर कांग्रेसी कुर्मी चुन लिये जायँ। तैयारी ऐसी थी कि ऐन मौके पर कोई गलती जान-बूझ के कर दी जाय और दूसरा होने न पाये। इसीलिये उनने पीछे कबूल कर लिया था कि अच्छा, मैं बिहार की ही सीट से तैयार हो जाता हूँ। फिर भी भीतर ही भीतर तैयारी कुछ और ही

थी। उनकी बदबख्ती से ठीक नामिनेशन के ही समय उस तैयारी का पता चल जाने के कारण उनका नामिनेशन कांग्रेस की तरफ से दाखिल न किया जाके एक और कुर्मी सज्जन का ही दाखिल किया गया। इससे कुर्मी समाज में कुछ खलबली मची। क्योंकि चुनाव को लेके उस जाति के भीतर ही दो दल हो चुके थे। कांग्रेस विरोधी कुर्मी सज्जन का भी नामिनेशन दाखिल हुआ था। उनका असर उस इलाके में ज्यादा था।

जिला कांग्रेस कमिटी का सभापति भी मैं ही था। किसान-सभा की तो बात थी ही। विरोधी लोग जीत जाते अगर मैं जरा भी उदासीन हो जाता। इसकी कोशिश भी की गई। कांग्रेसी उमीदवार एक जालिम जमींदार हैं। इसलिये भी वे लोग सोचते थे कि अगर मैं उनकी मदद में न जाऊँ तो वे हारेंगे जरूर। मैंने उनकी जमींदारी में उन्हीं की जाति के किसानों का पक्ष लेके काफी आन्दोलन भी पहले किया था। इससे भी विरोधियों को आशा थी कि मैं चुनाव के मामले में ढीला पड़ जाऊँगा। मगर मेरी तो मजबूरी थी। जिला कांग्रेस कमिटी की तरफ से मुझे काम करना ही था। जवाबदेही भी मेरे ऊपर विजय के सम्बन्ध की थी ही। फिर बेईमानी कैसे कर सकता था? यदि ऐन मौके पर जिला के सभापतित्व से हटता तो भी ठीक न होता। हाँ, मैं चाहता तो था कि वे जालिम हजरत नामजद न हों। मगर कांग्रेसी नेता लोगों को इसकी पर्वा कहाँ थी? वे तो सभी लोगों को उस समय असेम्बली में भेज रहे थे—ऐसों को भी जो न सिर्फ जालिम जमींदार थे, बल्कि दरअसल कांग्रेस से अब तक जिनका कोई ताल्लुक न था। इस धाँधली के विरुद्ध प्रान्तीय वर्किंग कमिटी में मैं बराबर लड़ता था। मगर अकेला ही था। बाकियों ने तो वैसा ही तय कर लिया था। अजीब हालत थी। पर करता ही आखिर क्या?

ऐसी दशा में मेरे ही ऊपर वहाँ के कांग्रेस विरोधियों का क्रोध था। वे जानते थे कि अगर मैं वहाँ न जाऊँ तो कांग्रेसी उमीदवार को चुटकी मार के वे हरा देंगे। कुर्मी जाति में भी दोनों उमीदवार दो अलग बिरादरियों के थे और अपनी अपनी बिरादरी को लेके लोग परीशान थे। इसलिये

बख़तियारपुर में ही मुझे पता चला कि हरनौत की मिटिंग में कुछ गड़बड़ी होगी और विरोधी लोग ऊधम मचायेंगे। यही कारण था कि मैं पहले से ही तैयार होके गया था। गाँव के नजदीक पहुँचते ही देखा कि जहाँ एक दल लाल और तिरंगे झंडे के साथ बाजे-गाजे से हमारा स्वागत करने को तैयार है, तहाँ उसके बाद ही काले झंडे वाला दूसरा दल "स्वामी जी, लौट जाँय" आदि के साथ हमारा विरोध कर रहा है। हम हँसते थे। हमारी मोटर विरोधियों के बीच से आगे बढ़ गई। हम लोग सड़क से कुछ हट के एक बाग में गये जहाँ सभा की तैयारी थी। लोग तो पहले से थे ही। अब और भी जम गये।

सभा-स्थान में कई चौकियाँ एक साथ मिलाके पड़ी थीं और उन पर दरी, कालीन वग़ैरह पड़े थे। हम लोग उन्हीं पर उत्तर रुख बैठे थे। स्पीचें हो रही थीं। और लोग बोल चुके थे। मगर मैं अभी बोल चुका था नहीं। अभी बोलने का सिलसिला जारी ही था। सभी का ध्यान उसी ओर था। इतने में एकाएक मुझे पता लगा कि मेरे दाएँ कंधे पर जैसे तेज जलन सी हो गई। मालूम पड़ा कि कोई जलता अंगार गिर गया। मेरा हाथ उस पर पहुँचा। तेज दर्द था। मगर लोगों ने देखा कि कोई आदमी अपनी लाठी मुझ पर चलाके बेतहाशा भागा जा रहा है। दौड़ो दौड़ो, पकड़ो पकड़ो की आवाज हुई। कुछ लोग दौड़ भी पड़े। मगर मैंने हठ करके सबों को लौटा लिया। मारने वाला निश्चिन्त निकल गया। असल में लाठी तो उसने मेरे माथे पर ही चलाई थी। मगर माथा बच गया बाल बाल और वह जा लगी कन्धे पर। उससे पहले मैंने लाठी की चोट खाई न थी। इसीसे मालूम पड़ा कि जैसे जलता अंगार गिर गया।

मैंने मारने वाले को पकड़ने से लोगों को इसलिये रोका कि उसमें खतरा था। अगर वह पकड़ा जाता, जैसा कि निश्चय था, तो लोग क्रोध में उतावले होके जानें उससे कैसे पेश आते। भीड़ तो थी ही। अन्देशा था कि उसकी जान ही चली जाती। कम से कम इसका खतरा तो था ही।

उसके बाद उसके दलवाले जानें क्या क्या करते। हो सकता था कि वहीं करारी मार-पीट हो जाती। यही सोच के मैंने लोगों को रोका। परिणाम हमारे लिये सुन्दर हुआ। मीटिंग बेखटके होती रही। मेरी चोट पर लोगों को दवा की सूझी। पर, मैंने रोक दिया। चोट की जगह सूज गई जरूर, वह काली भी हो आई। मगर मैं ठंडा रहा और सभा में खड़ा होके बोला भी। लोग ताज्जुब में थे। पर मुझे पर्वा न थी। हाय हाय करना या चिल्लाना तो मैंने आज तक जाना ही नहीं। फिर वहाँ कैसे हाय हाय करता? मीटिंग के बाद बिहार शरीफ जाने पर चोट को धीरे धीरे गर्म पानी से धोया गया ताकि दर्द शान्त हो। वहाँ भी सनसनी थी। मगर मैं तो वहाँ की सभा में भी बराबर बैठा रहा। बोला भी। इस प्रकार वह दौरा पूरा हुआ। कांग्रेसी उमीदवार तो जीते और अच्छी तरह जीते।

मगर दो साल गुजरने के बाद हालत कुछ और ही हो गई। मुझे निमंत्रण मिला कि हरनौत में किसान-सभा होगी। खूबी तो यह कि जो लोग पहली बार मेरे सख्त दुश्मन थे वही इस बार मेरी सभा करा रहे थे। उनने मेरे स्वागत की तैयारी भी सुन्दर की थी। मैंने निमंत्रण स्वीकार किया खुशी खुशी। वहाँ जाके देखा तो सचमुच समाँ ही कुछ और थी। मीटिंग भी ठाठ-बाट से हुई। उनने प्रेम से मेरा अभिनन्दन भी किया। स्वागताध्यक्ष ने जो भाषण दिया वह दूसरे ढंग का था। लोग हैरत में थे। मैं भी चकित था। इतना तो सबने माना कि दो साल के भीतर किसान-सभा की ताकत बढ़ी है काफी। इसीलिये पहले के दुश्मनों को भी लोहा मानना पड़ा है, चाहे उनका मतलब इस बार कुछ भी क्यों न हो। हमारे लिये यही क्या कम गौरव की बात थी कि हमारे दुश्मन भी हमारे ही झंडे के नीचे आके मतलब साधने की कोशिश करें? हाँ, हमें सजग रहना जरूरी था कि कहीं किसान-सभा बदनाम न हो जाय। सो तो हम थे ही और आज भी हैं। उस बदली हालत को देख के हमने यह समझने की भूल कभी न की कि वे लोग किसान-सभा के पक्के भक्त बन गये। ऐसा मानने में ही तो खतरा था और हमने ऐसा किया नहीं। लेकिन उन्हें मजबूरन

बकाश्त-संघर्ष, सतीथान, मखदूमपुर, गया

किसान-सभा का नारा बुलन्द करना पड़ा है यह हमने माना। वह उनकी मजबूरी किसान-सभा के महत्त्व को समझ कर हुई और उनने समझा कि इसी का पल्ला पकड़ो तो काम चलेगा, या सचमुच किसान-सभा की सच्ची भक्ति के करते हुई, यह निराला प्रश्न है। इसका उत्तर उस समय दिया जा सकता भी न था। यह तो समय ही बता सकता था कि असल बात क्या है।

लेकिन वहाँ जो आशाजनक असली बात दिखी वह कुछ और ही थी। हमें वहाँ कुछ नौजवान और विद्यार्थी मिले जो कुर्मी समाज के ही थे। हमने उनमें जो कुछ पाया वही दरअसल हमारे काम की चीज थी। उसी पर हम मुग्ध भी हुए। अपनी उस यात्रा की सफलता भी हमने प्रधानतया उसी जानकारी से मानी। उन छात्रों और युवकों में हमने किसान-सभा और किसान-आन्दोलन की मनोवृत्ति पाई। हमने यह देखा कि वह लोग इसे अपनी चीज समझने लगे हैं। वह यह मानते नजर आये कि हम किसान हैं और हमारी असल संस्था किसान-सभा ही हो सकती है। इसमें वह अपने किसान समाज का उद्धार देखने लगे थे। यह मेरे लिए काले बादलों में सुनहली रेखा नजर आई।

एक और चीज भी थी। उनने मुझे हस्तलिखित एक मासिक पत्र दिखाया। मैं उसका नाम भूलता हूँ। उनने कहा कि प्रतिमास लिख के वे लोग उसे खुद तैयार करते हैं। लेख और चित्र दोनों ही दिखे। दोनों ही हस्तलिखित—हस्तनिर्मित थे। उनने मुझसे आग्रह किया कि मैं उसे आद्यो-पान्त पढ़ के अपनी सम्मति लिख दूँ। समय मेरे पास न था। मगर मैंने उनकी इच्छापूर्ति जरूरी समझ उस 'पत्र' को शुरू से आखीर तक पढ़ा। लेखक नये नये छात्र और जवान लोग ही थे जिन्हें उसकी शिक्षा कभी नहीं मिली थी। व्याकरण वग़ैरह का ज्ञान भी उन्हें उतना न था। फिर भी जिन भावों को मैंने उन लेखों में पाया उनने मुझे मुग्ध कर दिया। लेखों की गलतियाँ तो मैं भूल ही गया। मेरे सामने तो भाव ही खड़े थे। देश के और कांग्रेस के बड़े से बड़े नेताओं के बारे में निर्भीक समालोचना उस मासिक पत्र के लेखों में थी, सो भी अनेक में। समालोचना भी ऐसी

सुन्दर कि तबीअत खुश हो जाय। चुभने वाली बात बहुत ही अच्छे ढंग से दर्शाई गई थी।

इतना ही नहीं। मुझे ताज्जुब तो तब हुआ, जब मैंने देखा कि लेखों में मेरा और अन्य कई किसान-नेताओं का भी जिक्र है, उनकी बड़ाई है, उनके कामों की तारीफ है। साथ ही यह भी पाया कि कांग्रेसी नेताओं के मुकाबिले में हमारे को जन-हित की दृष्टि से अच्छा और महत्वपूर्ण बताया गया था। बातें कहने और लिखने का तरीका उनका अपना था और यही ठीक भी था। बनावटी ढंग से बातें लिखना या लिखने में दूसरों की नकल करना कभी ठीक नहीं होता। हर बात में मौलिकता का मूल्य होता है। चाहे शैली कुछ भी हो—और मैंने तो निराली शैली को हृदय से पसन्द किया—मगर बातें तो मार्के की थीं, दुरुस्त थीं। यह भी नहीं कि हमसे उनकी कोई घनिष्टता थी। हम तो उनमें किसी को जानते-पहचानते भी न थे। इसीलिये उनने जो कुछ लिखा वह उनके हृदयों का उद्गार था। कइयों ने लिखा था, न कि एक दो ने ही। कांग्रेसी नेताओं पर कुछ चुटकियाँ भी थीं, जो भद्दी न थीं। किन्तु अच्छी थीं।

लोग कहते हैं कि हमारे देश में जातीयता का अभिशाप कुछ करने न देगा। मैं तो निराशावादी हूँ नहीं, किन्तु पक्का आशावादी हूँ। मैंने वहाँ निराशावाद से उल्टी बातें पाईं। हालाँकि घोर जाति पक्षपात का इलाका वह है। हरनौत इसका अड्डा माना जाता है। मेरे खिलाफ तो वहाँ बवंडर खड़ा हो चुका था। फिर भी युवकों के वे स्वाभाविक उद्गार हवा का रुख कुछ दूसरा ही बताते थे। मैं मानता हूँ कि सयाने होने पर उनके दिमाग में जहर भरने की कोशिश होगी, होती है। मगर मैंने वहाँ जो कुछ पाया वह बताता था कि वह जहर मिटेगा जरूर ही।

२६

सन् १९३८ ई० के गर्मियों का मौसम था। मेरा दौरा किसान-आन्दोलन के सिलसिले में ही बाढ़ और बिहार सब-डिविजनों में हो रहा था। बाढ़ शहर के पास के ही एक बड़े गाँव में सभा करने के बाद मैं घोर देहात में गया। वह देहात बाढ़ से दक्षिण है जिसे टाल का इलाका कहते हैं। मिट्टी निहायत ही चिकनी और काली है। बरसात में तो पाँव में चिपक जाती है ऐसी, कि जल्द छूटना जानती ही नहीं। मगर गर्मियों में सूख के ऐसी सख्त बन जाती है कि कंकड़ों की तरह पाँवों में चुभती है और काट खाती है। दूर दूर तक पेड़-बेड़ नजर आते नहीं। कहीं कहीं गाँव होते हैं। बरसात में पचासों मील लम्बी और बीसियों मील चौड़ी उस जमीन पर केवल जल ही नजर आता है। बीच बीच में गाँव ऐसे ही दीखते हैं जैसे समुद्र में टापू। लगातार तीन-चार महीने यही नजारा दीखता है। सिर्फ किश्तियों पर चढ़के ही उन गाँवों में जा सकते हैं। उसी टाल के इलाके का एक भाग, जो बाढ़ से बहुत ज्यादा पूर्व और टाल के आखिरी हिस्से पर पड़ता है, बड़हिया टाल कहा जाता है। बड़हिया एक बड़ा सा गाँव जमींदारों का टाल के उत्तरी सिरे पर रेलवे का स्टेशन है, जैसे बाढ़, मुकामा वग़ैरह। इन बड़े बड़े गाँवों की जमींदारियाँ उस टाल में हैं। इसलिये उस टाल के बनावटी टुकड़े बन गये हैं सिर्फ जमींदारियों को जनाने के लिये। उन्हें ही बड़हिया टाल, मुकामा टाल वग़ैरह कहा करते हैं। उसी टाल की जमीनों को लेकर बड़हिया इलाके के किसानों, जो अधिकांश केवल खेत-मजदूर और तथाकथित छोटी जाति के ही हैं, की लड़ाई हमारी किसान-सभा लगातार कई साल तक लड़ती रही है। इस लड़ाई में किसानों पर घोड़े दौड़ाये गये, लाठियाँ पड़ीं, भाले-बर्छे लगे, सैकड़ों केस चले, कई सौ जेल गये और क्या क्या न हुआ। हमारे कार्य-

कर्त्ता और नेता भी जेल गये। वहीं लालकुर्त्ती वाले किसान-सेवकों के दल पहले पहल तैयार किये गये। उनके बारे में तो उस टाल में तैनात अफसरों तक ने कह दिया कि सचमुच ही ये लोग शांतिदल (Peace Brigade) के आदमी हैं। जमींदारों के द्वारा लाठीराज और गुंडाराज कायम कर देने पर भी उन्हीं ने वहाँ किसानों को हर तरह से शान्त रखा। वे भी उन्हीं किसानों के बच्चे थे। यही तो उस दल की खूबी रही है। हमने लड़ाई के नेतृत्व के लिये भी उन्हीं पिछड़े किसानों को स्वावलम्बी बनाया। पैसे वगैरह का काम भी उनने जैसे-तैसे ज्यादातर खुद ही चलाया।

हाँ, तो उसी टाल के दो गाँवों में हमने मीटिंगें की। पहले से ही उन मीटिंगों की तैयारी थी। उसके बाद फिर बाढ़ लौटने के बजाय बाहर ही बाहर बिहार के इलाके में हमें नूरसराय जाना था। रास्ता विकट था। बैलगाड़ी वगैरह से जैसे-तैसे हमें हरनौत जाना था। वहाँ से टमटम से नूरसराय आसानी से जा सकते थे। ठीक याद नहीं कि हमें टमटम की सवारी हरनौत में ही मिली, या उससे पहले ही पहुँची थी। मगर हरनौत के बाद तो हम जरूर ही टमटम से गये यह बखूबी याद है। असल में हरनौत के बाद की ही यात्रा महत्त्वपूर्ण थी। इसीलिये वह अच्छी तरह याद है।

हरनौत से बहुत दूर तक हम पक्की सड़क से ही गये। मगर आगे हमें पक्की सड़क छोड़ देना पड़ा। टमटम कच्ची सड़क से चलने लगा। हम कई साथी उस पर बैठे थे। शायद तीन थे। कुछ दूर जाने के बाद हमें एक अजीब लड़ाई देखने को मिली। जिस गाँव के पास यह हो रही थी उसका नाम-धाम तो हमें याद नहीं। हमने बहुत दूर से देखा कि तीन-चार छोटे छोटे जानवरों की आपस में ही कुछ खटपट चल रही है। कभी एक खदेड़ता है बाकियों को, जो तीन की तादाद में थे, तो कभी वे तीन उस पर हमला करते हैं। बहुत देर तक मैं यह चीज देखता रहा। जब तक टमटम नजदीक न पहुँचा तब तक तो मुझे पता भी न चल सका कि ये कौन से जानवर आपस में लड़ रहे हैं। मगर धीरे धीरे चक्कर काटता हुआ टमटम जब कुछ नजदीक आया तो मालूम हुआ कि एक छोटी सी बकरी अपने

तीन नन्हें बच्चों के साथ एक ओर है, और तीन कुत्ते दूसरी ओर। इन्हीं दोनों के बीच वह कुश्तमकुश्ता चालू है। वह घंटों चलता रहा, यह मैंने खुद देखा। पहले कब से था कौन बताये। मगर जबसे मेरी नजर उस पर गई मैं बराबर वह निराली समां देखता था।

लड़ाई यों चलती थी। तीनों कुत्ते उस बकरी पर हमला करके चाहते थे कि बच्चों के साथ उसे मार के खा जायँ। मगर उनके जवाब में उन बच्चों को अपने पेट के पास जमा करके वह बकरी मारे गुस्से के अपना माथा और सींगें झुकाती और उन पर धावा बोलती थी जिससे वे तीनों ही भाग जाते थे। असल में जान पर खेल के जब वह उन पर टूट पड़ती थी तो वे हिम्मत हार के भाग जाते थे। मगर जब वह रुक जाती थी तो फिर उस पर टूट पड़ते थे। यही तरीका बराबर घंटों चलता रहा। मेरी नजर एकटक उसी पर टिकी थी। ज्यों ज्यों मैं नजदीक आता जाता था, त्यों त्यों वह दृश्य देख देख के मग्न होता था। मेरे शरीर के अंग अंग और रोम रोम खिलते जाते थे। नजदीक आने पर देखा कि बकरी छोटी सी ही थी। मगर गुस्से के मारे मौत की सूरत बनी थी, रणचंडी बनी वह भी काफी परीशान थी। कुत्ते तो थे ही। उसकी अब तक जीत रही, इसलिये हिम्मत बनी था। मगर कुत्तों का इरादा पूरा हो न सका था। वे तो उसका ही और अगर वह न हो तो कम से कम उसके तीनों बच्चों का ही गर्मागर्म खून पीना चाहते थे जो मिल न सका। इसलिये स्वभावतः उनमें पस्ती थी। फिर भी वह कुश्ती चालू थी। इतने में मेरे सामने ही बकरी का मालिक आ पहुँचा। उसने कुत्तों को मार भगाया और बकरी को घर पहुँचाया।

मेरे लिये वह दृश्य क्यों रोमांचकारी था और मैं उस पर क्यों मुग्ध था, इसकी वजह है। मेरे सामने हमेशा ही यह प्रश्न आया करता था कि किसान सब तरह से पस्त और पामाल होने के कारण जमींदारों से डँट के मुकाबिला कर नहीं सकते और बिना मुकाबिला किये न तो जुल्मों से ही उन्हें छुटकारा मिल सकेगा और न उन्हें अपना अधिकार ही

हासिल हो सकेगा। मैं जहाँ जाता वहीं यह सवाल उठता था। मैं भी परीशान था। जवाब तो मैं देई देता। पूछने वालों को और आम किसानों को भी समझा देता कि वे कैसे विजयी हो सकते हैं, हो जायँगे। संसार में किसान कहाँ, कैसे विजयी हो चुके हैं यह बातें उन्हें कहके समझाता था। मगर आखिर यह सब कुछ परोक्ष और दिमागी दुनियाँ की ही बात होती थी। न तो मैंने ही कहीं किसानों की विजय देखी थी और न किसानों ने ही। सारी की सारी सुनी सुनाई बातें ही थीं। इसलिये मुझे खुद अपने जवाब से सन्तोष न होता था। मैं तो प्रत्यक्ष मिसाल चाहता था कि किस प्रकार अत्यन्त कमजोर भी जबर्दस्तों को हरा देते हैं। बराबर इसी उधेड़-बुन में रहता था कि बकरी की यह अनोखी और ऐतिहासिक लड़ाई देखने को मिल गई! इससे मेरा काम बन गया। फिर तो यह भी देखा कि अकेली बिल्ली कैसे किसी आदमी पर विजय प्राप्त करती है।

मैंने आँखों देखा कि मामूली सी बकरी अपने तीन बच्चों को और अपने आपको भी, घंटों दिलोजान से तीन कुत्तों के साथ करारी भिड़न्त करने के बाद भी, बचा सकी। यह तो प्रत्यक्ष चीज थी। अगर एक ही कुत्ता चाहता तो डरपोक और पस्त हिम्मत बकरी की हड्डियाँ चबा जाता। और वहाँ तो बकरी के तीन बच्चे भी थे। बकरी को ऐसी हालत में चबा जाना और भी आसान था। क्योंकि उसकी ताकत न सिर्फ अपने बचाने में खर्च हो रही थी, बल्कि उन तीन बच्चों के बचाने की परीशानी में भी बहुत कुछ खर्च होई जाती थी। फिर भी वह सफल रही और अच्छी तरह रही। क्यों? क्या वजह थी कि वह ऐसा कर सकी? इसका जवाब बातों से क्या दिया जाय? जिसने उस समय उस बकरी की सूरत और चेहरा-मुहरा नहीं देखा है और जिसने यह अपनी आँखों नहीं देखा कि वह किस तरह लड़ती थी, उसके दिमाग में इस सवाल का जवाब कैसे समायेगा, बैठ जायगा यह मुश्किल बात है। इसे ठीक ठीक समझने के लिये वैसी घटनाओं को खुद देख लेना निहायत जरूरी है। वह एक घटना हजार लेक्चरों का काम करती है। क्योंकि वह तो "कह सुनाऊँ" नहीं है।

किन्तु "कर दिखाऊँ" है। और बिना "कर दिखाऊँ" के कोई बात दिल पर नक्श हो सकती नहीं।

असल में जब कोई पक्का मंसूबा और दृढ़ संकल्प करके जान पर खेल जाता है तो उसके भीतर छिपी अपार शक्ति बाहर आ जाती है। यही दुनिया का कायदा है। ताकत बाहर से नहीं आती। वह हरेक के भीतर ही छिपी पड़ी रहती है, जैसे दूध में मक्खन। जिस प्रकार मथने से मक्खन बाहर आ जाता है, ठीक उसी तरह जान पर खेल के लड़ जाने, भिड़ जाने पर वही भिड़न्त मथानी का काम करती है। फलतः छिपी हुई ताकत को बाहर ला खड़ा करती है। बकरी की लड़ाई से यह साफ हो जाता है। कहते भी हैं कि "मरता क्या न करता ?" अगर मामूली बकरी डॅट जाने पर सपरिवार अपने को तीन कुत्तों से बचा सकती है, तो किसान डॅट जाने पर अपने हक की रक्षा क्यों न कर सकेगा ?

जब जवाबदेह कार्य और लीडर ऐसा काम कर डालते हैं जिसे व्यवहार-बुद्धि (Common-Sense) मना करती है तो बड़ी दिक्कत पैदा हो जाती है। जनता में काम करना एक चीज है और केवल राजनीतिक चालबाजी दूसरी चीज। अखबारों में खबर छपवा देना कि फलाँ फलाँ जगह मीटिंगें हुईं और अमुक अमुक सज्जन बोले, यह एक ऐसी बात है जिसे हमारे कार्यकर्त्ता और लीडर आमतौर से पसन्द करते हैं। मीटिंग कैसी थी, उसमें ठोस काम क्या हुआ, या नहीं हुआ, इस बात की उन्हें शायद ही पर्वा होती है। मैं इसे न सिर्फ गैर जवाबदेही मानता हूँ, बल्कि ठगी समझता हूँ। बाहरी दुनियाँ पर चन्द लोगों के प्रभाव और नेतृत्व का असर इससे भले ही जमे। मगर धोखा होता है। जनता का काम इससे कुछ भी होता नहीं। फिर भी हम इस प्रवाह में बहे चले जाते हैं। अखबारों की रिपोर्टें इसी तरह की अक्सर हुआ करती हैं। हम इतने से ही सन्तोष करते हैं। अपनी सालाना रिपोर्टों की तोंदें भी इन्हीं बलगर्मी रिपोर्टों से भर डालते हैं। बाहरी दुनियाँ हमारी बड़ाई करती है कि हम बहुत काम करते हैं। यदि एक ही दिन में हमारी कई मीटिंगों की खबरें छप जाँय तब तो कहना ही क्या ? तब तो हमारी महत्ता और लीडरी आसमान छू लेती है।

जब अपनी सफलता का हिसाब हम खुद इन्हीं झूठी रिपोर्टों से लगाते हैं तब तो किसानों और मजदूरों का भला भगवान ही करे। तब पता लग जाता है कि हम कैसे सच्चे जन-सेवक हैं। हमारे दिलों में पीड़ित जनता की वास्तविक सेवा की आग कैसी जल रही है इसका सबूत हमें मिल जाता है। मगर असलियत तो यह है कि इन हरकतों से गरीबों का उद्धार सात जन्म में भी नहीं हो सकता। वे तो बावजूद इन मीटिंगों के भेड़-बकरियों की तरह कभी एक दल के और कभी दूसरे के हाथों मूँड़ते ही रहेंगे।

इस तरह हम उनके नेता बनके अपने तुच्छ स्वार्थ के लिये उन्हें उनके शत्रुओं के हाथ बराबर बेंचते ही रहेंगे। उनके उद्धार का रास्ता यह हर्गिज है नहीं। मगर बदकिस्मती से इस बात के कड़वे अनुभव मुझे किसान-आन्दोलन के सिलसिले में इतने ज्यादा हुए हैं कि गिनाना बेकार है।

एक बात और है। जवाबदेही का मतलब भी हम ठीक समझ पाते नहीं। किसी काम के पूरा करने में क्या क्या करना होगा, कौन कौन दिक्कतें आयेंगी, उनका सामना कैसे किया जायगा, उस सम्बन्ध में किस पर विश्वास करें, किस पर न करें, विश्वास करें भी तो कहाँ तक करें, वग़ैरह वग़ैरह पहलुओं पर पूरा विचार करना भी जवाबदेही के भीतर ही आता है और यही उसके असली पहलू हैं। इन पर पूरा गौर किये बिना हम जवाब-देही को पूरा कर नहीं सकते और अगर हम इसमें चूकते हैं तो इसकी वजह या तो यही है कि हमने जवाबदेही को अभी तक जाना नहीं, या हमें इस बात का अनुभव नहीं कि कौन क्या कर सकता है, किसकी कौन सी दिक्कतें और अड़चनें हैं जिन्हें पहले समझ लेना जरूरी है। जब देहात के किसान या कार्यकर्त्ता किसी मीटिंग के प्रबन्ध की पूरी जवाबदेही ले लेते हैं तो हम निश्चिन्त हो जाते हैं कि अब हमें कुछ करना है नहीं। हम तो मजे से चलेंगे और मीटिंग करके लौट आयेंगे।

मगर यह भारी भूल है। देहात के लोगों के लिये यह समझ लेना और सब बातों का पूरा पूरा हिसाब लगा लेना आसान नहीं है। सब बातों के तौलने की जवाबदेही उन पर डालना ही भूल है। उस तौल का उनका तराजू भी देहाती ही होता है जो पूरा नहीं पड़ता। इसीलिये हमें खुद सारी चीजों की देख-भाल करना जरूरी है। मैंने देखा है कि हर मीटिंग के करने कराने वाले आमतौर से यही समझते हैं कि दुनियाँ में बस यही एक मीटिंग है। इसीसे सब का काम चल जायगा। इसके बाद आज ही कहीं और भी मीटिंग हमारे लीडर को करना है या नहीं इसकी पर्वा उन्हें होती ही नहीं। कल, परसों भी उन्हें कहीं इसी तरह जाना है या नहीं, और अगर वे नहीं जा सके तो लोगों को वैसी ही निराशा होगी या नहीं,

लोग वैसे ही बुरा मानेंगे या नहीं, जैसा कि तैयारी हो जाने पर हमारे यहाँ नेताओं के न आ सकने पर हम मानते हैं, यह बात भी वे लोग साधारण-तया सोचते ही नहीं। फिर ठीक समय मीटिंग को पूरा करने की सारी तैयारी वे करें तो कैसे करें? लेकिन यह तो हमारे जवाबदेह कार्यकर्त्ताओं का ही काम है कि ये सारी बातें सोचें और उसी हिसाब से ऐसा प्रबन्ध करें कि ठीक समय पर सारा काम पूरा हो जाय। देहात के लोगों के कह देने पर ही सारी बात का विश्वास कर लेना बड़ी भारी गलती है। हमें उन लोगों की कमजोरियों को बिना कहे ही अपने ही अनुभव के आधार समझ लेना और तदनुसार ही काम करना चाहिये।

इस सम्बन्ध के कटु अनुभव मुझे यों तो हजारों हुए हैं और उनसे काफी तकलीफ भी हुई है। मगर कभी कभी भीतर ही भीतर जल जाना पड़ा है। खासकर जब बड़े लीडर कहे जाने वालों ने ऐसी नादानी की है। इस बात की चर्चा एकाध बार पहले ही की जा चुकी है। मगर एक घटना बहुत ही मार्के की है। सन् १६३६ ई० की बरसात गुजर चुकी थी। किसान लोग रबी बोने की तैयारी में खेतों को ठीक कर रहे थे। धान की फसल अभी तैयार न हुई थी। खेतों में ही खड़ी थी। मगर बरसात का पानी रास्तों से आमतौर से सूख चुका था। जहाँ तक अन्दाज है कार्तिक महीने की पूर्णमासी अभी बीती न थी। ठीक उसी समय पटना जिले के बाढ़ सब-डिविजन के हमारे एक किसान-नेता ने मेरे दौरे का प्रोग्राम तय किया। और मीटिंगों के अलावे उनने एक ही दिन दो मीटिंगों का प्रबन्ध किया। एक फतुहा थाने के उसफा गाँव में और दूसरी हिलसा थाने में हिलसा में ही। जब मुझे पता चला तो मैंने कहा कि देहात की मीटिंग के साथ दूसरी मीटिंग भी हो यह शायद ही सोचा जा सकता है जब तक कि मोटर का रास्ता न हो। लेकिन उनने न माना।

जब मीटिंग के दिन हम फतुहा स्टेशन पर आये तो मैंने उसफा के बारे में बार बार पूछा कि कितनी दूर है, रास्ता कैसा है, आदि आदि। उत्तर मिला कि बहुत दूर तक तो टमटम जायगा। फिर नदी के बाद तीन-चार

मील हाथी से जाना होगा। मगर मेरे दिल ने यह बात नहीं कबूल की। खूबी तो यह थी कि मीटिंग के बाद हाथी से ही ४-५ मील चलके लाइट रेलवे की गाड़ी पकड़ना और शाम तक हिलसा भी पहुँचना जरूरी था। मैंने उनसे साफ कहा कि यह बात गैर मुमकिन है। मुझे जो देहातों का अनुभव है उसके बल पर मैंने उन्हें साथ चलने से रोका और हिलसा जाने को कहा। उनसे यह भी साफ कह दिया कि हिलसा आने की मेरी उम्मीद छोड़ के आप खुद मीटिंग कर लेंगे। हाँ, अगर मुमकिन हुआ तो मैं भी आ जाऊँगा। मगर मेरी इन्तजार में आप कहीं बैठे ही न रह जायँ। इसी समझौते के अनुसार मैं टमटम पर बैठ के एक कार्यकर्त्ता के साथ उसफा की ओर चला, इस आशा से कि जहाँ हाथी खड़ा रहने का इन्तजाम है वहाँ तक जल्दी पहुँच जाऊँ।

मगर गैर जवाबदेही का एक नमूना फतुहा में ही मिला, जब हमारा टमटम सदर सड़क छोड़ के गली से चलने लगा। कुछ देर के बाद गली बन्द थी और उसकी मरम्मत के लिये पत्थर की गिट्टियाँ पड़ी थीं। बड़ी दिक्कत हुई। टमटम जाने की उमीद न थी। बहुत ही परीशानी के बाद जैसे-तैसे टमटम पार किया गया। वह परीशानी हमीं जानते हैं। फिर टमटम बढ़ा कुछ दूर—कुछ ज्यादा दूर—जाने के बाद साइकिल से दौड़ा हुआ एक आदमी हमारे पीछे आता था और हमें पुकारता था। मगर देर तक हम उसकी आवाज सुन न सके और बढ़ते गये। जब वह नजदीक आ गया तो उसकी पुकार हमने सुनी। उसने कहा कि हाथी तो स्टेशन पर आ गया है, आप वहीं लौट चलें। हम घबराये और सोचा कि यह दूसरा संकट आया। लौटेंगे तो फिर उसी गली में टमटम निकालने की बला आयेगी। इसलिये साइकिल वाले से कह दिया कि जाओ और हाथी वहीं भेजो जहाँ पहले भेजने का तय पाया था। क्योंकि तुम भी तो कहते ही हो कि भूल से हाथीवान उसे स्टेशन ले गया है। इस पर वह बेचारा लौट गया। हम आगे बढ़े। मगर कुछी दूर और चलके टमटम वाले ने कह दिया कि "बस, बाबू जी, अब आगे टमटम जा न सकेगा।

यहीं तक की बात तय पाई थी।"

हम लोग उतर पड़े और पैदल चल पड़े। कुछ दूर चलने के बाद मालूम हुआ कि इधर नदी-वदी कोई है नहीं। उसफा का रास्ता आगे से खेतों से होके जायगा, यह कच्ची सड़क छूट जायगी। हम लोग कुछ दूर और चल के धान के खेतों के बीच एक पीपल के नीचे जा ठहरे। वहीं इन्तजार करने लगे कि हाथी आये तो चलें। पेड़ की छाया में कुछ लेटे भी। मगर चैन नहीं। मीटिंग में पहुँचने की फिक्र जो थी। इसीलिये रह रह के हाथी का रास्ता देखते। कभी खड़े होते, कभी बैठ जाते। देखते देखते एक घंटा बीता, दो बीते। मगर हाथी लापता ही रहा। ताकते ताकते आँखें पथरा गईं। हम परीशान हो गये। मगर फिर भी हाथी नदारद! इधर दिन के दस-ग्यारह बज भी रहे थे। हमने सोचा कि कहीं ऐसा न हो कि हाथी की इन्तजार में बैठे बैठे उसफा की भी मीटिंग चौपट हो। हिलसा जाने का तो अब सवाल ही नहीं। हमारे सामने यह तीसरी दिक्कत आई। मगर हमने तय किया कि पैदल ही आगे बढ़ना होगा। रास्ता भी तो देखा था नहीं। फिर भी हिम्मत की कि पूछते-पाछते चले जायँगे। हमने पहले से ही होशियारी की थी कि साथ में कोई सामान नहीं लिया था। नहीं तो वहीं बैठे रह जाते। उसफा जाना तो दूर रहा। फलुहा लौटना भी दूभर हो जाता। सामान कौन ले चलता? उस घोर देहात में कुली कहाँ मिलता? मुझे तो ऐसे मौके कई पड़े थे। इसीलिये तैयार होके आया था कि पैदल भी चलूँगा यदि जरूरत होगी। फिर सामान साथ लाता क्यों कर?

हाँ, तो हम चल पड़े। रास्ते की बात पूछिये मत। केवाल की काली मिट्टी सूखी थी। वह पाँवों को कतरे जाती थी। जूता पहनने में दिक्कत यह थी कि रह रह के कीचड़-पानी पार करना पड़ता था। इसलिये जूता महाराज हाथों की ही शोभा बढ़ा रहे थे। कभी कभी पाँवों में भी जा पहुँचते थे। रास्ता भी कोई बना बनाया था नहीं। कहीं खेत और कहीं दो खेतों की मेंड़ (आर) से ही चलना पड़ता था। पूछने पर लोगों ने यही बताया कि फलाँ कोने में उसफा है। बस, वही दिशा देख के चल रहे

थे। फिर भी काफी भटके। दूर दूर तक कहीं गाँव नजर आते न थे कि किसी से रास्ता पूछें। सूनी जगह में पेड़ भी थे नहीं कि रामचन्द्र की तरह सीता का हाल उन्हीं से पूछते। पशु भी नदारद ही थे। यही हालत पक्षियों की थी। बहुत चलने पर कहीं कहीं एकाध हल चलाने वाले किसान मिलते तो उन्हीं से पूछ लेते कि उसका का रास्ता कौन है? फिर उसी अन्दाज से आगे बढ़ते। कातिक की धूप भी ऐसी तेज थी कि चमड़ा जला जाता था। प्यास भी लगी थी। मगर रास्ते में पानी पीना आसान न था। कहीं गाँव में कुआँ मिले तभी तो पिया जाय। मगर कुओं की हालत यह थी कि उनमें मुँह तक पानी भरा था। ऐसी हालत में उनका पानी पीना बीमारी बुलाना था। इसलिये प्यासे बढ़ते जाते थे। रास्ते में एक दो गाँव भी मिले। वहाँ हमने उसका की राह पूछ ली और बढ़ते गये।

चार या छः मील की तो बात ही मत पूछिये। आठ नौ मील से कम हमें चलना न पड़ा। बराबर चलते ही रहे। फिर भी तीन घंटे से ज्यादा ही वक्त वहाँ पहुँचने में लगा। हम परीशान थे। मगर चारा भी दूसरा था नहीं। मीटिंग में तो पहुँचना ही था, चाहे जो हो जाय। अन्त में एक गाँव मिला। हमने समझा यही उसका है। किन्तु हमारा खयाल गलत निकला। आगे बढ़े। पता चला कि आगे वाला उसका है। मगर नदी नाले और पानी कीचड़ के करते रास्ता चक्कर काटता था। अन्त में कुछ लोग मिले जो सभा में जा रहे थे। तब हमें हिम्मत हुई कि अब नजदीक आ गये। अन्त में बाजे-गाजे वालों की भीड़ मिली। ये लोग स्वागतार्थ जमा थे। हमें इनके भोले-भाले पन पर दया आई। हम पहुँचेंगे भी या नहीं इसका खयाल तो इनने कियां नहीं और स्वागतार्थ बाजे-गाजे के साथ जम गये। हमने समझा कि अब सभा-स्थान पास में ही होगा। मगर सो बात तो थी नहीं। अभी मीलों चलना था। बहुत देर के बाद गाँव में पहुँचे तो सारे गाँव में जुलूस घूमता फिरा। हमें क्या मालूम कि जुलूस घुमाया जा रहा है? गाँव भी शैतान की आंत की तरह लम्बा है।

हम तो प्यासे मरे जा रहे थे और लोगों को जुलूस की पड़ी थी। पर, किया क्या जाय ! देहात के लोग तो सीधे होते हैं। वे अगर सारी बातें समझ जाँय तो फिर जमींदारी कैसे रहने पायेगी ? महाजनों की लूट चालू क्योंकर रहेगी ? उनकी नासमझी और उनका भोलापन यही तो लूटने वालों की—शोषकों की—पूँजी है, यही उनका हथियार है।

जैसे-तैसे जुलूस का काम पूरा हुआ और हम लोग गाँव से बाहर बाग में पहुँचे जहाँ सभा का प्रबन्ध था। मगर मेरा तो गला सूख रहा था। इसलिये कुएँ से पानी मँगवा के भरपूर स्नान किया तब कहीं कुछ ठडक आई। फिर पानी पिया। जरा लेटा। इतने में लोग भी जमा होते रहे। मुझे पता चला कि वहाँ शायद ही कोई पहुँच पाता है। बरसात में फतुहा से लेकर वहाँ तक केवल जलमय रहता है। जाड़े में भी आना गैरमुमकिन ही हैं। हाँ, गर्मी में शायद ही कोई आ जाते हैं। आमतौर से यही होता है कि मीटिंगों की नोटिसें बँट जाती हैं, लोग जमा भी होई जाते हैं। मगर नेता लोग ही नहीं पहुँच पाते। फलतः लोग निराश लौटते हैं। इस बात की आदत सी वहाँ के लोगों में हो गई है। मोटर वग़ैरह का आना तो असंभव है। बैलगाड़ी की भी यही हालत है। हाथी या घोड़े से आ सकते हैं। नहीं तो पैदल। मगर नेता और पैदल ? मेरे बारे में भी लोग समझते थे कि शायद ही पहुँचूँ। इसीलिये मरता-जीता, थका-प्यासा जब मैं पहुँच गया तो लोगों को ताज्जुब हुआ।

यों तो उसफा में मिडिल स्कूल है। लाइब्रेरी भी है। फुटबाल वग़ैरह की खेल भी होती है। कांग्रेस की लड़ाई में वहाँ के कुछ लोग कई बार जेल भी गये हैं। फिर भी वह समूचा इलाका ही पिछड़ा हुआ है। सभाएँ शायद ही होती हैं। छोटे मोटे जमींदार, जो उस इलाके में हैं, खूब जुल्म करते हैं। पुलिस का भी वहाँ पहुँचना आसान नहीं है। इसलिये जालिम लोग स्वच्छन्द विचरते हैं। लगातार कई साल के बीच मेरी वही एक मीटिंग थी जहाँ पुलिस पहुँच न सकी, सी० आई० डी० रिपोर्टरों का पहुँचना तो और असंभव था। वे लोग हिलसा की मीटिंग में चले

गये। यह भी एक अजीब बात थी। तमाशा तो यह हुआ कि मुझे लेने के लिये भेजा गया हाथी मीटिंग खत्म होते न होते वहाँ लौटा।

सभापति उस सभा में बनाये गये इलाके एक छोटे से जमींदार। मुझे यह बात पीछे मालूम हुई। नहीं तो शायद ही ऐसा होने पाता। मगर मैंने लेक्चर जो दिया वह तो जमींदारी-प्रथा और जमींदारों के जुल्मों के खिलाफ़ ही था। फिर भी न जानें सभापति जी कैसे पत्थर का कलेजा बनाके सुनते रहे। मुझे उनके चेहरे से मालूम ही न पड़ा कि वे मेरे भाषण से घबरा रहे हैं। यदि घबराते भी तो मुझे पर्वा क्या थी? मैं तो अपना काम करता ही। मैंने यह जरूर देखा कि लोग मस्त होके मेरी एक एक बातें सुनते थे। मालूम पड़ता था, उन्हें पीते जाते हैं। उनका चेहरा खिलता जाता था, ज्यों ज्यों सुनते जाते थे। मुझे यह भी पता चला कि उधर के किसान जमींदारों के जुल्मों के खिलाफ लड़ने में जरा भी नहीं हिचकते। औरों की तरह पुलिस से भी वे भयभीत नहीं होते। यदि पुलिस जमींदारों या महाजनों का पक्ष अन्यायपूर्वक ले, तो उससे भी उनकी दो दो हाथ हो जाती है। भविष्य के खयाल से यह सुन्दर बात है। हक के लिये मर मिटने की लगन के बिना किसानों के निस्तार का दूसरा रास्ता हई नहीं।

हाँ, सभा के अन्त में एक मजेदार घटना हो गई। कुछ नौजवान लोग स्कूलों या कालिजों के पढ़ने वाले से प्रतीत हुए। उनने यह कहा कि बिना स्वराज्य मिले ही यह आप जमींदार-किसान कलह क्यों लगा रहे हैं? थे वे जमींदारों के ही लड़के। मगर चालाकी से उनने आजादी की दलील की शरण ली और कांग्रेसी बन बैठे। मैंने उत्तर दिया कि झगड़े के लगाने की क्या बात? यह तो पहले से मौजूद ही है। अगर आपकी जायदाद कोई लूटने लगे तो क्या स्वराज्य की फिक्र में उससे लपट न पड़ियेगा? क्योंकि झगड़ने पर तो आपकी ही दलील से स्वराज्य की प्राप्ति में बाधा होगी। हम तो किसानों को यही बताते हैं कि जो स्वराज्य उन्हें लाना है वह कैसा होगा, क्योंकि जमींदारों और किसानों का स्वराज्य एक न होगा—

अलग अलग होगा। जो एक का स्वराज्य होगा, वह दूसरे के लिये बला बन जायगा।

वे फिर बोले कि आप तो मिस्टर जिन्ना की सी बात कर रहे हैं। जैसे वह स्वराज्य मिलने के पहले उसका बँटवारा कर रहे हैं आप भी वैसा ही कर रहे हैं। इस पर मैंने उन्हें बताया कि आप मेरी स्थिति को ठीक समझी न सके। मैं तो किसानों को सिर्फ यही बताता हूँ कि सजग होके स्वराज्य के लिये लड़ो ताकि वह उनका स्वराज्य हो, न कि जमींदारों और सूदखोरों का। मगर वह लड़ें जरूर। जमींदार वग़ैरह न भी लड़ें, तो भी वे अकेले ही लड़ें। अगर वे लोग भी लड़ें तो साथ मिलके ही लड़ें। मगर चौकन्ने रहें ताकि मौके पर जमींदार लोग उन्हें चकमा देके स्वराज्य को सोलहों आने हथिया न लें। लेकिन मिस्टर जिन्ना तो मुसलमानों को लड़ने से ही रोकते हैं। वे तो नौकरियों और असेम्बली की सीटों का बँटवारा चाहते हैं। उसके लिये हिन्दुओं से मिलके लड़ना नहीं चाहते। बल्कि बार-बार मुसलमानों को लड़ने से रोकते हैं। फिर मेरी उनके साथ तुलना कैसी? क्या कोई कह सकता है कि मैंने, किसान-सभा ने या किसानों ने कांग्रेस की लड़ाई में साथ नहीं दिया है? क्या मैंने कभी किसानों को रोका है?

इसके बाद वे लोग चुप हो गये। मगर किसानों ने सभी बातें समझ लीं। मैंने उनसे पूछ दिया कि तुम्हारे गाँव के जमींदार जो नवाब साहब हैं उनके स्वराज्य के लिये लड़ोगे या अपने स्वराज्य के लिये। उनने एक स्वर से सुना दिया कि अपने स्वराज्य के लिये! तब मैंने कहा कि ये सवाल करने वाले तो नवाब साहब का ही स्वराज्य चाहते हैं, गोकि साफ साफ बोलते नहीं। मगर गोलमोल स्वराज्य का तो यही मतलब ही है। इन्हें डर है कि गोलमोल न कह के अगर स्वराज्य का स्वरूप बनाने लगेंगे तो किसान हिचक जायँगे। जिस स्वराज्य में जमीन के मालिक किसान न हों, अपनी कमाई को पहले स्वयं सपरिवार भोगें नहीं, उन्हें काफी जमीन मिले नहीं, सूदखोरों से उनका पिंड छूटे नहीं, जमींदारों के जुल्म से उनका

पल्ला छूटे नहीं और भूखों मर के भी लगान, कर्ज वग़ैरह चुकाना ही पड़े वह उनका स्वराज्य कैसा ? और अगर यह बातें न हों तो फिर जमींदार मालदारों का स्वराज्य कैसा ? इसीलिये कहता हूँ कि किसान और जमींदार मालदार का स्वराज्य एक हो नहीं सकता। इस पर जय-जयकार के साथ सभा विसर्जित हुई। सभी अपने-अपने गाँव घर गये।

अब सवाल आया वापिस जाने और फतुहा में ठीक समय पर गाड़ी पकड़ने का। क्योंकि प्रायः शाम हो चली थी। हिलसा पहुँचने का तो प्रश्न ही न था। खतरा यह था कि फतुहा में भी विहटा जाने वाली ट्रेन मिल सकेगी नहीं। यदि तेज सवारी मिलती तो मुमकिन था उसका मिलना। इसलिये मैंने इस बात पर जोर दिया कि अच्छी सवारी जल्द लाई जाय। मैंने सभा के पहले भी वहाँ पहुँचते हो कह दिया था कि सवारी का इन्तजाम ठीक रहे। आने में जो हुआ सो तो हुआ ही, जाने का तो ठीक रहे। नहीं तो कल का प्रोग्राम भी चौपट होगा। हिलसा तो रही गया। लोगों ने हाँ हाँ कर दिया और सब ठीक है सुनाया। लेकिन मुझे तो शक था ही। क्योंकि "सब ठीक है" वाला जवाब जो फौरन मिल जाता है, बड़ा ही खतरनाक होता है। ऐसा मेरा अनुभव है सैकड़ों जगहों का। फिर भी करता ही आखिर क्या ? इसलिये मीटिंग खत्म होते ही सवारी की चिल्लाहट मैंने मचाई। जवाब मिला, आ रही है। कुछ देर बाद फिर पूछा, तो वही 'आ रही है' का उत्तर मिला। कई बार यही सुनते सुनते ऊब गया। आने के समय की पत्ती होने के कारण ही सवारी के लिये परीशानी थी। नहीं तो पैदल ही चल पड़ता। मगर जब देखा कि कुछ होता जाता नहीं, तो आखिर चल देना ही पड़ा पैदल ही। लोग रोकने लगे कि रुकिये, सवारी आती है। मगर मुझे अब यकीन न रहा। अतः रवाना हो गया। पीछे देखा कि वही पुराना हाथी चींटी की चाल से चला आ रहा है। मुझे रंज तो बहुत हुआ कि ये लोग धोखा देते हैं। भला इस मुर्दा सवारी से फतुहा कब पहुँचूँगा। ऐसी गैर जवाबदेही ! इसके पीछे से लोग पुकारते जाते थे कि मैं रुकूँ। मगर मैं बढ़ता ही चला जाता

था। सवारी की यह आखिरी दिक्कत ऐन मौके पर बहुत ही अखरी। किन्तु लाचार था। एक दो मील चला गया। शाम हो रही थी। दूध भी न पी सका था। अतएव आगे के गाँव वालों ने रोका। वे भी सभा में गये थे। एक वैष्णव ब्राह्मण ने बाहर ही कुएँ पर कम्बल डाल के मुझे बिठाया और फौरन ही गाय का दूध दुहवा के मुझे पीने को दिया। इतने में कुछ देर हो गई और बूढ़ा हाथी भी आ पहुँचा। मैं उस पर चढ़ने में हिचकता था। इसके लिये तैयार न था। मगर लोगों ने हठ किया। रात का समय और अनजान रास्ता। कीचड़ पानी से होके गुजरना, सो भी आठ दस मील। टेढ़ी समस्या थी। दिन रहता तो पैदल ही चल देता खामखाह। मगर अन्धेरी रात जो थी। इसलिये मजबूरन हाथी पर बैठना ही पड़ा। एक लालटेन भी आई रास्ता दिखाने के लिये, मगर वह ऐसी मनहूस थी कि रोशनी मालूम ही न होती थी। फिर भी दूसरी थी नहीं। इसलिये वही साथ ली गई। लेकिन वह फौरन ही बुझ गई। अतएव पुकार के उसके मालिक के हवाले उसे हमने कर दिया और अन्धेरे में ही अन्दाज से चल पड़े। आखिर करते ही क्या? हाथी एक तो बूढ़ा और कमजोर था। दूसरे थका भी था हमारी ही तरह। क्योंकि अभी अभी स्टेशन से वापिस आया था। तीसरे भूखा था। भलेमानसों ने उसके खाने का कोई प्रबन्ध किया ही नहीं और मेरे साथ उसे फिर चला दिया। यह अजीब बात थी। और अगर रात न होती तो वह भूखों ही मरता। एक कदम बढ़ता भी नहीं, लेकिन रात होने से उसका काम चालू था। हाथी तो रास्ते के खेतों में खड़ी फसल को नोचता-खाता ही चलता है। यही तो उसकी गुजर है। दिन में खेतवाले सजग रहते और चिल्लाते हैं, तूफान करते हैं। इसलिये फीलवान हाथी को रोकता-डाँटता चलता है जिससे उसका घात शायद ही लगता है। मगर रात में तो यह खतरा था नहीं। इसलिये हाथी का स्वराज्य था। धान के हरे हरे खेत खड़े थे। उन्हीं से होके हम गुजर रहे थे। हाथी खाता चलता था। किसानों की फसल की इस तरह तबाही हमें खलती जरूर थी। इसीलिये आमतौर से हम हाथी पर चढ़ते नहीं। मगर

हाथी की भूख को देख के हम भी मजबूर थे और हाथीवान से उसे रोकने की बात कहने की हिम्मत हमें न थी।

इस प्रकार चलते चलाते एक नदी के किनारे चलने लगे। मालूम हुआ कि यह आम रास्ता फतुहा जाने का है। अब हमें यकीन हुआ कि रास्ता भूले नहीं हैं। ठीक ही जा रहे हैं। कुछ दूर यों ही चलते रहे फिर वह नदी हमें छोड़ के जाने कहाँ भाग निकली। नदियों की तो चाल ही टेढ़ी-मेढ़ी होती है। फिर उनकी किससे पटे ? जो वैसी ही चाल के अभ्यासी हों वही उनके साथ निभ सकते हैं। हमें तो जल्दी थी फतुहा पचहुँने की। घड़ी पास ही थी। रह रहके वक्त देखते जाते थे। अब हमें डर हो गया कि ट्रेन पकड़ न सकेंगे। क्योंकि अन्दाजा था कि फतुहा अभी दूर है। इतने में ही ट्रेन की रोशनी नजर आई। हमने देखा कि पूरब से पच्छिम धक्धक्-चकमक करती रेलगाड़ी चली जा रही है। उसे हमारी क्या पर्वा थी। अगर उसके भीतर दिल नाम की कोई चीज होती और हमारा पता उसे होता तो शायद हमारे भीतर मचने वाले महाभारत को वह महसूस कर पाती। फिर भी हमारे लिये रुकती थोड़े ही। जो लोग समय के पाबन्द हैं और उसकी पुकार सुनते हैं वह किसी की पर्वा न करके आगे बढ़ चलते हैं, बढ़ते ही जाते हैं। यही खयाल उस समय हमारे माथे में घूम गया। अपनी विफलता में भी इतनी सफलता, यह शिक्षा हमें मिली। हमने इसी से सन्तोष किया।

हाथी चलता रहा। इतने में लाइट रेलवे की ट्रेन भी दक्षिण से आई और चली गई। हम टुक-टुक देखते ही रह गये। आखिर चलते चलाते हम भी फतुहा के नजदीक पहुँचे। जब हम पक्की सड़क पर आये तो हमें दो साल पहले की एक घटना याद आई। हमें ऐसा लगा कि फतुहा के पास हमें बराबर दिक्कतें होती हैं, खासकर हिलसा के प्रोग्राम में। दो साल पहले भी ऐसा ही हुआ था कि हिलसा में मीटिंग करके हम लोग टमटम से ही फतुहा चले थे ट्रेन पकड़ने। ट्रेन तो हमें मिली थी। मगर पास में पहुँचने पर उसी पक्की सड़क पर मरते मरते बचे थे। बात यों हुई

कि रात हो गई थी और जिस टमटम से हम लोग आ रहे थे वह था हिलसा का ही। ज्यों ही वह उस स्थान पर पहुँचा जहाँ एक पुल है और दो सड़कें मिलती हैं त्यों ही एक बैलगाड़ी आगे मिली। टमटम वाले ने चाहा कि टमटम को बगल से निकाल दें। मगर उसके ऐसा करते ही घोड़ा पटरी के नीचे उतर गया और औंधे मुँह गिर पड़ा। असल में वहाँ सड़क के बगल में बहुत गहराई है। अगर टमटम उलटता तो हममें एक की भी जान न बच पाती। सभी खत्म हो जाते। मगर घोड़े के गिर जाने पर भी टमटम कैसे रुक गया यह अजीब बात है। हमारे साथी नीचे गिर पड़े। टमटम लटक के ही रह गया। उलटा नहीं। मगर मैं उसी पर बैठा ही रह गया। मेरे सिवाय सबों को चोट भी थोड़ी बहुत आई। घोड़ा तो मरी जाता अगर झटपट हम लोग टमटम से अलग उसे न कर देते और उठा न देते। खैर, वह उठाया गया और जैसे तैसे स्टेशन के नजदीक पहुँचा। उस दिन की घटना हमें कभी नहीं भूलती। ऐसी ही घटनायें किसान-सभा के दौरे में दो एक बार और भी हुई हैं। मगर इस बार की थी सबसे भयानक। हम तो बाल-बाल बचे। सो भी मुझे कुछ भी न हुआ। वही घटना हमें उस दिन स्टेशन पर फिर याद आ गई कि हम उसी मनहूस स्थान पर पहुँच गये।

हाथी वहाँ से आगे बढ़ा और हम स्टेशन के दक्षिण रेलवे लाइन की गुमटी पर ही हाथी से उतर पड़े। हमें ऐसा मालूम हुआ कि किसी वीरान से आ रहे हैं जहाँ न रास्ता हो और न कोई सवारी शिकारी। गाड़ी तो कभी की छूट चुकी थी। अब हमें उसकी फिक्र न थी। बल्कि इस बात की खुशी थी कि खैरियत से हम इस भयंकर यात्रा से लौट के स्टेशन तो पहुँचे। असल में एक चिन्ता के रहते ही अगर उससे भी खतरनाक बात सामने आ जाय तो चिन्ता खुद काफूर हो जाती है और नया खतरा आँखों के सामने नाचने लगता है। हमारी यही हालत हो गई थी। हम स्टेशन पहुँचेंगे या नहीं, पहुँचेंगे भी तो कब और किस सूरत में, हाथ पाँव टूटे होंगे, या खैरियत से होंगे, आदि बातें हमारे दिमाग में भर रही थीं। हमें

फ़िक्र यही थी कि किसी सूरत से स्टेशन पर सकुशल पहुँच जायें। यही वजह है कि पहुँच जाने पर हमारी खुशी का ठिकाना न रहा।

स्टेशन पर जाने के बाद दिक़्क़त हुई सोने की। सोने का सामान तो पास था नहीं। वह तो ट्रेन से चला गया था। यहाँ तक कि हाथ पाँव धोने के लिये पानी लाने का लोटा भी नहीं था। इसलिये वेटिंग रूम में चुपके से अन्धेरे में ही जा पड़े। मगर थोड़ी देर बाद स्थानीय कबीर-पंथी मठ के कुछ विद्यार्थी हमें ढूँढ़ते आये। वे महन्त के ज़ुल्म से ऊबे थे और हमारी प्रतीक्षा में थे। ट्रेन के समय खोज के लौट गये थे। वे फिर आये और हमें अपनी जगह लिवा ले गये। उस समय हम उनकी कुछ खास मदद कर न सके। फिर भी रास्ता बता दिया। सुबह की ट्रेन से हम बिहटा चले गये।

२८

किसान-सभा की स्मृतियाँ हैं तो इतनी कि पोथे लिखे जा सकते हैं। यह भी नहीं कि केवल कहानियों जैसी हैं। हरेक स्मृति मजेदार है। घटनाओं से पता चलता है कि किन किन संकटों को, कब कब, कैसे पार करके सभा की नींव मजबूत की गई है। कई वार तीन तीन, चार चार मील लगातार दौड़ते रहके ही किसी प्रकार सभा-स्थान में पहुँच सका, जैसा कि एक बार पटना जिले के दान्तपुर इलाके मगर पाल दियारे की रामपुर वाली सभा में हुआ था। सवारी का प्रबन्ध वे लोग न कर सके और जब देर से हम शेरपुर पहुँचे तो शाम हो चली थी। यदि कसके चार मील दौड़ते नहीं तो लोग निराश होके चले जाते।

इसी प्रकार एक बार खटांगी में, गया जिले में, सभा करनी थी। गया से मोटर से चले। पानी पड़ चुका था। सड़क पर नई मिट्टी पड़ी थी—कच्ची सड़क नई नई बनी थीं। मोटर धँस जाती थी। छे मील में छे घंटे लग गये। रात हो गई। अन्त में मोटर छोड़ के कई मील पैदल रात में ही अन्दाज से गये। तब तक सभा से लोग चले गये थे। मगर चारों ओर पुकारते हुए लोग दौड़े और मीटिंग की तैयारी में लगे। नतीजा यह हुआ कि रास्ते से ही लोग लौट पड़े। देर से तो खटांगी से लोग चले ही थे। इसीलिये रास्ते में ही थे। सभा भी दस ग्यारह बजे रात में जम के हुई और खूब हुई।

सबसे मजेदार बात तो मक्षियावाँ बकाश्त संघर्ष के वक्त हुई। मक्षियावाँ खटांगी से उत्तर दो तीन मील है। दोपहर को टेकारी पहुँचे थे। वहाँ से मक्षियावाँ चौदह मील है। बरसात का दिन, कच्ची सड़क, सवारी आने में देर। बस, पैदल ही चल पड़े। छे-सात मील चल चुकने पर सवारी मिली। बड़ी दिक्कत से अन्धेरा होते होते मक्षियावाँ पहुँचे। संघर्ष

चालू था। चटपट लोगों को जमा किया। मीटिंग की, और सबों को समझाके चल पड़े। आधी रात को गया में गाड़ी पकड़नी थी। अगले दिन का प्रोग्राम फेल न हो इसीलिये ऐसा करना पड़ा। सवारी उतनी जल्दी कहाँ मिलती ? पैदल ही चल पड़े। वह मामूली रास्ता नहीं है। केवाल की मिट्टी थी। पानी खूब पड़ा था। रात का वक्त था। ट्रेन पकड़ने की फिक्र थी। साथ में कुछ लोग थे। यही अच्छा था। एक टट्टू भी साथ कर दिया गया। ताकि थकने पर उस पर चढ़ लूँ। मेरी तो आदत टट्टू पर चढ़ने की नहीं। जब एक बार चढ़ा तो थोड़ी देर बाद मारे तकलीफ के उतर पड़ा। एक बजे के करीब जैसे तैसे टेकारी पहुँचा। मोटर खड़ी थी। चढ़के मोटर दौड़ाई। ट्रेन खुलते न खुलते दो बजे के करीब गया पहुँच के गाड़ी पकड़ी और पटना आया। खुशी इस बात से हुई कि इस परीशानी ने काम किया और मझियावाँ के किसानों ने—मर्दों से ज्यादा औरतों ने—लड़के अमावाँ राज्य को अपनी माँगें स्वीकार करने को मजबूर किया। लाखों रुपये बकाया लगान के छूट गये और सस्ते लगान पर नीलाम जमीन वापिस मिली। मझियावाँ श्री यदुनन्दन शर्मा की जन्मभूमि है।

लेकिन जितनी स्मृतियाँ अब तक लिपिबद्ध की जा चुकी हैं, उनसे हमारे आन्दोलन की प्रगति पर काफी प्रकाश पड़ता है और जानने वालों को मालूम हो जाता है कि यह किसान-सभा किस ढंग से बनी है। आसाम, बंगाल, पंजाब और खानदेश आदि की यात्राओं से इन्हीं बातों पर प्रकाश पड़ता है। उनका वर्णन स्थानान्तर में है भी। इसीलिये यहाँ लिखना आवश्यक समझा नहीं गया है। बिना खास जरूरत के पुनरुक्ति ठीक नहीं। इसीलिये चलते चलाते एक मजेदार और महत्वपूर्ण घटना का जिक्र करके इसे समाप्त करना चाहता हूँ। वह घटना बहुत पुरानी नहीं है। बल्कि यूरोपीय युद्ध छिड़ जाने के बाद की है। अब तक मेरे साथ मिल के जिन लोगों ने किसान-सभा और किसान-आन्दोलन के चलाने की खास तौर से बिहार में और दूसरी जगह भी जिम्मेदारी ली थी उनमें

मनोवृत्ति पर इस घटना से काफी प्रकाश पड़ता है। किसान-आन्दोलन को आगे ठीक रास्ते पर चलाने वालों के लिये इस बात का जान लेना निहायत ही जरूरी है। नहीं तो वे लोग धोखे में पड़ सकते हैं, गुमराह हो सकते हैं। असल में मुझे खुद इन बातों को समझने में कम से कम आधे दर्जन साल लग गये हैं। तब कहीं इन्हें बखूबी समझ पाया हूँ। इसीलिये दूसरों के सामने इन्हें रख देना मुनासिब समझता हूँ। ताकि उन्हें भी आधे या एक दर्जन साल इनकी जानकारी के लिये गुजारने न पड़ें। यह पहले ही कह देना चाहता हूँ कि किसी का नाम न लूँगा। मुझे यह बात लाभकारी नहीं जँचती है।

जब कांग्रेस की वर्किंग कमेटी ने अपनी अहिंसा का जामा उतार फेंका और गांधी जी को सलाम करके यह फैसला सन् १९४० के मध्य में कर लिया कि यदि अंग्रेजी सरकार भारत में भी राष्ट्रीय सरकार (National Government) बना दे और यह घोषित कर दे कि भारत को पूर्ण आजादी का हक है तो कांग्रेस इस यूरोपीय लड़ाई की सफलता के लिये मदद करेगी। गोकि प्रस्ताव के शब्द कुछ गोल-मटोल और वकालती थे। फिर भी राष्ट्रपति और दूसरे जिम्मेदार नेताओं के वक्तव्यों से उनका आशय यही निकला। ठीक उस समय जेल में हमारे साथ ही रहने वाले कुछ सोशलिस्ट नेताओं को एक नई पार्टी बनाने की सूझी। इसके लिये उनने लम्बी चौड़ी दलीलें दीं और उनके आधार पर एक कार्य-पद्धति भी तैयार की। उनने यह भी साफ साफ स्वीकार किया कि अब कांग्रेस एक प्रकार से खत्म हो गई। अब वह आजादी के लिये नहीं लड़ेगी। वह हमारे काम की अब रह नहीं गई। गो सरकार ने फिल-हाल वर्किंग कमेटी की माँग कबूल नहीं की जिससे वह दफना दी गई है। मगर किसी भी समय वह कब्र से खोद निकाली जाकर जिलाई जा सकती है। अब कांग्रेसी नेता अंग्रेजी साम्राज्य शाही से गंठ जोड़ा करके उसी के हथियारों से उठती हुई जनता को दबाना चाहते हैं। क्योंकि अब उन्हें इस मुल्क की आम जनता (Masses) से भय होने लगा है। इसलिये

उनके साथ संयुक्त मोर्चे का सवाल अब रही नहीं गया।

ऐसी हालत में अब हमें क्या करना चाहिये, इसके बारे में उनने अपना निश्चित मत प्रकट किया कि अब हमें किसान-सभा को ही किसानों की राजनीतिक संस्था के रूप में संगठित करना होगा। इसी बात पर हमें पूरा जोर देना जरूरी है। साथ ही, मजदूरों के भी संगठन पर काफी जोर देंगे और समय पाके इन दोनों संस्थाओं को एक सूत्र में बाँधेंगे। इस तरह जो एक सम्मिलित संस्था बनेगी वही भारत की पूर्ण आजादी के ज़िये लड़ेगी और उसे लायेगी भी। इसलिये अब हम लोगों की सारी शक्ति उसी ओर लगनी चाहिये। इसीलिये उनने यह भी निश्चय किया कि एकाध को छोड़ बाकी सभी वामपक्षी दलों का भी एक सम्मिलित दल बनना चाहिये। वही दल इस नये कार्य-क्रम को अच्छी तरह पूरा करने में सफल होगा। सब दलों के मिल जाने से हमारी ताकत बढ़ जायगी। उन्हें इस बात का विश्वास भी था कि एक को छोड़ सभी दल मिल जायँगे।

उनने अपना यह मन्तव्य मुझसे भी प्रकट किया। मैंने भी उस पर पूरा गौर किया। लेकिन वामपक्षी कमिटी (Left consolidation committee) के इतिहास को देखकर मुझे विश्वास न था कि सबको मिलाके कोई ऐसा एक दल बन सकेगा। वामपक्ष कमिटी का जितना दर्दनाक और कटु अनुभव मुझे है उतना शायद ही किसी को होगा। मैंने उसके सिलसिले में वामपक्षियों की हरकतों से ऊब के कभी कभी रो तक दिया था। किसी का दिल उसमें लगता न था। मालूम होता था जबर्दस्ती फँसाये गये हैं। सभी भागना चाहते थे। यदि एक दल उसमें दिलचस्पी लेता तो दूसरा और भी दूर भागता था। अजीब हालत थी। पहले तो मुझे उसमें लोगों ने फँसा दिया। मगर पीछे पार्टियों के नेता इधर-उधर करने लगे। सभी भाग निकलने का मौका देखते थे। भला फँसा के भी कोई संयुक्त दल बन सकता है?

जब मुझसे उनने राय पूछी, तो मैंने अपना पक्का खयाल कह सुनाया।

मैंने कहा कि वामपक्षी दलों को एक दूसरे पर विश्वास हुई नहीं। और जब तक यह बात न हो मेल मुवाफ़िक़त कैसी ? वह तो परस्पर विश्वास के आधार पर ही बन सकती और टिक सकती है। लेफ्ट कंसोलिडेशन की बात मैंने उन्हें याद दिलाई और कहा कि मेरे जानते उसके विफल होने की वजह यही थी उस समय एक दल उसकी जरूरत समझता था तो दूसरा नहीं। अगर दोनों जरूरत समझी तो बाकियों ने नहीं। यही हालत आज है। आज आप लोग उसकी जरूरत समझते हैं सही। मगर दूसरे नहीं समझते। और जब तक सभी दल इस बात को महसूस न करेंगे कि एक पार्टी सबों को मिलाकर बनाये बिना गुजर नहीं, तब तक कुछ होने जाने का नहीं। तब तक आपकी यह नई पार्टी बनी नहीं सकती। मैंने यह भी कह दिया कि मैं तो अब किसी पार्टी में शामिल हो नहीं सकता। मैंने तो यही तय कर लिया है कि किसान-सभा के अलावे और किसी पार्टी-वार्टी से नाता न रखूँगा। मैं पार्टियों की हरकतें देखके ऊब सा गया हूँ। इसलिये मैं पार्टी से अलग ही अच्छा। मिहर्बानी करके मुझे बख्श दें। इसके बाद उस समय तो मुझ पर इसके लिये जोर न दिया गया और दूसरी दूसरी बातें होती रहीं। मगर पीछे जब एक बार कइयों ने मिलाके फिर दबाव डालने की कोशिश की, तो मैंने धीरे से उत्तर दे दिया कि पहले और पार्टियाँ मिल लें तो देखा जायगा। अगर मैं अभी उस नई पार्टी में शामिल हो जाऊँ तो किसान-सभा की मजबूती में बाधा होगी। क्योंकि आप लोग पार्टी की ओर से मुझ पर दबाव डालेंगे ही कि जिम्मेदार जगहों पर उसी पार्टी के आदमी किसान-सभा में रखे जायें, और पार्टी-मेम्बर की हैसियत से मुझे यह मानना ही पड़ेगा। नतीजा यह होगा कि दूसरी पार्टियों के अच्छे से अच्छे कार्यकर्त्ताओं के साथ मैं न्याय न कर सकूँगा और वे ऊब के हमारी सभा से खामखाह हट जायँगे। फिर सभा मजबूत हो कैसे सकेगी ? इसलिये मैं इस-झमेले में नहीं पड़ता।

मगर इस आखिरी बात के पहले ही कुछ और भी बातें हुईं। नई पार्टी के बारे में उनके दो महत्त्वपूर्ण निश्चय थे और वे थे भी कुछ ऐसे कि

मैं घबराया। मुझे पता चला कि उनके वे दोनों ही निश्चय अटल से हैं। इसीलिये मुझे ज्यादा घबराहट हुई। फिर भी उन पर मैंने इसे प्रकट न किया। मैं भी चाहता था कि जरा उनके हृदय को टटोल देखूँ। उन दोनों में एक बात यह थी कि बहुत ही विश्वासपूर्वक तीन ही महीने के भीतर वे कम से कम पचीस हजार पक्के क्रांतिकारियों का सुसंगठित दल तैयार करने का मंसूबा बाँध चुके थे। उनकी बातों से साफ झलकता था कि यह कोई बड़ी बात न थी। इस बारे में उनने औरों को कितनी ही दलीलें दी थीं। वह इस मामले में इतने विश्वस्त और निश्चिन्त मालूम पड़ते थे कि मुझे आश्चर्य होता था।

इसीलिये मैंने उससे दलीलें शुरू कीं। कहा कि मैं तो जिन्दगी में अभी पहली ही बार सुनता हूँ कि तीन ही महीने में अव्वल दर्जे के क्रांतिकारियों की पचीस हजार की संख्या में तैयारी आसानी से की जा सकती है! क्या आप इतिहास में ऐसी एक भी मिसाल पेश कर सकते हैं! कांग्रेस के चवनियाँ मेम्बर भी अगर हम किसानों और मजदूरों के भीतर बनाने लगें तो तीन महीने में पचीस हजार सदस्य बनाना आसान न होगा। मगर उसी मुद्दत में उन्हें संगठित भी कर देना जिससे जवाबदेही का कोई काम कर सकें, यह असम्भव सी बात है। क्रांतिकारियों का संगठन और भेड़ बकरियों का जमावड़ा क्या दोनों एक ही बातें हैं। मुझे तो हैरत मालूम पड़ती है। किसी भी क्रांतिकारी पार्टी में आने के लिये बरसों परीक्षा करना ही चाहिये। तभी हम मेम्बरों की असलियत और उनकी कमजोरियाँ समझ सकते हैं, उन्हें हमें बरसों सख्ती से जाँचना होगा। तब कहीं कुछी लोग खरे उतर सकते हैं। यह कोई खोगीर की भर्ती तो है नहीं कि जिसे ही पाया भर्ती कर लिया।

उनसे दलीलें करने के साथ ही मेरे दिल में यह खौफ पैदा हो गया कि क्रांति और रेवोल्यूशन के नाम पर यह एक निरापद ही खतरनाक पार्टी बनेगी अगर उसके मेम्बर इसी ढंग से बनाये गये। कच्चन वर्ग और काम-धाम से खाली लोगों में कोई बहुत ऊँचे मनोरथ रखता होगा,

जिसे ही लीडरी का नशा होगा, जोई देश-सेवा और क्रांति के नाम पर न सिर्फ अपनी पूजा करवाना चाहेगा, बल्कि मौज उड़ाने की फिक्र रखेगा, जोई लम्बी लम्बी बातें हाँक के लोगों को धोखा देना चाहेगा, जिसी के भीतर कोई मजबूती न होगी, किन्तु सिर्फ देखावटी और बाहरी वेश-भूषा ही जिसकी सारी सम्पत्ति होगी ऐसे ही भयंकर और खतरनाक लोग इसमें आसानी से आ धमकेंगे, यदि उनके आराम का सामान मुहैया हो जाय। मैंने सोचा कि किसानों और मजदूरों की सेवा के नाम पर ये लोग उनके लिये प्लेग बन जायँगे। जो लोग कहीं चोरी डकैती वग़ैरह की शरण लेते उनके लिये यह बहुत ही सुन्दर पेशा हो जायगा। हाँ, पैसे की आसानी होना जरूरी है।

मेरी दलीलों का उन पर कुछ ज्यादा असर होता न दिखा। ऊपर से उनने सर हिलाया जरूर और कबूल किया कि यह दिक्कतें तो हैं। फिर बोले कि अच्छा देखा जायगा। उतने नहीं तो कम लोग ही मेम्बर होंगे। यह कोई जरूरी नहीं कि पचीस ही हजार खामखाह बनें। मैंने देखा कि मेरे विचारों का उन पर कोई असर न पड़ा। उनने केवल संख्या को ही पकड़ा है। मैं इस प्रकार की मेम्बरी की बुनियाद को ही बुरा और खतरनाक मान कर उनसे बातें करता था। मगर उनने इतना ही माना कि इतनी बड़ी तादाद शायद आसानी से मिल न सके। उनने यह गलती महसूस ही न की कि मेम्बरी वाला उनका सारा खयाल और रास्ता ही गलत है, धोखे का है। हम दोनों इस मामले में, उतनी बात-चीत के बाद भी दोनों ध्रुवों पर रहे। हम दोनों की नजरें एक दूसरे के खिलाफ थीं। उनका मेल न था। फिर भी मैं उन्हें याद दिलाया कि ऐसे ही कच्चे मेम्बरों को लेके तो आप-ही लोग अब तक झगड़ते रहे हैं। ऐसे लोग तो बराबर बे पेंदी के लोटे की तरह कभी इधर कभी उधर लुढ़कते ही रहते हैं। कभी इस पार्टी में तो कभी उसमें जाते रहते हैं। इसी से झगड़े होते हैं कि दूसरे दल आपके मेम्बरों को फोड़ते हैं। हालाँकि इसमें भूल आप ही की है कि कच्चे लोगों को सदस्य बनाते हैं। आप खुद "रहे बाँस न

बाजे बाँसरी" क्यों नहीं करते ? उनने कहा कि "हाँ, यह तो ठीक है।"

फिर उनके एक दूसरे खयाल पर भी मैंने उज्र किया। नई पार्टी के लिये पैसे का प्रश्न था। बिना आर्थिक संकट पार किये कोई भी पार्टी चल नहीं सकती। इसीलिये उनने इस मसले का भी हल सुझाया था। मगर मैं उससे और भी चौंका। मुझे साफ मालूम हो गया कि ऐसा होने पर ऐरे-गैरे मनचले लोगों की भर्ती आसानी से हो सकेगी। आर्थिक झमेले हल हुए और पैसे की दिक्कत नहीं कि मेम्बर बनने वालों का ताँता बँधेगा। वह तो यही मजा चाहेंगे—"जो रोगी को भाये सोई वैद्य बताये" वाली बात यहाँ सोलहों आने ठीक उतरेगी।

असल में पैसा जमा करने का जो उपाय उनने सुझाया वह यह न था कि हम किसान मजदूर जनता से थोड़ा थोड़ा करके जमा करेंगे। इस बात का तो उनने नाम ही न लिया। बूँद बूँद करके तालाब भरने का खयाल उन्हें रहा ही नहीं। उनके सामने लम्बे लम्बे प्रोग्राम और खर्च के मद थे। पार्टी का प्रेस, अखबार, आफिस, साहित्य, दौरा वगैरह ऐसी बातें थीं जो उनके दिमाग में चक्कर काट रही थीं। और इनके लिये तो काफी पैसा चाहिये ही। मेम्बरों को भी तो आराम से रखना ही होगा। नहीं तो उनके हटने में दिक्कत का खयाल था। और पचीस हजार की तादाद भी काफी बड़ी होती। वर्त्तमान समय के मुताबिक उनका खर्च-वर्च भी कम नहीं ही चाहिये। चबेनी और सत्तू या सूखी रोटी खा के तो क्रांति हो नहीं सकती। इस प्रकार तो क्रांतिकारी लोग गुजर कर सकते नहीं। इसलिये महीने में कई लाख रूपये उनके खर्च के ही लिये चाहिये।

यह साफ ही है कि इतना रुपया गरीब लोग दे सकते नहीं। पैसे-पैसे करके उनसे इतनी लम्बी रकम वसूल करना गैर मुमकिन ही है। क्रांतिकारी लोग ऐसा मामूली काम करने के लिये होते भी नहीं। उनका काम बहुत बड़ा होता है। यह तो छोटे लोगों का—मामूली वर्करों का काम होता है। इसलिये पैसा जमा करने का कोई दूसरा ही रास्ता होना चाहिये, उनने यही सोचा। बताया भी ऐसा ही। खासी रकम हाथ लगने का रास्ता ही उनने

ढूँढ़ निकाला था और उसी का जिक्र मुझसे भी किया था। मैं सुनता था। साथ ही हँसता भी और घबराता भी। उनके लिये वह क्रांति का चाहे सुगम से भी सुगम मार्ग क्यों न हो, मगर मेरे लिये तो वह बहुत ही खतरनाक दीखा। वैसे पैसे से उनकी नई पार्टी मठ भले ही बन जाय जहाँ मौज उड़ाने वाले ही रहते हैं। मगर मेरे जानते वह किसानों और मजदूरों की पार्टी हर्गिज नहीं बन सकती थी।

मैंने उनसे बातें शुरू कीं। मैंने कहा कि यह भी निराली सी बात है कि आपकी पार्टी के लिये पैसे का मुख्य जरिया किसान मजदूर या शोषित जनता हो नहीं, किन्तु कुछ दूसरा ही हो। आपने मेम्बरों की भर्त्ती की जो बात बताई है उससे तो स्पष्ट ही है कि केवल मध्यम वर्गीय लोग ही उसमें आयेंगे। किसान मजदूर तो आयेंगे नहीं, शायद ही एकाध आयें तो आयें। इस प्रकार जितने नेता होंगे वह तो उनमें से आयेंगे नहीं। वह तो बाहरी ही होंगे। और पैसे की दिक्कत जब पूरी हो जाती है तब तो खामखाह बाहरी ही लोग रहेंगे ही। इसे कोई रोक नहीं सकता।

अब रही पैसे की बात। सो भी उस दुखिया जनता से आने वाला है नहीं जैसा कि आप ही बताते हैं। वह भी तो बाहर से ही आयेगा—बाहरी ही होगा। उसी पैसे से काम का सारा सामान मुहैया किया जायगा—पेपर, लिटरेचर, औफिस वगैरह। इस प्रकार आदमी, पैसा और सामान ये तीनों चीजें बाहर की ही होंगी। किसानों और मजदूरों के भीतर से तीन में एक भी चीज न होगी। हरेक लड़ाई के लिये जरूरी भी यही तीन हैं—आदमी, पैसा और समान। और ये तीनों ही बाहर से ही मिल गये। इन्हीं से क्रांतिकारी लड़ाई चलाई जायगी ऐसा आप कहते हैं। चलाई जा सकती है और संभव है उसे सफलता भी मिले और क्रांति भी आ जाय। मगर वह क्रांति किसानों और मजदूरों की होगी यह समझना मेरे लिये गैर मुमकिन है। वह तो उसी की होगी जिसके आदमी, पैसे और सामान से वह आयेंगी। दूसरे के सामान से दूसरे के लिये कोई भी चीज आये यह देखा नहीं गया। फिर क्रांति जैसी चीज के बारे में ऐसा सोचना निरी नादानी होगी।

मैं तो यही जानता हूँ और पढ़ा भी ऐसा ही है कि अगर किसानों और मजदूरों के हाथ में हुकूमत की बागडोर लानी है जिसे क्रांति कहिये या कुछ और ही कहिये, तो उन्हीं को इससे लड़ना और कट मरना होगा। जब तक उन्हीं के बीच से नेता और योद्धा पैदा न होंगे, पैदा न किये जायँगे तब तक उनका निस्तार नहीं। लड़ते तो वे हईं। जेल जाते हैं, लाठी खाते हैं, गोलियों के शिकार होते हैं। मगर उनके नेता बाहरी होते हैं—उनके बीच से नहीं आते। अब तक एकाध जगह को छोड़ सर्वत्र ऐसा ही होता रहा है। नतीजा यह हुआ है कि क्रांति होने पर भी उन्हें कुछ हासिल नहीं हुआ है। उनकी गरीबी, लूट, परीशानी, भूख, बीमारी, निरक्षरता ज्यों की त्यों बनी रह गई हैं। दुनियाँ की क्रांतियाँ इस बात का सबूत हैं। फ्रांस, इंगलैंड, जर्मनी, अमेरिका, इटली वग़ैरह देशों में क्रांतियाँ तो हुईं। मगर कमाने वाले सुखी होने के बजाय और भी तकलीफ में पड़ गये। गोकि लड़ने और मरने में वही आगे थे। यह क्यों हुआ? इसीलिये न, कि उन लड़ाइयों और क्रांतियों का नेतृत्व, उसकी बागडोर दूसरे के हाथ में थी? इसलिये मैं यही मानता हूँ कि जो बाहरी नेता हैं उनका काम यही होना चाहिये कि किसानों और मजदूरों के भीतर से ही नेता पैदा कर दें। उसके बाद क्रांति वही खुद लायेंगे। हमारा प्रधान काम क्रांति लाना न होकर उसके लिये किसानों और मजदूरों के भीतर से ही नेता पैदा कर देना मात्र है। इतना कर देने के बाद उन्हीं के नेतृत्व में जो क्रांति होगी उसमें हम जो भी सहायता कर सकें वह उचित ही होगी। मगर अपने ही नेतृत्व में क्रांति लाने के मर्ज से हमें सबसे पहले बरी होना होगा। यह दूसरी बात है कि किसानों और मजदूरों के भीतर से ही पैदा होने वाले नेताओं के नेतृत्व और हमारे नेतृत्व में कोई अन्तर हो—दोनों एक ही हों। यह खुशी की बात होगी। मगर नेतृत्व की जाँच की कसौटी हमारा नेतृत्व न होकर उन्हीं वाला होगा यह याद रहे। हमारे नेतृत्व से उनका नेतृत्व मिलने के बजाय उनके ही नेतृत्व से हमारा नेतृत्व मिलना चाहिये।

यही बात पैसे रुपये की भी है। जिसे विजयी होना है उसको अपने ही

पैसे रुपये से—उसी के बल पर—लड़ना होगा। तभी सफलता मिल सकती है। उधार या मँगनी की रकम से लड़ने में धोखा होगा—अगर बीच में नहीं तो जीत के बाद तो जरूर ही होगा। कहने के लिये वह जीत किसान मजदूरों की होगी। मगर होगी वह दरअसल उन्हीं की जिनके पैसे लड़ाई में खर्च हुए हैं। पैसे वाले आदमियों को, उनके ईमान को, उनकी आत्मा को ही खरीदने की कोशिश करते हैं और आमतौर से खरीद भी लेते हैं। ऊपर से चाहे यह भले ही न मालूम हो। मगर भीतर से तो हमारी आत्मा बिक जाती ही है अगर हम दूसरों के पैसों का भरोसा करें। जबान से हम हजार इनक़िलाब और किसान मजदूर राज्य की बातें बोलें। मगर इनमें जान नहीं होती। ये बातें कुछ कर नहीं सकतीं। दिल से हम पैसे वालों की ही जय बोलते हैं, उन्हीं की राय से, उन्हीं के इशारे पर चलते हैं। जैसे मोटर का हाँकने वाला उसे अपने कब्जे में रखता है, नहीं तो वह कहीं की कहीं जा गिरेगी, किसी से लड़ जायगी। ठीक वैसे ही पैसे वाला हमें और हमारी लड़ाई को अपने काबू में ही सोलहों आने रखता है। यही वजह है कि हमारी राय में किसानों और मजदूरों की लड़ाई उन्हीं के पैसे से चलाई जानी चाहिये। उस लड़ाई के लिये असली और खासा भरोसा क़िसान मजदूरों के ही पैसे पर होना चाहिये। दूसरों की पर्वा हर्गिज नहीं चाहिये। इतने पर भी अगर कहीं से कुछ आ जाय तो उसे खामखाह फेंक देने से हमारा मतलब नहीं है। मगर उस पर दार-मदार होने में ही खतरा है। उधर से लापर्वाही चाहिये।

सामान की भी यही बात है। खाना, कपड़ा, अखबार, साहित्य, ऑफिस वगैरह सभी चीजें जिसके हाथ में रहेंगी वही लड़ाई को चाहे जैसे चलायेगा। ये सामान लड़ाई के मूलाधार है, बुनियाद हैं, प्राण हैं। इसीलिये हम इनके लिये गैरों पर निर्भर कर नहीं सकते। नहीं तो ऐन मौके पर खतरा होगा, रह रहके खतरे खड़े होते रहेंगे। जब न तब इन सामानों के जुटाने वाले नाक भौं सिकोड़ते रहेंगे और हमसे मनमानी शर्तें करवाना खामखाह चाहेंगे। यही दुनियाँ का कायदा है—यही मानव-स्वभाव है।

आखिर कोई दूसरा आपको पैसा क्यों देगा ? या कहीं और जगह से पैसा लाने में हजार खतरे का सामना करने के बाद पैसा मिलने पर उसे हमें क्यों देगा ? अपने लिये, अपने बाल-बच्चों के लिये उसी पैसे से जमीन-जायदाद क्यों न खरीद लेगा ? कोई रोजगार, व्यापार क्यों न चलायेगा ? धर्म और परोपकार का नाम इस सम्बन्ध में, इस स्वार्थी और व्यवहारतः जड़वादी (materialist in practice) संसार में, लेना अपने आपको धोखा देना है, व्यावहारिकता से आँख मोड़ लेना है। झूठी कसमें खाई जाती हैं और कचहरियों में गंगा तुलसी, कुरान पुरान तक की शपथें जो आये दिन ली जाती हैं वह क्या धर्म और परोपकार के ही लिये ? वह काम दुनियावी फायदे और जमीन-जायदाद के ही लिये किया जाता है यह कौन नहीं जानता ? इसी प्रकार धर्म और परोपकार के नाम पर देने वाले धनी और चतुर आमतौर से हजार गुना फायदे को सोचकर ही देते हैं। चाहे कहीं चुनाव में वोट मिलने में आसानी हो, कारबार में आसानी हो या मौके पर बड़ी जमा और बड़ा अधिकार मिल जाने में ही उससे मदद मिले। मगर यही बात होती है जरूर। वे लोग पहले से ही हिसाब-किताब लगाके और दूर तक सोच के ही इस धर्म और उपकार के काम में पड़ते हैं, यह हमें हर्गिज भूलना न चाहिये।

इसीलिये हमारा तो पक्का मंत्र होना चाहिये कि अपने हकों के हासिल करने के लिये जो लड़ाई किसान मजदूर लड़ना चाहते हैं उसके लिये आदमी, रुपया और सामान (Men, Money and Material) खुद जुटायें, अपने पास से ही मुहय्या करें। खुद भूखे नंगे रहके यह काम उन्हें करना ही होगा। दूसरा रास्ता है नहीं। हमें उनसे दो टूक कह देना चाहिये कि अगर वे ऐसा नहीं करते, इसके लिये तैयार नहीं हैं तो हम उनकी लड़ाई से बाजी दावा देते हैं— हम उसमें हर्गिज न पड़ेंगे। हम उनसे साफ साफ कह दें कि इस तरह उसमें पड़ने पर तो हम उन्हें ख्वामखाह धोखा देंगे, गो हमें सस्ती लीडरी जरूर ही मिल जायगी। इतना ही नहीं, बिना किसानों के धन, जन के गैरों की आशा पर उनकी लड़ाई छेड़ने

पड़ा। अनजान आदमी के रास्ते में तो पग पग पर रोड़े अटकते हैं। सो भी किसान-आन्दोलन जैसी विकट चीज की कोशिश में। हमारे चारों ओर विरोधियों का गुट्ट था। सभी कमरबन्द खड़े थे कि कब मौका पायें और सारी चीज खत्म कर दें। हम तो पहले पहल सन् १६२० ई० में कांग्रेसी राजनीति में ही आये थे। वहीं से सन् १६२७ ई० में किसान-सभा बनाने की ओर झुके। मगर हमारे इस काम में कांग्रेसी साथियों ने और नेताओं ने भी, पहले तो कम पीछे ज्यादा, विरोध किया। पहले वे लोग समझी न सके कि क्या हो रहा है। इसलिये यदि किसी का विरोध भी था तो वह दबा था। पीछे तो जैसे जैसे किसान-सभा मजबूत होती गई वैसे वैसे विरोध भी प्रबल होता गया। यहाँ तक कि इधर कुछ दिनों से कांग्रेस की सारी ताकत सभा के खिलाफ हो गई। हमारे पुराने साथियों में भी बहुतेरे डूब के पानी पीने लगे। वे भी इस आन्दोलन से भयभीत हो गये। मगर हम बढ़ते ही रहे हैं और बढ़ते ही जायँगे यही विश्वास है।

अब तक जो कुछ संस्मरण लिखे गये हैं वे तो मधुर तो हईं। साथ ही पढ़ने वालों के लिये आन्दोलन के भीतर झाँकी का काम देते हैं। जिन्हें कुछ भी किसान-सभा में चसका है उन्हें इनसे काफी हिम्मत और सहायता मिलेगी जिससे काम बढ़ा सकें। वे देखेंगे कि किसान-आन्दोलन कोई फूलों का ताज नहीं है। इसीलिये कमजोर लोग शुरू में ही हिचक जायँगे। यह ठीक ही है। इसमें कितना धोखा है इसकी भी जानकारी पढ़ने वालों को हुए बिना न रहेगी। इससे सच्चे और ईमानदार किसान-सेवकों को खुशी होग और खतरे की जानकारी भी। तभी तो उससे मौके पर बच सकेंगे। अब तक तो सभा की जड़ कायम करनी थी। मगर अब उसे आगे बढ़के असली काम करना है। इसलिये बहुत ढंग के खतरों से खामखाह बचना होगा। इस बात में संस्मरणों से मदद मिलेगी। गरम बातें और नरम काम का खतरा हमें अब ज्यादा है। इसलिये अभी से सजग हो जाना होगा। हमें मन भर बातें नहीं चाहिये। बल्कि बिना उन बातों के यदि केवल काम ही हो और रत्ती भर भी हो तो कोई हर्ज नहीं। उसमें धोखा नहीं होगा। बातें

ता धोखा देती हैं। किसान-सभा का पूरा इतिहास और उस सिलसिले की सारी मुसीबतें मैंने अपनी जीवनी में लिखी हैं।

अन्त में एक बात कह देनी है। हमारी आदत है तारीखें भूल जाने की। ठीक साल और तारीख याद रखी नहीं सकते। इसी तरह स्थानों के नाम भी भूल जाते हैं। ये संस्मरण इस भूल से मुक्त नहीं हो सकते। इसीलिये क्षमा चाहते हैं। हमें इस बात से थोड़ा ढाढ़स मिला जब हमने चीन के महान् कम्यूनिस्ट नेता के बारे में पढ़ा कि वे तारीखें याद रख नहीं सकते हैं। मगर क्षमा तो फिर भी हम चाहते ही हैं।

मुद्रक तथा प्रकाशक—केशवप्रसाद खत्री,
दी इलाहाबाद ब्लाक वर्क्स लि०, इलाहाबाद